श्री गणेश स्मृति ग्रन्थमाला, पुष्पांक—३९

प्रकाशक—
श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन संघ
समता भवन, रामपुरिया मार्ग
बीकानेर (राज०)

प्रथमावृत्ति सन् १९७६

(प्रतियां ५००)

मूल्य—रु० १५

मुद्रक—
जैन आर्ट प्रेस
समता भवन, रामपुरिया मार्ग,
बीकानेर (राज०)

परम श्रद्धेय

चारित्र-चूड़ामणि, बाल-ब्रह्मचारी,

जिनशासन-प्रद्योतक,

समतादर्शन-प्रणेता,

धर्मपाल-प्रतिबोधक

आचार्य श्री नानालाल जी म. सा.

के

पुनीत चरणों में

सादर एवं सविनय समर्पित

प्रकाशकीय

भारतीय कथा-साहित्य में संस्कृत एवं प्राकृत के महान् लेखक व उद्भट विद्वान आचार्य श्री हरिभद्र सूरि रचित **'समराइच्च-कहा'** का अद्वितीय स्थान है। लेखक ने कथा के माध्यम से प्राणी की राग, द्वेष और मोहात्मक प्रवृत्तियो के जन्म-जन्म व्यापी संस्कारो का जो सजीव चित्रण किया है, वह अपने आप में अनूठा है। भाषा और भाव की दृष्टि से भी आचार्य श्री हरिभद्र सूरि की यह कृति अनुपम विशेषता लिए हुए है।

प्राकृत, उत्तर और मध्य भारत की कभी लोक-भाषा थी। आगे चल कर यही अपभ्रंश के रूप मे विकसित हुई, जिसका नवीनतम विकास हिन्दी, गुजराती, राजस्थानी, मराठी, पजाबी, मैथिली, बंगला आदि आर्य-परिवारीय आधुनिक भाषाओ के रूप मे हैं। अतएव भाषा-विज्ञान की दृष्टि से प्राकृत का अध्ययन इन आधुनिक भाषाओ के सदर्भ मे भी अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

'समराइच्च-कहा' प्राकृत भाषा की एक अत्यन्त अनूठी और सरस रचना है। प्राकृत के अध्ययन की दृष्टि से इसका बहुत बडा महत्त्व है। साथ ही तत्कालीन भारतीय समाज, लोक-व्यवस्था, कला-कौशल आदि के अध्ययन की अपेक्षा से भी इसकी असाधारण उपयोगिता है।

भगवान् महावीर की २५ वी निर्वाण-शताब्दी के इन विशिष्ट वर्षों मे शिक्षा के क्षेत्र मे प्राकृत-शिक्षण का एक विशेष स्थान बना है। अनेको विश्वविद्यालयो मे प्राकृत-भाषा का अध्ययन एक स्वतत्र विषय के रूप मे स्वीकृत हुआ है तथा अन्य अनेक परीक्षा-बोर्डों में **समराइच्च-कहा** पाठ्य-क्रम मे गृहीत है। अत. इस दृष्टि से भी इसकी उपयोगिता असदिग्ध है।

इस महान् ग्रन्थ का हिन्दी-अनुवाद सहित परिष्कृत सस्करण प्राप्त नही था, अतः सघ की ओर से इसके प्रकाशन की योजना स्वीकार की गई, जिसके अन्तर्गत ग्र थ के प्रथम दो भव मूल प्राकृत, सस्कृत छाया तथा मूलगामी प्राञ्जल हिन्दी-अनुवाद सहित (एक खण्ड के रूप मे) प्रकाशित किये जा रहे है ।

प्रसन्नता है कि संस्कृत, प्राकृत एवं हिन्दी के प्रौढ विद्वान्, प्राकृत जैन-शोध-सस्थान, वैशाली के भू पू प्राध्यापक डॉ० छगनलाल शास्त्री एम ए पी-एच डी ने इनका विद्वत्तापूर्ण व प्रामाणिक अनुवाद तथा सम्पादन किया है । हम आपके अत्यन्त आभारी हैं । प्रस्तुत ग्र थ की पाण्डुलिपि के अवलोकन एव शुद्धि-करण विषयक सकेत देने मे जिन-शासन-प्रद्योतक, समता-दर्शन-प्रणेता, धर्मपाल प्रतिबोधक, परम पूज्य आचार्य श्री श्री १००८ श्री नानालाल जी म सा के विद्वान् सुशिष्य श्री सुरेन्द्र मुनिजो म सा. एव सुश्रावक श्री रामलाल जी राका का भी अभिनन्दनीय सहयोग रहा है ।

श्री अ भा साधुमार्गी जैन सघ, बीकानेर द्वारा सचालित श्री साधुमार्गी जैन धार्मिक परीक्षा-बोर्ड की शास्त्री परीक्षा मे 'समराइच्च-कहा' पाठ्य-ग्र थ के रूप मे निर्धारित है । परन्तु अब तक इस ग्र थ की अनुपलब्धि अध्ययन एव अध्यापन के मार्ग मे सर्वाधिक अखरने वाली बाधा रही है । भगवान् महावीर की २५ वी निर्वाण-शताब्दी वर्ष के अन्तर्गत प्रकाशन-योजना के अधीन सघ ने इस अनुपलब्ध महान् कृति का चार खण्डो मे प्रकाशन करने का निर्णय लिया है ।

प्रस्तुत प्रकाशन श्री जैन हितेच्छु श्रावक-मण्डल, रतलाम द्वारा सघ को साहित्य-प्रकाशन हेतु प्रदत्त निधि से किया गया है । इस प्रकाशन मे दृष्टिदोष से कोई अशुद्धि रह गई हो तो सुज्ञ पाठक उसकी सूचना हमे अवश्य करने की कृपा करे ताकि आगामी सस्करण मे उसे सुधारा जा सके ।

भवरलाल कोठारी
मत्री
श्री अ. भा साधुमार्गी जैन सघ
बीकानेर (राजस्थान)

प्रस्तावना

भारतीय सस्कृति, दर्शन एव साहित्य के विकास मे जिन मनीषियों ने अपनी महत्त्वपूर्ण कृतियो द्वारा असाधारण योग-दान किया, उनमे आचार्य हरिभद्र सूरि का नाम स्वर्णाक्षरो मे लिखे जाने योग्य है। आचार्य हरिभद्र जहा एक ओर उद्भट दार्शनिक, गम्भीर तत्त्ववेत्ता तथा प्रौढ नैयायिक थे, वहा दूसरी ओर एक महान् कथा-शिल्पी भी थे। जिस पाण्डित्य और कौशल के साथ उन्होने तत्त्व-दर्शन पर लिखा, उसी प्रकार कथाओ के माध्यम से तत्त्व-प्रतिष्ठापन मे भी उनका कम नैपुण्य दिखाई नही देता। यह सब करने का उनका ध्येय एकमात्र लोक-जीवन मे सत्य की स्थापना और तदनुरूप सयम व सदाचार गर्भित जीवन-चर्या को प्रतिष्ठित करना था। यद्यपि वे श्रमण-परपरा के एक गच्छ विशेष के आचार्य थे पर उनका दृष्टिकोण समन्वय एवं सामंजस्य की भावना से ओतप्रोत था। यही कारण है कि उनकी लेखनी से जो कुछ निकला, एक ससीम क्षेत्र से सम्बद्ध होता हुआ भी समग्र मानवता के हित से जुड़ा है। मानवता ही क्यो, उसमे प्राणी मात्र का हित सन्निहित है। यही कारण है कि अत्यन्त उच्च कोटि के गम्भीर तथा अन्त स्पर्शी वाङ्मय के रूप मे जो अमर देन उनकी है, कराल काल अपने भीषण आघातो से उसके अमरत्व को कभी व्याहत नही कर सका, न कभी कर ही सकेगा।

जीवन-वृत्त

अतीत के भारतीय विद्वान्, लेखक, कवि एवं दार्शनिक आदिप्राय· सभी मे हम यह पाते है कि अपने जीवन के सम्बन्ध मे उन्होने प्राय. नही लिखा। लिखा भी तो इतना कम, केवल सकेत मात्र, जिससे

हम उनका इतिवृत्त यथावत् रूप मे जान नही सकते। आचार्य हरिभद्र के साथ भी ऐसी ही स्थिति है । उन्होने अपने ग्रन्थो मे कही भी अपना परिचय नही दिया । कही कही अपने ग्रन्थो को प्रशस्तियो मे थोडा वहुत सकेत किया है । उदाहरणार्थ आवश्यक सूत्र वृहद् वृत्ति की प्रशस्ति मे निम्नाकित शब्दो मे उन्होने अपने विषय मे लिखा है —

"समाप्ता चेय शिष्यहिता नाम आवश्यक-टीका, कृति सिताम्वराचार्यजिनभटनिगदानुसारिणो विद्याधरकुलतिलकाचार्यजिनदत्तशिष्यस्य धर्मतो याकिनीमहत्तरासूनोरल्पमतेराचार्यहरिभद्रस्य ।"

इस उद्धरण से निम्नाकित तथ्य प्रकट होते हैं—

आचार्य हरिभद्र श्वेताम्बर सम्प्रदाय के थे । वे तदन्तर्ग विद्याधर-गच्छ से सम्वद्ध थे । उस समय उस गच्छ के आचार्य जि भट थे । हरिभद्र के दीक्षा-गुरु जिनदत्त सूरि थे । याकिनी महत्त नामक साध्वी की प्रेरणा से उन्हे धर्म-तत्त्व प्राप्त हुआ था । अ उन्हे वे अपनी धर्म-माता मानते थे ।

अहिसा-प्रधान जैन धर्म के क्रियात्मक प्रसार की दृष्टि आचार्य हरिभद्र का जैन इतिहास मे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है उन्होने मेवाड के एक बड़े समुदाय को अहिसक जीवन मे ढालते ह पूर्णत जैन संस्कारो से आप्यायित किया, जो आज पोरवाड जाति नाम से प्रसिद्ध है ।

हरिभद्र के सम्बन्ध मे अन्यान्य उल्लेख

आचार्य हरिभद्र के जीवन-वृत्त के सम्बन्ध मे कतिपय प्राचं एवं अर्वाचीन ग्रन्थो मे भी हमे कुछ सूचनाएं प्राप्त होती हैं । उन मुख्य ये हैं:—

आचार्य भद्रेश्वर द्वारा रचित प्राकृत का 'कहावली' नाम एक प्राचीन ग्रन्थ है । उसके अन्त में आचार्य हरिभद्र का वृत्ता

सक्षेप मे वर्णित हुआ है । आचार्य भद्रेश्वर का ठीक समय तो अन्ततः निश्चित नही हो सका है पर गवेषक विद्वानो का अनुमान है कि वे सभवतः विक्रम की बारहवी शती से पश्चाद्वर्ती नही थे ।

आचार्य मुनिचन्द्र द्वारा विरचित उपदेश-टीका की प्रशस्ति (ई० सन् ११७४) मे आचार्य हरिभद्र का वर्णन आया है ।

सुमति गणी द्वारा रचित गणधर-सार्द्ध-शतक की वृहद् व्याख्या (वि. सं. १२९५) मे इनके जीवन-वृत्त के सम्बन्ध मे कुछ उल्लेख है ।

आचार्य प्रभाचन्द्र रचित प्रभावक-चरित (वि. स. १३३४) का नवम प्रवन्ध आचार्य हरिभद्र सूरि के इतिवृत्त सम्बन्धी सामग्री की दृष्टि से विशेष रूप से उल्लेखनीय है । उसका शीर्षक भी यही है । राजशेखर सूरि का प्रवन्ध-कोश नामक एक ग्रन्थ (वि. स १४०५) है । उसे चतुर्विशति प्रवन्ध भी कहा जाता है । उसमे भी आचार्य हरिभद्र का वृत्तान्त दिया गया है ।

पाश्चात्य विद्वान् ज्यो ज्यो भारतीय विद्याओ के सम्पर्क में आये, उन्होने जैन विद्वानो की कृतियो का भी परिचय प्राप्त किया । पाश्चात्य विद्वानो मे प्रो. पी. पिटर्सन (Prof P Peterson) पहले व्यक्ति थे, जिन्होने उपमितिभवप्रपञ्चकथा के रचयिता आचार्य सिद्धर्षि के सम्वन्ध मे लिखते हुए आचार्य हरिभद्र का भी उल्लेख किया ।

तदनन्तर प्रो जे क्लत्त (Prof J. Klatt), ई० ल्युमन (E Leumann), डॉ एच जैकोबी (Dr. H. Jacobi), ए बेल्लिनि (A Ballini) तथा एन मिरोनो (N. Mironow) आदि विद्वानो ने भी प्रसगोपात्त रूप मे आचार्य हरिभद्र सूरि के सम्वन्ध मे यत्र तत्र उल्लेख किया है । इनमे डॉ. एच. जैकोबी ने इस सम्बन्ध मे जो गवेषणात्मक प्रयत्न किया, वह वस्तुतः वर्द्धापनीय है । बाद मे डॉ जैकोबी ने आचार्य हरिभद्र रचित 'समराइच्च कहा' का सम्पादन भी किया ।

कुल-परंपरा एवं निवास

प्राचीन लेखको ने आचार्य हरिभद्र के सम्वन्ध मे जो लिखा है, एक को छोडकर प्राय· सभी के अनुसार इनका जन्म-स्थान चित्र-कूट (चित्रकूट-चित्रऊड-चित्तोड या चित्तौड) या चित्तौड है । कहा-वलीकार भद्रेश्वर ने इनका जन्म-स्थान पिवंगुई बभपुणी लिखा है । इन दोनो शब्दो से किसी स्थान-विशेप का स्पष्ट निर्देश समझ मे नही आता । वंभपुणी से ब्रह्मपुरी का कुछ सकेत मिलता है । इतिहास-वेत्ताग्रो के अनुमार चित्तौड के किले की स्थापना से पूर्व वहां से उत्तर मे पाच-छ. मील की दूरी पर माध्यमिका नाम की नगरी थी, जिसके भग्नावशिप्ट चिह्न आज भी प्राप्त होते हैं । कहा जाता है, वह शिवि जनपद की राजधानी थी । वह कभी साहित्य, सस्कृति एव धर्म के विशिष्ट केन्द्र के रूप मे प्रतिष्ठित थी । वैदिक, जैन तथा बौद्ध तीनो सांस्कृतिक परपराओं के स्रोत वहा प्रवहणशील थे । इतिहासकारो के अनुसार चित्राङ्गद नामक मौर्य राजा अपनी राजधानी माध्यमिका से चित्रकूट ले आया । हो सकता है, सुरक्षा की अधिक अनुकूलता आदि कुछ कारण रहे हो, जिससे उसने ऐमा किया हो। ऐसा सभाव्य है, वंभपुणी या ब्रह्मपुरी का सम्वन्ध माध्यमिका या चित्तौड मे से किसी एक से रहा हो या दोनो के मध्य मे स्थित किसी ब्राह्मण-वस्ती से रहा हो । 'णाय धम्म-कहाओ' जैसे प्राचीन ग्रन्थो से यह प्रकट है कि प्राचीन काल मे भारत मे नगरो मे भिन्न-भिन्न जातियो के लोगा की अलग-अलग वस्तिया होती थी । अस्तु, जैसा भी रहा हो, लिखने का साराश यह है कि आचार्य हरिभद्र ने वीर-प्रसविनी चित्तौड को पावन धरा को अपने जन्म से महिमान्वित किया ।

कहावली मे हरिभद्र के माता-पिता आदि के सम्वन्ध में इस प्रकार उल्लेख हुआ है—

"मकरो नाम भट्टो । तस्स गगा नाम भट्टिणी । तिसे हरि-भद्दो नाम पडिओ पुत्तो ।"

इस उल्लेख के अनुसार हरिभद्र के पिता का नाम शंकर भट्ट और माता का नाम गगा था। यहा हरिभद्र के पिता शकर के साथ प्रयुक्त भट्ट विशेषण तथा हरिभद्र के साथ प्रयुक्त पण्डित विशेषण से यह प्रकट होता है कि वे जाति से ब्राह्मण थे।

गणधर सार्द्धशतक की वृहद् व्याख्या मे सुमति गणी ने हरिभद्र को स्पष्टतया ब्राह्मण लिखा है। वहा कहा गया है.—

"एवं सो पंडित्तगव्वमुव्वहमाणो हरिभद्दो नाम माहणो।"

अर्थात् इस प्रकार पाण्डित्य का गर्व वहन करने वाला वह हरिभद्र नामक ब्राह्मण था।

प्रभावक-चरित मे प्रभाचन्द्र ने हरिभद्र को राजा का पुरोहित बतलाया है। वहां उल्लेख है:—

अतितरलमतिः पुरोहितोऽभूत्।
नृपविदितो हरिभद्रनामदित्तः॥

इन उल्लेखो से यह सिद्ध होता है कि हरिभद्र का जन्म ब्राह्मण-वंश मे हुआ था, वे राजपुरोहित थे, दर्पोन्नत पण्डित थे।

समय

पुरावर्ती लेखको के अनुसार आचार्य हरिभद्र का स्वर्गवास विक्रम सवत् ५८५ मे हुआ। ऐतिहासिक दृष्टि से आचार्य हरिभद्र के समय के सम्वन्ध मे विद्वानो ने काफी ऊहापोह किया है। पुरातत्त्व के प्रख्यात विद्वान् एवं अन्वेष्टा श्री जिनविजय जी ने इस सम्वन्ध मे प्राप्त सामग्री के आधार पर अनेक दृष्टियो से सूक्ष्म गवेषणा की। उनके अनुसार आचार्य हरिभद्र का समय ईसवी सन् ७००-७७० तदनुसार विक्रम संवत् ७५७ से ८२७ है। प्रायः अधिकाश विद्वान् इसी को प्रामाणिक स्वीकार करते हैं।

विद्याध्ययन

हरिभद्र की विद्वत्ता की प्रशस्ति तो अनेक जगह संकेतित है, उदाहरणार्थ उपदेशपद की टीका मे उन्हे गृहस्थावस्था मे (जैन दीक्ष से पूर्व) आठ व्याकरणो का विशिष्ट अध्येता तथा सभी धर्मो के अनुयायियो द्वारा स्वीकृत तर्क-शास्त्र (न्याय-शास्त्र की विभिन्न परपराओ) के ज्ञाताओ मे अग्रगण्य कहा है पर इतना विद्याध्ययन कहा किया, किससे किया इत्यादि कुछ भी विवरण उपलब्ध नही है।

जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है, एक सम्भ्रान्त ब्राह्मण कुल मे, वह भी राज-पुरोहित के घर मे जन्म लेने के कारण यह बहुत संभव है कि उन्होने सस्कृत के माध्यम से व्याकरण, साहित्य, न्याय, दर्शन, वेद, पुराण, धर्मशास्त्र, ज्योतिष आदि अनेक विषयो का गम्भीर अध्ययन किया हो। युवा होते-होते वे अत्यन्त प्रौढ विद्वान् हो गये हो। उनके सम्बन्ध मे प्रचलित है कि उन्हे अपनी विद्या का इतना गर्व हो चला था कि उन्होने प्रतिज्ञा करली कि जिस किसी के द्वारा बोला हुआ वाक्य यदि वे नही समझ सकेंगे तो वे उससे उसका अर्थ जान उसके शिष्य हो जायेंगे। इस प्रतिज्ञा से ऐसा प्रतीत होता है कि उनको अपने सम्बन्ध मे धारणा थी कि ऐसा कोई वाक्य नही हो सकता, जिसे वे नही समझ सकते।

एक विचित्र संयोग

कहा जाता है कि एक बार राजा का मदोन्मत्त हाथी खंभे को उखाड कर नगर मे बुरी तरह भागने लगा। अनेक व्यक्ति उसकी चपेट मे आकर कुचले जाने लगे। संयोगवश हरिभद्र उधर से निकल रहे थे। बचाव के लिए उन्होने इधर-उधर देखा तो केवल एक जैन भवन उनकी दृष्टि मे आया। वे भागकर वहा चले गये। वहा एक जैन साध्वी को शास्त्र-पाठ करते सुना। वह निम्नाङ्कित गाथा का उच्चारण कर रही थी:—

"चक्किदुगं हरिपरणगं परणग चक्कीरण केसवो चक्की ।
केसव-चक्की केसव-दुचक्की केसी अ चक्की अ[1] ।।"

सहसा हरिभद्र के सामने एक नई वस्तु आई और अपनी प्रतिज्ञा की याद भी । उन्होने मन ही मन इस गाथा का तात्पर्य समझने का प्रयास किया पर कुछ भी समझ मे नही आया । तब वे साध्वी से उपहास के स्वर मे कहने लगे—आप क्या चकचकाहट कर रही हैं ? इन पदो का कुछ अर्थ तो है ही नही । साध्वी अत्यन्त सरलता और मृदुता से कहने लगी—भाई ! नये नये को ऐसा ही लगता है । आप पढ लिखकर अभी नये निकले हैं, तभी ऐसा कह रहे हैं । यह जैन आगमिक गाथा है और इसका अपना अर्थ है । तब हरिभद्र ने उनसे अर्थ बताने का अनुरोध किया । उन्होने कहा—अर्थ समझने के लिए गुरु खोजना होगा । हरिभद्र सत्यनिष्ठ थे, अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार साध्वी से उन्होने अपने को शिष्य बनाने की प्रार्थना की । साध्वी ने उन्हे अपने गुरु के पास दीक्षित होने का सकेत किया । हरिभद्र उनके गुरु के पास उपस्थित हुए, उनसे उक्त गाथा का अर्थ समझा तथा उनके पास प्रव्रजित हो गये ।

इस घटना क्रम के सन्दर्भ मे ऐसा भी कहा जाता है कि हरिभद्र जब पूर्वोक्त गाथा का अर्थ नही समझ सके तो उन्होने उक्त साध्वी से उसका अर्थ पूछा । साध्वी ने गाथा की निम्नाकित रूप मे व्याख्या की —

अनुक्रम से दो चक्रवर्ती, पाच वासुदेव, पांच चक्रवर्ती, एक वासुदेव, एक चक्रवर्ती, एक वासुदेव, एक चक्रवर्ती, एक वासुदेव, दो चक्रवर्ती, एक वासुदेव तथा एक चाक्रवर्ती होते हैं ।

हरिभद्र साध्वी से बहुत प्रभावित हुए और उन्हें अपना शिष्य बनाने का अनुरोध करने लगे । साध्धी ने उन्हे प्रव्रजित होने के लिए

१. आवश्यक निर्युक्ति गाथा ४२१

अपने गुरु के पास भेजा । हरिभद्र उनके गुरु के पास गये और उनसे प्रव्रज्या स्वीकार की ।

कृतज्ञता की पराकाष्ठा

हरिभद्र को इस ओर मुड़ने की प्रेरणा उक्त साध्वी से प्राप्त हुई थी, जिनका उन्होने अपने लिए जीवन भर वडा उपकार माना । साध्वी का नाम याकिनी महत्तरा था । हरिभद्र ने उन्हे अपनी धर्म-माता के रूप में स्वीकार किया और उन्हे जहा कही भी अपना परिचय देना अपेक्षित लगा, उन्होने वड़े गौरव के साथ अपने आपको याकिनी महत्तरा के (धर्म) पुत्र के रूप मे प्रस्तुत किया ।

आवश्यक सूत्र वृहद्वृत्ति की प्रशस्ति का जो उद्धरण पहले यथाप्रसंग उपस्थित किया गया है, वहा आचार्य हरिभद्र के नाम के साथ 'याकिनीमहत्तरासूनु' विशेषण है ही, अन्यत्र भी इसी प्रकार के उल्लेख प्राप्त होते हैं । उपदेश पद की प्रशस्ति मे उन्होने निम्नाकित शब्दावली मे अपना परिचय दिया है:—

"जाइणिमयहरिआए रइआ एए उ धम्मपुत्तेण ।
हरिभद्दायरिएण भवविरह इच्छमाणेण ॥"
(याकिनीमहत्तराया रचिता एतेन तु धर्मपुत्रेण ।
हरिभद्राचार्येण भवविरह मिच्छता ॥)

दशवैकालिक सूत्र वृहद्वृत्ति के अन्त मे इस प्रकार उल्लेख है.—

"महत्तराया याकिन्या धर्मपुत्रेण चिन्तिता ।
आचार्यहरिभद्रेण, टीकेयं शिष्यवोधिनी ॥"

पञ्चसूत्र विवरण की प्रशस्ति मे भी इसी आशय का उल्लेख है —

'विवृत च याकिनीमहत्तरासूनुश्रीहरिभद्राचार्य. ।"

इन उल्लेखो से स्पष्ट है कि हरिभद्र स्वभावतः वहुत ही गुण-ग्राही पुरुष थे ।

भव-विरहः एक विश्लेषण

आचार्य हरिभद्र के नाम के साथ एक विशेषण और प्रयुक्त होता रहा है। वह है 'भव-विरह' या आचार्य ने स्वयं अपनी अनेक कृतियों में अपने आपको 'भव-विरह' की इच्छा करने वाले के रूप मे ख्यापित किया है। उदाहरणार्थ उपदेश-पद की प्रशस्ति की जो प्राकृत-गाथा ऊपर यथा-प्रसंग उद्धृत की गई है, उसमे 'भव-विरह' का इसी अभिप्राय से प्रयोग हुआ है। सुप्रसिद्ध जैन विद्वान् एवं लेखक पं कल्याण विजयजी ने धर्म-संग्रहणी की प्रस्तावना मे हरिभद्र-रचित उन उन ग्रन्थो की प्रशस्तियों को उद्धृत किया है, जिनमे 'भव विरह' शब्द का प्रयोग हुआ है। वे ग्रन्थ इस प्रकार है.—

अष्टक, धर्मविन्दु, ललितविस्तरा, पच-वस्तुटीका, शास्त्रवार्ता समुच्चय, योगदृष्टिसमुच्चय, षोडशक, अनेकान्तजयपताका, योगविन्दु, संसार-दावानलस्तुति, धर्मसग्रहणी, उपदेशपद, पञ्चाशक तथा सम्बोधप्रकरण।

आचार्य हरिभद्र का यह नाम इतना प्रसिद्ध हो गया कि उनके समकालीन व पश्चाद्वर्ती अनेक लेखको ने जहा उनकी चर्चा की हैं, उनके नाम के साथ 'भवविरह' शब्द का भी प्रयोग किया है। कहा-वलीकार भद्रेश्वर ने अपनी कृति मे उनकी भवविरह सूरि के नाम से वार बार चर्चा की है। कुवलयमाला मे उद्योतन सूरि ने 'भवविरह' विशेषण के साथ आचार्य हरिभद्र को सादर स्मरण किया है।

आचार्य हरिभद्र का 'भव-विरह' उपनाम क्यो पड़ा, इस सम्वन्ध मे कई प्रकार के कथानक प्रचलित हैं।

कहावली में उल्लेख किया गया है कि जब याकिनी महत्तरा हरिभद्र को अपने गुरु जिनदत्त सूरि के पास ले गई, तव वहां वार्ता-लाप के मध्य एक ऐसा प्रसंग बना कि हरिभद्र ने 'भवविरह' शब्द को स्वायत्त कर लिया। बात यों हुई-आचार्य जिनदत्त सूरि ने उन्हे 'चक्कि-दुगं.......' आदि—गाथा का अर्थ बता दिया और साथ ही साथ उन्हे

कहा कि तुम याकिनी के धर्म-पुत्र हो। इस पर हरिभद्र ने आचार्य से धर्म की जिज्ञासा की, उसका फल पूछा। जिनदत्त सूरि ने बताया कि धर्म की आराधना सकाम और निष्काम दोनो प्रकार से की जाती है। सकाम धर्म से स्वर्ग, लौकिक ऐश्वर्य, प्रभुता आदि प्राप्त होते हैं तथा निष्काम धर्म से भव-विरह, संसार से विरह, जन्म-मरण से छुटकारा, मोक्ष प्राप्त होता है। इस पर हरिभद्र ने कहा कि मुझे तो भगवन्! भव-विरह ही प्रिय लगता है अर्थात् मैं तो मोक्ष ही पसन्द करता हूँ। अस्तु हरिभद्र ने वैराग्यपूर्वक जिनदत्त सूरि के पास जैन दीक्षा स्वीकार करली। उनके दीक्षा-ग्रहण करने का उद्देश्य भव-विरह, सासारिक आवागमन से छूटना या मुक्त होना था। अत: उन्होने अपने लिए यह (भवविरह) उपनाम उत्साहपूर्वक स्वीकार कर लिया।

आचार्य हरिभद्र का 'भवविरह' नाम पडने के सम्बन्ध मे एक घटना यह भी मानी जाती है कि कोई भक्त-श्रावक जब आचार्य हरिभद्र के पास आकर उन्हे वन्दन-प्रणमन करता तो वे उसे श्वेताम्बर समाज मे प्रचलित आशीर्वाद पद्धतियो के स्थान पर "भव विरह" का प्रयोग किया करते थे। इसका आशय है यह था कि हे भव्य मुमुक्षु! तुम्हारा भव भ्रमण रूप ससार से विरह छुटकारा हो। आशीर्वाद पाने वाला व्यक्ति उन्हें भवविरह सूरि! आप दीर्घायु हो, ऐसा उत्तर मे कहता। कहावली मे इसका और अधिक विस्तार करते हुए लिखा गया है। इसके अनुसार लल्लिग नामक एक व्यापारी गृहस्थ था, जो आचार्य हरिभद्र के प्रति बहुत आदर एव श्रद्धा रखता था। मूलतः वह निर्धन था पर क्रमश. उसका धन बढता गया। वह सम्पत्तिशाली हो गया। तब वह खुले हाथो दान देने लगा। वह साधुओ की भिक्षा के समय हमेशा शंख बजाता ताकि जो भी भूखे-प्यासे होते, वहा आ जाते। शख इसी का सूचक था। वह उन्हें भोजन कराता। इसका अभिप्राय यह है कि लल्लिग के मन मे आतिथ्य एव करुणा का विशेष भाव था, इसलिए वह सोचता कि साधुओ को वह भिक्षा देता है, यह तो उसका

विशेप कर्तव्य है ही पर गाव के पास से भी कोई भूखा-प्यासा न गुजर जाए, एक गृहस्थ के नाते यह भी उसका धर्म है। भोजन-शाला में भोजन करने के पश्चात् वे लोग आचार्य हरिभद्र को नमस्कार करने आते। आचार्य उन्हे "तुम भव-विरह प्राप्त करो" अर्थात् तुम मोक्षोन्मुख वनो, ऐसा आशीर्वाद देते। समागत जन आचार्य को "भवविरह सूरि! आप दीर्घ काल तक जीवित रहे," यो कहकर चले जाते। इस प्रकार उनका 'भवविरह' या 'भवविरह सूरि' नाम विख्यात हो गया।

लल्लिग का अद्‌भुत कार्य

आचार्य हरिभद्र ने अपने को सम्पूर्णत ग्रन्थ-रचना मे लगा दिया। वे अहर्निश इस ओर व्यस्त रहते। उस समय आज की तरह कागज आदि लिखने के साधन सुलभ नही थे। पहले कच्चा लेखन (Rough Writing) पाटी या दीवाल पर किया जाता। जव उसे सशोधन, परिष्कार आदि के बाद अन्तिम रूप दे दिया जाता, तव अन्तत. उसे ताड-पत्र पर लेखक लिखते। हरिभद्र जैन परपरा के श्रमण थे। यदि उन्हे रात्रि में लिखना होता तो वे जैन साधुओ की आचार परपरा के अनुसार दीपक आदि उपयोग मे नही ले सकते थे। लल्लिग ने एक मार्ग निकला। कहावली मे इस प्रसग मे उल्लेख है कि लल्लिग ने अपने पास सगृहीत रत्नो मे से एक उच्च जाति का (वहुत उत्कृष्ट) रत्न आचार्य के आवास-स्थान मे रख दिया, जिसके प्रकाश से रात्रि मे भी आचार्य दीवाल या पट्टी आदि पर ग्रन्थ-रचना करते रहते थे।

पं. सुखलालजी ने इस सम्वन्ध मे चर्चा करते हुए लिखा है कि शायद वह रत्न हीरा रहा हो अथवा वैसा ही कोई अन्य रत्न रहा हो या उसी प्रकार की कोई दूसरी निर्दोष वस्तु रही हो, जिससे आचार्य प्रकाश का काम ले लेते और अपना लेखन जारी रखते। श्रावक लल्लिग ने आचार्य हरिभद्र के लिए जो यह व्यवस्था की, विद्वानो ने उसे बड़ा महत्त्वपूर्ण माना है।

साहित्य-सर्जन

आचार्य हरिभद्र सूरि दिग्गज पाण्डित्य के धनी एवं महान् प्रतिभाशाली लेखक थे। उन्होंने बहुत लिखा और जो कुछ लिखा, अत्यन्त महत्व का लिखा, जिसमे चिन्तन की गहराई और वैदुष्य की प्रखरता का अद्भुत सयोग है। द्रव्यानुयोग, गणितानुयोग, चरणकरणानुयोग तथा धर्मकथानुयोग प्रभृति विषयो पर उनकी जो रचनाएं प्राप्त हैं, वे उनके सूक्ष्मातिसूक्ष्म चिन्तन, उर्वर प्रतिभा और गहन अध्ययन की द्योतक हैं। उनकी रचनाओ का वैविध्य, गाम्भीर्य तथा प्राचुर्य देख सहसा यह कल्पना करना कठिन होगा कि एक व्यक्ति इतने विषयो पर एक-सी सफलता के साथ ग्रन्थ-प्रणयन कर सकता है? पर यह असन्दिग्ध है, उन्होने यह सब किया और यथावत् किया।

आचार्य हरिभद्र सूरि ने साहित्य-सर्जन का महान् कार्य तो किया ही, तत्कालीन (चैत्यवासी) जैन साधु-सघ मे व्याप्त शिथिलाचार के विरुद्ध भी उन्होने प्रबल क्रान्ति की। उस समय इन साधुओ का चारित्रिक ढांचा किस प्रकार ढहता जा रहा था, यह उन (आचार्य हरिभद्र) द्वारा रचित सम्बोध-प्रकरण के निम्नाकित उद्धरणो से स्पष्ट है:—

"वे (साधु) तरह तरह के रग-विरगे, सुन्दर, धूपवासित वस्त्र पहनते हैं। जिस गण (साधु-सघ) मे ऐसा होता है, उस गण के साधुओ में मूल गुण ही नही रहता।

वे स्त्रियो के सम्मुख गाते हैं, अट-सट बोलते हैं, मानो बिना नाथ के (अनियन्त्रित) बैल हो।

वे अशुद्ध आहार ग्रहण करते हैं। पानी, फल, फूल आदि सचित्त पदार्थ, स्निग्ध व मधुर पदार्थ तथा लौंग, पान आदि का सेवन करते हैं। नित्य दो-तीन बार भोजन करते हैं।

वे चैत्य, मठ आदि मे निवास करते हैं, पूजा मे आरंभ-

सभारंभ करते हैं, देव-द्रव्यों का भोग करते हैं, जिन-गृह और शाला आदि का निर्माण कराते हैं।

वे ज्योतिष बतलाते हैं, भविष्य-कथन करते हैं, चिकित्सा करते हैं, मन्त्र-टोना-टोटका आदि करते हैं। जो ये कार्य पाप-जनक हैं, नरक के हेतु हैं।

वे धन के लोभ से गृहस्थों के आगे अंग (आचारांग आदि) शास्त्रो का प्रवचन करते है। वस्त्र, उपकरण, पात्र और द्रव्य का गृहस्थों के यहां अपने लिए संग्रह करते हैं। भला उन्हे कौन मुनि कहेगा?

गृहस्थों के आगे वे (प्रदर्शन के लिए) स्वाध्याय करते हैं, परस्पर (साधु-साधु) झगडते रहते हैं और शिष्य आदि के लिए कलह तथा विवाद करते रहते हैं।

अधिक क्या कहा जाए, अज्ञानियों को वे भले मालूम होते हैं, पर विज्ञ जन जानते हैं कि वे धर्म के विराधक है, पाप के कीचड़ में फंसे हैं।

अज्ञानी जन कहते हैं कि यह भी वेष तो तीर्थंकरों का है, इसलिए नमनीय है। उन्हे (वैसा कहने वालो को) धिक्कार है। मैं इस वेदना की पुकार किसके आगे करूं ?"[1]

---

१. वत्थाइ विविहवण्णाई अइसियसद्दाइं धूववासाइं।
परिहिज्जइ जत्थ गणे त गच्छं मूलगुणमुक्क ॥ ४६ ॥
अन्नत्थियवसहा इव पुरओ गायति जत्थ महिलाण।
जत्थ जयारमयार भणंति आल सय दिंति ॥ ४९ ॥
संनिहिमाहाकम्म जलफलकुसुमाइ सव्वसच्चित्त।
निच्च दुतिवारं भोयण विगइलवंगाइ तबोल ॥ ५७ ॥
चेइयमढाइवासं पूयारंभाइ निच्चवासित्तं।
देवाइदव्वभोगं जिणहरसालाइकरणं च ॥ ६१ ॥

जैन मुनि का जीवन, जिसकी मूल भित्ति चारित्र्य-अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह का सर्वांगीण आचरण है, यदि ऐसा हो जाए तो क्या शोचनीय नही है ? आचार्य हरिभद्र सूरि जैसे मनीषी और मनस्वी को यह कैसे सहन होता ? फलतः उन्होने संयम-प्रतिकूल, अवाञ्छित प्रवृत्तियो के लिए तथाकथित साधुओ को वहुत कोसा । उनकी एक ही भावना थी कि साधु-सघ चारित्र्य की दृष्टि से पवित्र और उज्ज्वल रहे । इसके लिए वे जीवन भर जूझते रहे ।

रचना-परिमाण

आचार्य हरिभद्र द्वारा रचित साहित्य के परिमाण के सम्वन्ध मे अनेक प्रकार के मन्तव्य प्रचलित हैं । अभयदेव सूरि, मुनिचन्द्र और वादिदेव सूरि ने क्रमशः पचाशक-टीका, उपदेशपद-टीका तथा स्याद्-वाद-रत्नाकर मे यह उल्लेख किया है कि आचार्य हरिभद्र ने १४००

नरयगइहेउ जोइसनिमित्ततेगिच्छमतजोगाइ ।
मिच्छत्तराय सेवं नीयाण वि पावसाहिज्ज ।। ६३ ।।
मयकिच्चजिणपूयापरूवण मवधणाण जिणदाणे ।
गिहिपुरओ अगाइपवयणकहुण घणट्ठाए ।। ६८ ।।
वत्थोवगरणपत्ताइ दव्वं नियनिस्सएण सगहिय ।
गिहि गेहमि यजेंसि ते किणिणो जाण न हु मुणिणो ।। ८१ ।।
गिहिपुरओ सज्झाय करति अण्णोण्णमेव झूझति ।
सीसाइयाण कज्जे कलहविवाय उइरें ति ।। १६२ ।।
किं वहुणा भणिएणं वालाण ते हवति रमणिज्जा ।
दक्खाण पुण एए विराहगा छन्नपावदहा ।। १६३ ।।
वाला वयति एव वेसो तित्थंकराण एसो वि ।
णमणिज्जो घिद्धी अहो सिरसूल कस्स पुक्कारिमो ।। १७६ ।।

(सम्वोध-प्रकरण)

प्रकरणों की रचना की । राजशेखर सूरि ने प्रवन्ध-कोष में हरिभद्र द्वारा १४४० प्रकरणों के रचे जाने का उल्लेख किया है। विजयलक्ष्मी सूरि ने अपने द्वारा रचित उपदेश-प्रासाद में आचार्य हरिभद्र को १४४४ प्रकरणों का रचनाकार कहा है।

आचार्य हरिभद्र द्वारा रचे गये साहित्य का यह जो परिमाण वताया गया है, इसके सम्वन्ध में कोई स्पष्ट तथ्य सामने नही आया है । प्रकरण शव्द ग्रन्थ का द्योतक है या परिच्छेद का, यह भी कुछ स्पष्ट नही है । वैसे यह ग्रन्थ का ही द्योतक होना चाहिए परन्तु यदि इसे प्रकरण का द्योतक मानें तो भी इस संख्या तक हरिभद्र रचित ग्रन्थो के प्रकरण, अध्याय या परिच्छेद भी नही पहुच सकते । फिर भी विपय गवेषणीय है कि इस रूप मे जो प्रकरण-सख्या का उल्लेख किया गया है, उसका कुछ न कुछ कारण अवश्य होना चाहिए । अभी लगभग सौ के आसपास छोटे-वडे ग्रन्थ ज्ञात हो सके हैं, जो हरिभद्र-रचित माने जाते हैं । उनमे भी यदि छटाई की जाए तो प्राप्य, अप्राप्य लगभग पचास ग्रन्थ ऐसे हैं, जिन्हे हरिभद्र-रचित माना जाना शंकास्पद नही है ।

आचार्य हरिभद्र-रचित ग्रन्थो को मोटे तौर पर तीन भागों मे वाट सकते हैं—

१ आगामो की व्याख्याएं।
२ धर्म व दर्शन ।
३. कथा-कृतिया ।

जैसा कि पहले उल्लेख किया गया है, आचार्य हरिभद्र असाधारण प्रतिभा के धनी थे । तभी तो यह संभव हो सका कि आगमो की व्याख्या मे जहां उनकी लेखनी अप्रतिहत रूप मे चली, दर्शन के गम्भीर विवेचन में भी उस (लेखनी) ने अपना असामान्य सामर्थ्य दिखलाया तथा कथाओं की रचना मे भी उसनें लोकजनीनता, सहजता, सुकुमारता और सुरुचिकारिता का विलक्षण परिचय दिया ।

आगमों के प्रथम टीकाकार

जैन आगमों पर संस्कृत में टीका रचने वाले ये सबसे प्रथम विद्वान् हैं। इन द्वारा प्रणीत आवश्यक वृहद् वृत्ति, दशवैकालिक वृहद् वृत्ति आदि के परिशीलन से स्पष्ट है कि भाषा की प्राञ्जलता, आगमगत दुरवगाह विषयों का सरलता से विशदीकरण, शैली की प्रौढता आदि अनेक दृष्टियों से उनकी टीकाएं महत्त्वपूर्ण एवं मार्मिक हैं।

दर्शन व योग पर रचनाएं

आचार्य हरिभद्र ने अनेकान्त पर अनेकान्तवादप्रवेश तथा अनेकान्तजयपताका नामक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ रचे, जो अनैकान्तिक दृष्टि-विन्दु का हार्द युक्तियुक्त सरणि द्वारा प्रस्तुत करते हैं। दर्शन-जगत् में वस्तुत. इन ग्रन्थों का बड़ा महत्त्व है। इनके अतिरिक्त षड्दर्शन समुच्चय नामक इनका एक प्रसिद्ध ग्रन्थ है, जिसमे उन्होने छओं दर्शनों का विवेचन किया है।

आचार्य हरिभद्र जैन योग के प्रथम सकलयितृ या पुरस्कर्ता थे। दूसरे शब्दो में जैन योग साहित्य के वे आदि-प्रणेता थे। योग पर उन्होने योग दृष्टि समुच्चय, योग विन्दु, योग शतक तथा योगविंशिका नामक चार ग्रन्थ रचे, जिनमे प्रथम दो संस्कृत में तथा अन्तिम दो प्राकृत मे हैं। इन ग्रन्थों मे जैन दृष्टिकोण से योग का जो तात्त्विक और सार्वजनीन विश्लेषण हुआ है, वह वस्तुत: स्तुत्य है।

आचार्य हरिभद्र वौद्ध दर्शन के भी मार्मिक विद्वान् थे। सुप्रसिद्ध वौद्ध आचार्य दिङ्नाग कृत न्यायप्रवेश पर टीका लिखकर उन्होंने जैन विद्वानो के लिए वौद्ध-न्याय के परिशीलन का मार्ग प्रशस्त किया।

महान् कथा-शिल्पी

आचार्य हरिभद्र प्राकृत-वाङ्मय के अत्यन्त सफल एव महान्

कथा–शिल्पी हैं । कथाओं के माध्यम से गम्भीर तथ्यो को आत्मसात् करा देने की उनकी शैली वास्तव मे बेजोड़ है । नही प्रतीत होता कि वे तत्त्व–विश्लेपण की कडवो औषधि पिला रहे हैं, यों लगता है, मानो कथा के मधुर रस–निःस्यन्द के साथ तत्त्व–महौषधि इस रूप मे घुली–मिली है कि उसे आत्मसात् करना यत्नसाध्य नही होता, सहज–साध्य होता है ।

जैन वाङ्मय में कथाओं का स्रोत

जैन धर्म प्रारंभ से ही अधिकाधिक लोकजनीन रहा है । धर्म का सन्देश केवल अभिजात–वर्ग तथा सम्भ्रान्त जन–समुदाय तक ही न पहुंचे प्रत्युत मानव–मानव तक वह प्रसृत हो, इस ओर जैन तीर्थंकरों, आचार्यों तथा उपदेशको का सदैव ध्यान रहा है । यही कारण है कि उन्होंने सार्वजनीन उपदेश के निमित्त उन्ही भाषाओ को स्वीकार किया, जिन्हे लोग सरलता से समझ सकें । जैन आगामो में, जो उपलब्ध धर्म-प्रवचनों या उपदेशो मे प्राचीनतम है, प्राकृत का स्वीकार इसे पुष्ट करता है ।

भाषा की सरलता की तरह विवेचन को भी सरल, हृदयग्राही व सुबोध्य वनाने के लिए जैन आगम–साहित्य मे कथाओ का प्रचुर प्रयोग हुआ है । आगामो के भाष्यो, निर्युक्तियो, चूर्णियों, वृत्तियो आदि में भी लेखकों ने अपने विश्लेषण को प्राणवान् वनाने के लिए स्थान–स्थान पर कथाओ का प्रयोग किया है । आचार्य हरिभद्र इसी परम्परा के मनीषी थे । यही कारण है कि उन्होंने उच्च कोटि के गम्भीर दार्श-निक ग्रन्थो की रचना के साथ साथ कथा–साहित्य का भी महत्त्वपूर्ण सर्जन किया ।

आचार्य हरिभद्र द्वारा रचित कथा-कृतियां

आचार्य हरिभद्र द्वारा रचित दो प्रकार का कथा–साहित्य हमे प्राप्त होता है । एक वह है, जो आगमों की व्याख्या के सन्दर्भ मे

उन्होंने प्रस्तुत किया । यहां यह ज्ञातव्य है कि आगामों का व्याख्या–भाग जहा संस्कृत मे है, तत्सम्वद्ध कथा–भाग अधिकांशत' प्राकृत में है । आचार्य हरिभद्र के साथ एक सीमा तक इसी प्रकार की स्थिति है । इससे इन लेखको की लोकजनीन मनोवृत्ति का हमें स्पष्ट परिचय प्राप्त होता है । आचार्य हरिभद्र का समय अपभ्रंशो का समय था, जो प्राकृतो से वहुत दूर नही थे, उन्ही से उद्भूत थे ।

हरिभद्र द्वारा लिखित व्याख्या–गत प्राकृत–कथाएं हमें मुख्यतः दो स्थानो पर मिलती है—दशवैकालिक–वृहद्वृत्ति मे तथा उपदेशपद में । दशवैकालिक की वृहद् वृत्ति मे लगभग तीस महत्त्वपूर्ण प्राकृत–कथाएं हैं और उपदेश–पद मे सत्तर ।

आचार्य हरिभद्र की दूसरी कथा–कृतियां वे हैं, जो स्वतन्त्र ग्रन्थो के रूप मे हैं । वे दो हैं—समराइच्च–कहा तथा धूर्ताख्यान । समराइच्च–कहा पर यहा हम कुछ विचार कर रहे हैं ।

समराइच्च–कहा का महत्त्व

समराइच्च–कहा अपनी अन्त'स्पर्शी शैली, मार्मिक चरित्र-चित्रण, सहज भावाभिव्यक्ति, सरल, सुवोध तथा हृदयग्राही शब्दो का प्रयोग, कथा–प्रवाह की सुव्यवस्थित शृ खला, मुख्यकथा के साथ अनेक उप–कथाओं का सुन्दर सामजस्य, वर्णन की सरसता आदि अनेक दृष्टियो से महत्त्वपूर्ण है ।

सर्वजनोपयोगी जैन आचार एव तत्त्व–दर्शन के लेखक ने इसमे वहुत ही हृद्य एवं मनोरम विवेचन किया है । वह भी इतनी रुचिपूर्ण व आकर्षक सरणि एवं भाषा मे कि पाठक उससे सद्य प्रभावापन्न हो सके । वस्तुत. मानव के लिए जीवन मे क्या उपादेय और क्या हेय है, इसका आचार्य हरिभद्र ने प्रस्तुत कृति मे अपनी चामत्कारिक लेखनी द्वारा जो लेखा–जोखा प्रस्तुत किया है, नि.सन्देह वह अनूठा है ।

प्राक्तन साहित्य में इसकी वहुत वडी ख्याति रही है। ख्यात-नामा कवि धनपाल ने तिलकमञ्जरी की प्रस्तावना मे निम्नांकित शब्दो मे समराइच्च-कहा की मुक्तकण्ठ से प्रशसा की है।

निरोद्धुं पार्यते केन समरादित्यजन्मनः ।
प्रशमस्य वशीभूत समरादित्यजन्मन ॥

श्री हरिभद्र सूरि के विद्या-शिष्य दाक्षिण्यचिह्न उद्योतन सूरि ने 'कुवलयमाला' सज्ञक अत्यन्त प्रसिद्ध प्राकृत-कथा-ग्रन्थ की जो रचना की, प्रतीत होता है, 'समराइच्चकहा' से ही प्रेरणा लेकर उन्होने संभवत ऐसा किया। श्री उद्योतनसूरि ने कुवलयमाला मे इस ग्रन्थ का समर-मियका नाम से उल्लेख किया है। उन्होने लिखा है:—

"जो इच्छइ भवविरहं, भवविरह को न वदए सुयणो ।
समयसयसह्यगुरुणो, समरमियका कहा जस्स ॥"

अर्थात् वह कौन होगा, जो भवविरह-संसार से जन्म-मरण से मुक्ति चाहता हो और 'भवविरह' आचार्य हरिभद्र को वन्दन नही करता।

इस गाथा के उत्तरार्द्ध मे वड़े आदर के साथ आचार्य के गुणों का वर्णन करते हुए वताया है कि जो सैकड़ो मतवादो और शास्त्रो को जानने वाले हैं तथा समरमियका (समराइच्च-कहा) नामक जिनकी कथा-कृति है।

आचार्य हेमचन्द्र के गुरु श्री देवचन्द्र सूरि ने अपने सतिनाह चरियं नामक ग्रन्थ मे श्री हरिभद्र सूरि को निम्नाकित शब्दो मे वन्दन किया है:—

"वदे सिरिहरिभद्दं सूरिं, वियुसयणणिग्गयपयावं ।
जेण य कहा-पवधो, समराइच्चो विणिम्मविओ ॥"

विद्वन्मान्य आचार्य श्री हरिभद्र सूरि को प्रणमन करते हुए

यहां श्री देवचन्द्र सूरि ने उन द्वारा विनिर्मित समरादित्यकथा का विशेष रूप से निर्देश किया है ।

आचार्य प्रभाचन्द्र ने प्रभावक-चरित में समराइच्चकहा (समरादित्यकथा) की विशेषताओ का वडे भाव-विभोर शब्दों में वर्णन किया है । उन्होने लिखा है:—

"शास्त्रं श्री समरादित्य-चरित कीर्त्यते भुवि ।
यद्रसोर्मिप्लुता जीवाः, क्षुत्तृडाद्य न जानते ॥"

अर्थात् (आचार्य हरिभद्र-रचित) समरादित्य-चरित-समरादित्य-कथा (समराइच्चकहा) की जगत् मे एक शास्त्र के रूप मे कीर्ति है । वह ऐसा शास्त्र है, जिसके (अध्यात्म) रस की तरंगों मे डूवते हुए तन्मय होते हुए प्राणी भूख, प्यास आदि सव भूल जाते है ।

प्रभाचन्द्र के अनुसार इस ग्रन्थ का उसी प्रकार का महत्त्व है, जैसा शास्त्र का होता है ।

उपर्युक्त उद्धरणों के परिपार्श्व मे देखने की वात यह है कि आचार्य हरिभद्र ने जहां योग दर्शन, न्याय, आगम–व्याख्या जैसे महत्त्वपूर्ण विषयों पर अनेक प्रौढ़ ग्रन्थो की रचना की, जिनका विद्वज्जगत् मे वडा आदर है, उन सव को छोड उपर्युक्त विद्वान् उन्हें 'समराइच्चकहा' के रचनाकार के रूप में सादर स्मरण करते हैं । इससे यह सिद्ध होता है कि लोकोपयोगिता की दृष्टि से इस ग्रन्थ का साहित्यिक जगत् मे असामान्य समादर रहा है ।

समराइच्च कहा के लेखक की प्रेरणा

आचार्य हरिभद्र का जीवन-वृत्त, जितना जो प्राप्त है, उससे स्पष्ट है कि वे ब्राह्मण-परम्परा से श्रमण-परम्परा में आये थे । ब्राह्मण शास्त्रों के तो वे दिग्गज विद्वान् थे ही, उन्होंने जैन आगम तथा तत्सम्बद्ध विशाल साहित्य का गम्भीर पारायण किया । ऐसा प्रतीत होता

है, जैन शास्त्रों के परिशीलन के सन्दर्भ मे जैन तत्त्व-ज्ञान के उन महत्त्वपूर्ण पहलुओ से वे बहुत ही प्रभावित हुए हो, जिनका हमारे दैनन्दिन जीवन के साथ अत्यन्त निकट का सम्बन्ध है । मनुष्य जिस किसी दुष्प्रवृत्ति मे ग्रस्त होता है, उसका मूल कारण कषाय क्रोध, मान, माया व लोभ है । इन पर नियन्त्रण किये बिना मनुष्य चाहे कितना ही ज्ञानी या विद्वान् हो जाए, जीवन मे सत् का स्वीकार व असत् का वर्जन सध नही पाता । शत्रुता प्रतिशोध, प्रवञ्चना, छल, कपट, धोखा, विश्वासघात, असत्य आदि सब इन्ही कषायो के प्रतिफल है ।

आचार्य हरिभद्र के मन को इन भावनाओ ने विशेष रूप से उद्वेलित किया हो कि जीवनगत विषमताओ और दुविधाओ का यही मुख्य कारण है कि जो अनेक रूपो मे उभरता हुआ प्राणी को आत्म-पराङ्मुख बना देता है । यह क्रम एक जीवन मे समाप्त नही हो जाता, जन्म-जन्मान्तर तक चलता रहता है । फलतः प्राणी केवल इसी जन्म मे नही, आगे के जन्मो मे भी दुःखित एव पीडित होता रहता है । इसलिए मानव के लिए सबसे पहली आवश्यकता और उसके ज्ञान की सार्थकता यह है कि वह कषायो के विकराल स्वरूप और परिणाम की यथार्थता को हृदयंगम करे । फलतः उसका जीवन क्रमशः कषायो से दूर होता जायेगा, कर्म-बन्ध का स्रोत मन्द पड़ता जायेगा ।

इन तथ्यो को लोग गहराई से समझते हुए आत्मसात् कर सकें, इस हेतु उन्हे यही अधिक संगत व उपयुक्त लगा हो कि वे कथाओ के माध्यम से इसे उपस्थापित करें । जहां उनके पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थो सें विद्वज्जन लाभान्वित होगे, वहां सामान्य जन-समुदाय इन कथा-कृतियों से उद्बोधित होगा ।

समराइच्च कहा का उद्गम-स्रोत

समराइच्च कहा का मूल कथानक आचार्य हरिभद्र द्वारा परिकल्पित नही है । वह उन्हे परम्परा से प्राप्त था ।

समराइच्च कहा मे वर्णित महत्त्वपूर्ण घटनाओ पर हम दृष्टि-पात करे तो ऐसा अनुमित होता है कि उनके सर्जन मे पूर्ववर्ती कथा-परंपराओ से हरिभद्र ने विशेषतः प्रेरणा ली। उदाहरणार्थ समराइच्च-कहा के प्रथम भव मे गुणसेन व अग्निशर्मा का कथानक आता है, जो सारे ग्रन्थ का मूल उत्स है। इस कथानक की समानता व संगति सघदास गणी की वसुदेवहिंडी के एक कथानक से है।

वसुदेवहिंडी के अट्ठाईसवे लभ (अध्याय) का नाम देवकी-लभ है। उसमे कस के पूर्व-भव का वर्णन आया है। वहां वतलाया गया है कि पूर्व-जन्म मे कस एक तापस था। वह महीने-महीने उप-वास करता था। एक वार अपने पर्यटन-क्रम के वीच वह मथुरा आया। महाराज अग्रसेन ने उसे पारणे का निमन्त्रण दिया। पारणे के दिन उग्रसेन का चित्त किन्ही कारणो से विक्षिप्त था। इसलिए तापस को पारणा कराने की वात उसकी स्मृति से उतर गई। यथासमय तापस उसके यहा आया परन्तु किसी ने उसकी ओर ध्यान नही दिया, वह लौट गया। उग्रसेन द्वारा पुनः निमन्त्रित किये जाने पर दूसरी व तीसरी वार भी ऐसा ही हुआ। तापस ने कल्पना की कि यह उग्रसेन का उसके विरुद्ध षड्यन्त्र है। उसका मान (अहकार) जागा। उसने निदान किया—मैं अपने अगले जन्म मे उग्रसेन का वध करूंगा। परि-णाम स्वरूप वही तापस उग्रसेन के यहा कस के रूप मे उत्पन्न हुआ। गुणसेन और अग्नि शर्मा के कथानक के रूप मे यही उपादान समराइच्च कहा जैसी विशाल कथा-कृति के रूप मे विकसित हुआ।

यह तो हुई मूल-कथा की वात। अवान्तर कथाओ व प्रसगो मे भी ऐसे अनेक स्थल है, जिनके मूल उत्स वसुदेवहिंडी आदि मे प्राप्त होते है। उदाहरणार्थ समराइच्च-कहा के द्वितीय भव में जो मधु-विन्दु का दृष्टान्त आया है, वसुदेवहिंडी मे भी लगभग वैसा ही वृत्तान्त प्राप्त होता है। वहा उसे 'विसय सुहोवमाए महुबिंदुदिट्ठंत' (विषय-सुखोप-मायें मधुबिन्दुदृष्टान्त) के नाम से उल्लिखित किया गया है। दोनो

वर्णनों में लगभग सभी तथ्य एक जैसे हैं । वसुदेवहिंडी मे उन्हे साधारण रूप मे वर्णित किया गया है तथा आचार्य हरिभद्र ने वहा साहित्यिक पुट देते हुए उस दृष्टान्त को आकर्षक तथा प्रभावशाली वना दिया है । हरिभद्र ने वर्णन को सुन्दर वनाने के लिए कुछ विस्तार भी कर दिया है ।

समराइच्चकहा मे जहा श्रावक के व्रत, उनके अतिचार आदि का विवेचन हुआ है, वह अश मूलतः उपासक दशाग सूत्र से गृहीत है। उपासकदशाग सूत्र के प्रथम अध्ययन मे भगवान् महावीर के प्रधान श्रावक आनन्द का वर्णन है । आनन्द के वारह व्रतो का वहा विस्तार से निरूपण हुआ है । समराइच्चकहा का वर्णन उसी के आशिक या सक्षिप्त रूप जैसा है ।

उक्त ग्रन्थो के अतिरिक्त श्री हरिभद्र सूरि से पूर्ववर्ती अन्यान्य कथा-ग्रन्थ भी इस कृति के किसी न किसी रूप से उत्प्रेरक कहे जा सकते हैं, जिनमे गुणाढ्य की वृहत्कथा, पालिजातक कथाएं आदि मुख्य हैं ।

समराइच्च कहा का मुख्य विषय

जैन दर्शन मे कर्म-सिद्धान्त का जो सूक्ष्म, गम्भीर एव विशद विश्लेषण हुआ है, वह नि.सन्देह विश्व के तात्त्विक वाड्मय मे अनन्य-साधारण है । कर्मों के अनेकानेक पहलुओ पर जिस वारीकी से वहां विचार किया गया है, दर्शन के प्रत्येक विद्यार्थी के लिए वह निश्चय ही अध्येतव्य है । कर्मों के सन्दर्भ मे 'निदान' शव्द का प्रयोग आता है । निदान का आशय किसी ऐहिक व पारलौकिक फल विशेष का सकल्प कर तपस्या आदि कर्म करना है । मन मे जिस कोटि का रागात्मक या द्वेषात्मक-कपाय-प्रसूत भाव होता है, तदनुरूप वह पुरुष निदान करता है । जिन तीव्र, तीव्रतर या तीव्रतम भावो से वह निदान करता है, उत्तरवर्ती जन्मो में उसी रूप मे उसके जीवन की शृंखला आगे

वढ़ती जाती है । फलत. आध्यात्मिक दृष्टि से वह गिरता जाता है । समराइच्चकहा के प्रथम भव मे वर्णित अग्निशर्मा की घटना से प्रकट है कि पुन पुन होने वाली अवहेलना या उपेक्षा से वह अपना सन्तुलन खो बैठता है । उसका सुषुप्त अहकार छेड़े हुए नाग की तरह फुफकार उठता है, क्रोध प्रकट होता है, प्रतिशोध का दावानल सुलग उठता है और परिणाम-स्वरूप वह गुणसेन को केवल उसी जन्म में नही, जन्म-जन्मान्तर मे उत्पीडित करने व मारने का निदान करता है । फलतः वह आगे जहा भी जन्म लेता है, इसी भावना से अभिभूत रहता है । इसी मुख्य विषय का आचार्य हरिभद्र ने विविध रूपो मे पल्लवन किया है । उसके परिपार्श्व मे पनपने वाले, पलने वाले कलुषित कर्मों का भयावह चित्र उपस्थित किया है और उनसे बचने का मार्ग भ ।

उपयोगिता

आचार्य हरिभद्र ने समराइच्चकहा के भिन्न-भिन्न भवो मे मुख्य कथा एव उपकथाओ मे जो क्रोध, मान, माया, राग, द्वेष आदि का वर्णन किया है, वह पाठक को सहज ही यह प्रेरणा देता है कि इन कुत्सित वृत्तियो से जीवन कितना पतित एव दु खित हो जाता है । केवल मनुष्यो के ही नही, पशु-पक्षियो के भी अनेक प्रसंग उपस्थित कर आचार्य हरिभद्र ने यह प्रस्तुत किया है कि कर्मों के फल-स्वरूप पशु-पक्षियो की योनियों मे पहुचने पर भी कषायात्मक प्रवृत्तिया मिट नहीं सकती ।

इस कथा-कृति द्वारा आचार्य हरिभद्र का एक महत्त्वपूर्ण सन्देश यह है कि प्रतिशोव या वदले की भावना मनुष्य के विवेक को अन्धा वना देती है और उसे कलुषित एवं हीन कर्म करने मे वुरी तरह जोड़ देती है ।

कर्म-जनित क्लेशो की भयावहता तथा कषाय-जनित मनोभावों की कलुषता, जो विभिन्न कथा-प्रसगो मे उद्घाटित है, से प्रकट

हैं कि इनसे बचे बिना मनुष्य का कदापि कल्याण नही ।

अन्तत: लेखक पाठको के मन मे यह भाव प्रतिष्ठित करना चाहता है कि भव-संसार आवागमन या जन्म-मरण से छूटने का एक मात्र साधन मोक्ष है, जो निष्काम धर्माराधना से प्राप्त होता है ।

समसामयिक लोक-जीवन का चित्रण

लगभग सवा सहस्राब्दी पूर्व हुए आचार्य हरिभद्र ने समराइच्च कहा मे कथोपकथाओ के प्रसंग मे तत्कालीन भारतीय लोक-जीवन का यथार्थ स्वरूप उपस्थित किया है । पारिवारिक जीवन, स्त्रियो के स्वप्न, उनके दोहद, शिशुओ के जन्म, जन्मोत्सव, वैवाहिक उत्सव, राजाओ का जीवन, राजाओ के परिजन, राजाओ के व्यसन, सामूहिक जन-समारोह, पर्व या त्यौहार, चोरी, अपहरण, चोरी की छान बीन, न्यायालय के कार्य, राजाओ की सीमाओ के झगडे, लोगो की मनोवृत्ति, जादू-टोने, मन्त्र आदि में विश्वास, मुनियो का विहार, लोगो की उनके प्रति श्रद्धा, धर्म-श्रवण-प्रव्रज्या, आमरण-अनशन, जन-जीवन मे कलाभिरुचि, रीति-नीति, वाणिज्य-व्यवसाय प्रभृति आदि से सम्बद्ध अनेक ऐसे सजीव चित्र लेखक ने प्रस्तुत कृति मे इस सुन्दरता से सजोये हैं कि भारतीय समाज, सस्कृति व जीवन की सजीव झाकी पाठको को प्राप्त हो जाती है । अत. तत्कालीन भारतीय लोक-जीवन के अध्ययन की दृष्टि से भी इस ग्रन्थ की अपनी विशेषता एवं उपयोगिता है ।

भाषा, शैली, निरूपण

आचार्य हरिभद्र ने जिस भाषा मे समराइच्च कहा की रचना की है, वह जैन महाराष्ट्री प्राकृत है । अतएव वहा महाराष्ट्री या अर्द्धमागधी का पुट है, जो स्वाभाविक है । जिस कोटि या स्तर की भाषा का उन्होने प्रयोग किया है, उससे स्पष्ट है कि वे कोई वैसा ग्रन्थ रचना नही चाहते थे, जो केवल पण्डितो के उपयोग का हो । उनकी भाषा एवं रचना-शैली से यह स्पष्ट है कि व्युत्पन्न अर्थात्

समभदार व लिखने पढने मे रुचि रखने वाले नागरिको के लिए इस कथा-कृति का प्रणयन उन्हे अभीष्ट था । यही कारण है कि उनकी शैली मे जटिलता नही, सुबोध्यता है पर प्राञ्जलता उसमें छूट नही पाई है। वाक्य छोटे छोटे हैं, रोचक हैं, प्रसाद गुण युक्त हैं, पढते ही अर्थ अधिगत हो जाता है, पर वे स्थल, जो वर्णनात्मक हैं, जैसे राजा, नगर, उद्यान महोत्सव वन आदि के प्रसग वहुत विस्तृत, समास प्रधान लम्बे वाक्यो वाले हो गये हैं, जिन्हे पढते समय बाणभट्ट की कादम्बरी का स्मरण हो आता है। वे प्रसग दुरूह हैं, जिससे साधारण पाठको के लिए कम रोचक हैं पर साहित्यिक जनों के लिए उनमे स्पृहणीय रसात्मकता है।

आचार्य हरिभद्र चरित्र-चित्रण के वस्तुत कुशल शिल्पी हैं । नायक, प्रतिनायक तथा कथागत अन्यान्य पात्रो को चित्रित करने में उनकी लेखनी ने नि:सदेह चमत्कार किया है । प्रतिनायक अग्निशर्मा का चरित्र तो वडे ही मार्मिक रूप में उपस्थित किया गया है ।

प्राकृत-वाङ्मय की उपादेयता

समराइच्च कहा प्राकृत-वाङ्मय की अक्षुण्ण निधि का एक अमूल्य रत्न है । यह ज्ञातव्य है कि प्राकृत-साहित्य केवल राजदरवारो का या राजाओ के पारस्परिक युद्धो का अथवा उनके अन्त.पुरो की अठखेलियो का साहित्य नही है, प्रत्युत वह लोक-जीवन के प्रत्येक पहलू से अत्यन्त निकटता के साथ जुडा हुआ है । यदि सक्षेप मे कहे तो यह कहना अतिरजित नही होगा कि प्राकृत-साहित्य में हमे समग्रता के दर्शन होते हैं । वहा यदि राजा है तो श्रमिक, कृषक, सेवक, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र, अछूत सव हैं । सवका अपना-अपना स्थान और कृतित्व है । यदि राजनीति की गुत्थियां वहा है तो छोटे और वड़े सभी घरो की चार-दीवारियो मे घटित होने वाले वृत्तो का लेखा-जोखा भी है । विभिन्न लोक-चेतनाओ, मनोभावनाओ, धार्मिक श्रद्धाओ, साम्प्रदायिक मान्यताओ, लोक-रीतियो, लोक-नीतियो का जैसा स्पष्ट

परिस्फुटन प्राकृत-साहित्य मे अव्याहत रूप में दृष्टिगत होता है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। इसलिए यदि भारत के अतीत कालीन जीवन का सही अध्ययन हमें करना है तो प्राकृत-साहित्य का परिशीलन हमे आवश्यक ही नही, परमावश्यक मानना होगा।

एक बात और-भाषा की दृष्टि से, आज हम हिन्दी के युग में जी रहे हैं। हिन्दी का स्रोत अपभ्रंश के माध्यम द्वारा प्राकृत से उद्‌गत है। अतः हिन्दी भाषाभाषियो के लिए प्राकृत-वाङ्‌मय के अध्ययन की भाषात्मक दृष्टि से भी बहुत बडी उपयोगिता है। हिन्दी के मूल स्वरूप का ऐतिहासिक, सास्कृतिक तथा सामाजिक परिवेश हम प्राकृत को पढ़े बिना नही जान सकते।

प्राकृत के अध्ययन के सन्दर्भ मे समराइच्च कहा का मध्य कालीन प्राकृतो की दृष्टि से बडा महत्त्व है। वैचारिक दृष्टि से भी समराइच्च कहा जैसे ग्रन्थ मानव मात्र के लिए शाश्वत उपयोगिता लिये हुए हैं क्योकि ये मानवीय जीवन की उस अन्तश्श्रद्धा के प्रकोष्ठ पर सीधी चोट करते हैं, जो यदि सत्त्वोन्मुख हो जाए तो जीवन की धारा एक ऐसा मोड ले लेती है, जिससे दुःख, सक्लेश, दौविध्य ये सब बहुत पीछे छूट जाते हैं।

प्रकाशन

समराइच्च कहा के प्रकाशन के कई प्रयत्न हुए हैं। जर्मनी के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् भारतीय वाङ्‌मय विशेषत प्राकृत व जैन साहित्य के गम्भीर अनुशीलक डॉ हर्मन जैकोबी के सम्पादकत्व में इस ग्रन्थ का बहुत पहले प्रकाशन हुआ था। भारत मे भी इसके कई संस्करण निकले पर अब वे लगभग अप्राप्य हैं। हिन्दी अनुवाद के साथ अब तक कोई सस्करण प्रकाशित ही नही हुआ। इस समय भारत के अनेक विश्वविद्यालयो में प्राकृत एम ए तक एक पृथक् स्वतन्त्र विषय के रूप मे स्वीकृत है, जहा अन्यान्य प्राकृत-ग्रन्थो के साथ समराइच्च कहा भी

पाठ्यक्रम मे प्राय· निर्धारित है । कई जैन संस्थाओ द्वारा विशेषतः श्री अखिल भारतवर्षीय साधुमार्गी जैन सघ, बीकानेर द्वारा सचालित परीक्षाओ के पाठ्यक्रमो मे भी समराइच्च कहा रखी हुई है । पुस्तक की अप्राप्यता के कारण सर्वत्र कठिनाई अनुभव की जा रही है । यह सब दृष्टिगत करते हुए श्री अ. भा· साधुमार्गी जैन संघ ने इस ग्रन्थ के प्रकाशन का और वह भी हिन्दी अनुवाद के साथ जो सकल्प किया है, वह निश्चय ही स्तुत्य है । जहां प्राकृत के विद्यार्थी इससे लाभान्वित होगे हिन्दी-जगत् के लिए भी यह ग्रन्थ उपयोगी सिद्ध होगा । प्रस्तुत खण्ड मे ग्रन्थ के दो भव समाविष्ट हैं । आगे के भव अगले खण्डो मे प्रकाशित किये जाने की योजना है ।

प्रस्तुत ग्रन्थ के संपादन, अनुवाद आदि के सन्दर्भ मे तद्गत अनेक दार्शनिक व साहित्यिक विषयो के विवेचन तथा स्पष्टीकरण में परम श्रद्धेय, समता-दर्शन के प्रणेता आचार्य श्री नानालालजी म. सा. के सुशिष्य विद्वद्वर्य श्री प्रेम मुनिजी तथा श्री सुरेन्द्र मुनिजी का जो महत्त्वपूर्ण सहयोग रहा, उसे भूल नही सकता, इन विद्वान् सन्तो के प्रति मैं कृतज्ञ एव श्रद्धाभिनत हूं ।

मुद्रण का क्रम

ग्रन्थ के मुद्रण का क्रम इस प्रकार रखा गया है - कि एक पृष्ठ पर प्राकृत-पाठ, उसके सम्मुखीन पृष्ठ पर सस्कृत-छाया तथा परिशिष्ट मे हिन्दी अनुवाद ।

पिछली कई शताब्दियों से प्राकृत के स्वतन्त्र अध्ययन की परम्परा चालू नही रही । संस्कृत-छाया के सहारे प्राकृत पढी जाती रही है । निरन्तर ऐसा रहने से अध्येताओ में कुछ ऐसा सस्कार या अभ्यास पड़ गया कि संस्कृत के माध्यम के बिना प्राकृत पढना या समझना कठिन प्रतीत होने लगा । आश्चर्य है, जो कभी जन-जन की भाषा थी, उसे सस्कृत से भी कठिन बना दिया गया । इस संस्कार

को मिटाना होगा। प्राकृत के सीधे, बिना संस्कृत–माध्यम के उसके अध्ययन की परम्परा को प्रतिष्ठित करना होगा । पर ऐसा होने में कुछ समय लगेगा, तव हमे उसी पुरानी परम्परा का अनुसरण करना उपयुक्त प्रतीत हुग्रा । ग्रतएव प्राकृत–पाठ के सामने हिन्दी–अनुवाद न देकर सस्कृत–छाया देनी पड़ी । परिशिष्ट मे हिन्दी ग्रनुवाद रखे जाने से एक लाभ तो यह अवश्य होगा कि हिन्दी भाषी पाठक ग्रन्थ को सलग्नतया या अव्याहृत रूप मे पढकर आचार्य हरिभद्र की इस अनुपम प्राकृत–रचना का रसास्वादन कर सकेंगे ।

ग्रनुवाद केवल भावानुगामी नही है, मुख्यतः शब्दानुगामी है ताकि अध्येताग्रो को मूल प्राकृत–पाठ को समझने मे उससे यथेष्ट सहारा मिल सके । शब्दानुगामी होते हुए भी ग्रनुवाद मे लेखक के आशय को विशेष स्पष्ट करने का प्रयास रहा है, जिससे ग्रन्थगत विषयो को भली भाति आत्मसात् करने मे सहायता मिलेगी । जहा ग्रपेक्षित प्रतीत हुग्रा, जैन पारिभाषिक प्रयोगो का तात्पर्य स्पष्ट करने का भी यत् किञ्चित् प्रयास रहा है ।

यह सब होते हुए भी जैसा कि कहा गया है—

गच्छत. स्खलन क्वापि, भवत्येव प्रमादतः ।
हसन्ति दुर्जनास्तत्र, समादधति सज्जनाः ।।

अतः ग्रनेक त्रुटिया रह जाना संभावित है । ग्राशा है, विद्वान् ग्रध्यापक, ज्ञानलिप्सु विद्यार्थी तथा सहृदय जन उन्हे उपेक्ष्य मान, यथारुचि इससे लाभान्वित होंगे ।

कैवल्य–धाम,
सरदारशहर (राजस्थान)
वि. स २०३२, भाद्र शुक्ला ४

डॉ. छगनलाल शास्त्री
एम. ए (हिन्दी-संस्कृत-प्राकृत व जैनोलोजी),
पी–एच. डी.



मूलं

(पत्थाविग्रं)

पणमह विजिअसुदुज्जय-निज्जिअसुरमणुअ-विसमसरपसरं ।
तिहुअणमङ्गलनिलयं वसहगइगयं जिणं उसहं ।।
परमसिरिवद्धमाणं पणट्ठमाणं विसुद्धवरनाणं ।
गयजोअं जोईसं सयंभुवं वद्धमाणं च ।।
सेसे चिय वावीसे जाइ-जरा-मरणबन्धणविमुक्के ।
तेलोक्कमत्थयत्थे तित्थयरे भावओ नमह ।।
उवणेउ मङ्गलं वो जिणाण मुहलालिजालसंवलिआ ।
तित्थपवत्तणसमए तिअसविमुक्का कुसुमवुट्ठी ।।
देउ सुह वो सुर-सिद्ध-मणुअवन्द्रेहि सायरं नमिआ ।
तित्थयरवयणपङ्कयविणिग्गया मणहरा वाणी ।।

अलं पवित्थरेण । सुणह सोअव्वाइं, पसंसह पससणिज्जाइं, परिहरह परिहरिअव्वाइं, आयरह आयरिअव्वाइ । तत्थ—

सोअव्वाइ नरा-ऽमर-सिवसुहजणयाइं अत्थसाराइं ।
सव्वन्नुभासिआइ भुवणम्मि पइट्ठिअजसाइ ।।
ताइ चिय विबुहाण पसंसणिज्जाइ तह य जाइ च ।
तेहिं चिय भणिआइ सम्मत्त-नाण-चरणाइं ।।
परिहरिअव्वाइ तहा कुगईवासस्स हेउभूआइ ।
मिच्छत्तमाइआइ लोगविरुद्धाइ य तहेव ।।
आयरिअव्वाइं अणिस्सिएण सम्मत्त-नाण-चरणाइ ।
दोगच्चविउडणाइ चिन्तामणिरयणभूआइं ।।

संस्कृतच्छाया

(प्रास्ताविकम्)

प्रणमत विजितसुदुर्जय-निर्जितसुरमनुज-विषमशरप्रसरम् ।
त्रिभुवनमङ्गलनिलयं वृषभगतिगतं जिनम्-ऋषभम् ।।
परमश्रीवर्धमानं प्रनष्टमानं विशुद्धवरज्ञानम् ।
गतयोगं योगीशं स्वयंभुवं वर्धमानं च ।।
शेषांश्चैव द्वाविंशति जाति-जरा-मरणबन्धनविमुक्तान् ।
त्रैलोक्यमस्तकस्थान् तीर्थंकरान् भावतो नमत ।।
उपनयतु मङ्गलं वो जिनानां मुखराऽलिजालसंवलिता ।
तीर्थप्रवर्तनसमये त्रिदशविमुक्ता कुसुमवृष्टिः ।।
ददातु सुख वः सुर-सिद्ध-मनुजवृन्दैः सादरं नता ।
तीर्थंकरवदनपङ्कजविनिर्गता मनोहरा वाणी ।।

अलं प्रविस्तरेण । शृणुत श्रोतव्यानि, प्रशंसत प्रशंसनीयानि, परिहरत परिहर्तव्यानि, आचरत आचरितव्यानि । तत्र—

श्रोतव्यानि नरा-ऽमर-शिवसुखजनकानि अर्थसाराणि ।
सर्वज्ञभाषितानि भुवने प्रतिष्ठितयशांसि ।।
तान्येव विबुधानां प्रशंसनीयानि तथा च यानि च ।
तैरेव भणितानि सम्यक्त्व-ज्ञान-चरणानि ।।
परिहर्तव्यानि तथा कुगतिवासस्य हेतुभूतानि ।
मिथ्यात्वादिकानि लोकविरुद्धानि च तथैव ।।
आचरितव्यानि अनिश्रितेन सम्यक्त्व-ज्ञान-चरणानि ।
दौर्गत्यविकुटनानि चिन्तामणिरत्नभूतानि ।।

एत्थं पुण अहिगारो ता सोअव्वेहि पत्थुअपवन्धे ।
सव्वन्नुभासिआइं सोअव्वाइं ति भणियमिणं ॥
वोच्छं तप्पडिवद्धं भवियजणाणन्दयारिणिं परमं ।
सखेवओ महत्थं चरिअकहं तं निसामेह ॥

तत्थ य 'तिविह कहावत्थु' ति पुव्यायरियपवाओ । तं जहा-दिव्वं, दिव्वमाणुसं, माणुसं च । तत्थ दिव्वं नाम, जत्थ केवलमेव देव-चरिअ वण्णिज्जइ । दिव्वमाणुसं पुण, जत्थ दोण्हं पि दिव्वमाणुसाणं । माणुसं तु, जत्थ केवलं माणुसचरियं ति । एत्थ सामन्नओ चत्तारि कहाओ हवन्ति । त जहा-अत्थकहा, कामकहा, धम्मकहा, संकिण्णकहा य । तत्थ अत्थकहा नाम, जा अत्थोवायाणपडिवद्धा, असि-मसि-कसि-वाणिज्जसिप्पसंगया, विचित्तधाउवायइपमुहमहोवायसपउत्ता, साम-भेय-उवप्पयाणदण्डाइपयत्थविरइआ सा अत्थकह त्ति भण्णइ । जा उण कामोवायाणविसया, वित्त-वपु-व्वय-कला-दक्खिण्णपरिगया, अणुराय-पुलइअपडिवत्तिजोअसारा, दूईवावार-रमियभावाणुवत्तणाइपयत्थसंगया सा कामकह त्ति भण्णइ । जा उण धम्मोवायाणगोयरा, खमा-मद्दव-ऽज्जव-मुत्ति-तव-संजम-सच्च-सोया-ऽऽकिंचन्न वंभचेर-पहाणा, अणुव्वय-दिसी-देसा-ऽणत्थदण्डविरई सामाइय-पोसहोववासो-वभोग-परिभोगा-ऽतिहिसंविभागकलिया, अणुकम्पा-ऽकामनिज्जराइपयत्थसंपउत्ता सा धम्म-कह त्ति । जा उण तिवग्गोवायाणसवद्धा, काव्व-कहा-गन्थत्थवित्थ-रविरइया, लोइय-वेयसमयपसिद्धा, उयाहरण-हेउ-कारणोववेया सा संकि-ण्णकह त्ति वुच्चइ । एयाणं च कहाणं तिविहा सोयारो हवन्ति । तं जहा-अहमा, मज्झिमा, उत्तम त्ति । तत्थ जे कोह-माण-माया-लोह-समाच्छाइयमई, परलोयदंसणपरंमुहा, इहलोगपरमत्थदंसिणो, निरणुकम्पा जीवेसु, ते तहाविहा तामसा अहमपुरिसा दुग्गइगमणकन्दुज्जयाए, सुगइ-पडिवक्खभूयाए, परमत्थओ अणत्थवहुलाए अत्थकहाए अणुसज्जन्ति । जे उण सद्दाइविसयविसमोहियमणा, भावरिउ-इन्दियाणुकूलवत्तिणो, अभावियपरमत्थमग्गा, 'इमं सुन्दर, इमं सुन्दरयरं' ति सुन्दरासुन्दरेसु

अत्र पुनरधिकारस्तावत् श्रोतव्यैः प्रस्तुतप्रबन्धे ।
सर्वज्ञभाषितानि श्रोतव्यानीति भणितमिदम् ।।
वक्ष्ये तत्प्रतिबद्धां भव्यजनानन्दकारिणी परमाम् ।
संक्षेपतो महार्थां चरितकथां तां निशाम्यत ।।

तत्र च 'त्रिविधं कथावस्तु' इति पूर्वाचार्यप्रवादः । तद्यथा—दिव्यम्, दिव्यमानुषम्, मानुषं च । तत्र दिव्यं नाम यत्र केवलमेव देव-चरितं वर्ण्यते । दिव्यमानुषं पुनः यत्र द्वयोरपि दिव्यमानुषयो (चरितम्)। मानुषं तु यत्र केवलं मानुषचरितमिति । अत्र सामान्यत. चतस्रः कथा भवन्ति । तद्यथा–अर्थकथा, कामकथा, धर्मकथा, संकीर्णकथा च । तत्र अर्थकथा नाम या अर्थोपादानप्रतिबद्धा, असि-मषी-कृषि-वाणिज्य-शिल्प-सगता, विचित्रधातुवादादिप्रमुखमहोपायसप्रयुक्ता, सामभेदो पप्रदान दण्डा-दिपदार्थविरचिता सा 'अर्थकथा' इति भण्यते । या पुनः कामोपादान-विषया, वित्त-वपु-वंय कला-दाक्षिण्यपरिगता, अनुरागपुलकितप्रतिपत्ति-योगसारा, दूतीव्यापाररतभावानुवर्तनादिपदार्थसगता सा 'कामकथा' इति भण्यते । या पुनर्धर्मोपादानगोचरा, क्षमा-मार्दवा-ऽऽर्जव-मुक्ति-तप संयम-सत्य-शौचा-ऽऽकिञ्चन्य-ब्रह्मचर्यप्रधाना, अनुव्रत-दिग्-देशा-ऽनर्थदण्डवि-रति-सामायिक-पौषधोपवासोपभोगपरिभोगा-ऽतिथिसविभाग कलिता, अनुकम्पा-ऽकामनिर्जरादिपदार्थसप्रयुक्ता सा 'धर्मकथा' इति (भण्यते) । या पुनस्त्रिवर्गोपादानसबद्धा, काव्य-कथा-ग्रन्थार्थविस्तरविरचिता, लौकिक-वेदसमयप्रसिद्धा, उदाहरण-हेतु-कारणोपेता सा 'सकीर्णकथा' इति उच्यते । एतासां च कथानां त्रिविधाः श्रोतारो भवन्ति । तद्यथा-अधमाः, मध्यमाः, उत्तमा इति । तत्र ये क्रोध-मान-माया-लोभसमाच्छादितमतयः, परलोक-दर्शनपराङ्मुखाः, इहलोकपरमार्थदर्शिन., निरनुकम्पा जीवेषु, ते तथा-विधा तामसा अधमपुरुषा. दुर्गतिगमन[1] कन्दोद्यतायाम्, सुगतिप्रतिपक्ष-भूतायाम्, परमार्थत. अनर्थबहुलायाम्-अर्थकथायाम्-अनुषजन्ति । ये पुनः शब्दादिविषयविषमोहितमनस, भावरिपु-इन्द्रियानुकूलवर्तिन, अभावितपर-मार्थमार्गाः, 'इदं सुन्दरम्' 'इदं सुन्दरतरम्' इति सुन्दराऽसुन्दरेषु

१. कन्द (दे) दृढम्

अविणिच्छियमई, ते रायसा मज्झिमपुरिसा वुहजणोवहसणिज्जाए, विडम्बणमेत्तपडिबद्धाए, इह परभवे य दुक्खसवड्ढियाए कामकहाए अणुसज्जन्ति। जे उण मणगं सुन्दरयरा, सावेक्खा उभयलोएसु, कुसला ववहारनयमएणं, परमत्थओ सारविन्नाणरहिया, खुद्दभोएसु अबहुमाणिणो, अविण्हा उदारभोगाण,ते किंचि सत्तियामज्झिमपुरिसा चेव आसयविसेसओ सुगइदुग्गइवत्तिणीए, जीव-लोगसभावविब्भमाए, सयलरसनीसन्दसंगयाए, विविहभावपसूइनिवन्धणाए सकिण्णकहाए अणुसज्जन्ति। जे उण जाइ-जरा-मरणजणियवेरग्गा, जम्मन्तरम्मि वि कुसलभाविमई, निव्विण्णा कामभोगाण, मुक्कपाया पावलेवेण, विन्नायपरमपयसरूवा, आसन्ना सिद्धिसंपत्तीए, ते सत्तिया उत्तिमपुरिसा सग्ग-निव्वाणसमारुहणवत्तिणीए, वुहजणपसंसणिज्जाए, सयलकहासुन्दराए, महापुरिससेवियाए धम्मकहाए चेव अणुसज्जन्ति ॥

तओ अहं पि इयाणिं दिव्व-माणुसवत्थुगयं धम्मकहं चेव कित्तइस्सामि। भणियं च अकयपरोवयारनिरएहिं, उवलद्धपरमपयमग्गेहिं, समतिण-मणि-मुत्त-लेट्ठु-कञ्चणेहिं सासयसिवसोक्खबद्धराएहिं धम्मसत्थयारेहिं :—

धम्मेण कुलपसूई धम्मेण य दिव्वरूवसंपत्ती।
धम्मेण धणसमिद्धी धम्मेण सुवित्थडा कित्ती ॥
धम्मो मङ्गलमउलं ओसहमउलं च सव्वदुक्खाणं।
धम्मो वलमवि विउलं धम्मो ताणं च सरणं च ॥
किं जंपिएण वहुणा ? जं जं दीसइ समत्थजियलोए।
इन्दिय-मणाभिरामं तं तं धम्मप्फलं सव्वं ॥
भीमम्मि मरणकाले मोत्तूण दुक्खसंविढत्तं पि।
अत्थं देहं सयणं धम्मो च्चिय होइ सुसहाओ ॥
पावेइ य सुरलोयं तत्तो वि सुमाणुसत्तणं धम्मो।
तत्तो दुक्खविमोक्खं सासयसोक्खं लहुं मोक्खं ॥

अविनिश्चितमतयः, ते राजसा मध्यमपुरुषा बहुजनोपहसनीयायाम्, विडम्बनमात्रप्रतिबद्धायाम्, इह परभवे च दुःखसंवर्धिकायां कामकथायाम्–अनुषजन्ति। ये पुनर्मनाक् सुन्दरतराः, सापेक्षा उभयलोकेषु, कुशला व्यवहारनयमतेन, परमार्थतः सारविज्ञानरहिताः, क्षुद्रभोगेषु अवहुमानिनः, अवितृष्णाः उदारभोगानाम्, ते किञ्चित् सात्त्विका मध्यमपुरुषाश्चैव आशयविशेषतः सुगति–दुर्गतिवर्तिन्याम्, जीवलोकस्वभावविभ्रमायाम्, सकलरसनिःष्यन्दसंगतायाम्, विविधभावप्रसूतिनिबन्धनाया संकीर्णकथायाम्–अनुषजन्ति। ये पुनर्जाति–जरामरणजनितवैराग्याः, जन्मान्तरेऽपि कुशलभावितमतयः, निर्विण्णाः कामभोगेभ्यः, मुक्तप्रायाः पापलेपेन, विज्ञातपरमपदस्वरूपाः, आसन्नाः सिद्धिसप्राप्त्यैः ते सात्त्विका उत्तमपुरुषाः स्वर्ग–निर्वाणसमारोहणवर्तिन्याम्, बुधजनप्रशंसनीयायाम्, सकलकथासुन्दरायाम्, महापुरुषसेविताया धर्मकथायामेव अनुषजन्ति ॥

ततोऽहमपि इदानी दिव्य–मानुषवस्तुगतां धर्मकथामेव कीर्तयिष्यामि। भणितं च अकृतपरोपकारनिरतैः, उपलब्धपरमपदमार्गैः, सम–तृण–मणि–मुक्ता–लेष्टु–काञ्चनैः शाश्वतशिवसौख्यवद्धरागैर्धर्मशास्त्रकारैः–

धर्मेण कुलप्रसूतिः, धर्मेण च दिव्यरूपसंप्राप्तिः।
धर्मेण धनसमृद्धिः, धर्मेण सुविस्तृता कीर्तिः ॥
धर्मो मङ्गलमतुलम्, औषधमतुलं च सर्वदुःखानाम्।
धर्मो वलमपि विपुलं धर्मः त्राणं च शरणं च ॥
किं जल्पितेन वहुना ? यद् यद् दृश्यते समस्तजीवलोके।
इन्द्रिय–मनोऽभिरामं तत् तद् धर्मफलं सर्वम् ॥
भीमे मरणकाले मुक्त्वा दुःखसमर्जितमपि।
अर्थं देह स्वजनं, धर्मश्चैव भवति सुसहायः ॥
प्रापयति च सुरलोकम् ततोऽपि सुमनुष्यत्वं धर्मः।
ततो दुःखविमोक्षं शाश्वतसौख्यं लघु मोक्षम् ॥

त कुणइ जाणमाणो, जाणइ य सुणेइ जो उ मज्झत्थो ।
कुसलो य धम्मियाओ कहाउ सव्वन्नुभणियाओ ।।
ता पढमं धम्मगुण पडुच्च चरियं अहं पवक्खामि ।
आराहगे-यराणं गुणदोसविभावण परम ।।
नवपुव्वभवनिवद्धं संवेगकर च भव्वसत्ताणं ।
चरियं समराइच्चस्स ऽवन्तिरन्नो सुणह, वोच्छं ।।
एत्थं वहुया उ भवा दोण्ह वि उवओगिणो न ते सव्वे ।
नवसु परोप्परजोगो जत्तो सखा इमा भणिया ।।
जह तेणेव भगवया गिरिसेणुवसग्गसहणपज्जन्ते ।
सजायकेवलेण सिट्ठं वेलधरसुरस्स ।।
मुणिचन्दस्स य रन्नो देवीए य नम्मयापहाणाणं ।
सखेवेण फुडत्थ अहमवि त सपवक्खामि ।।

भणियं च पुव्वायरिएहिं —

"गुणसेण-अग्गिसम्मा सीहा-ऽऽणन्दा य तह पिया-उत्ता ।
सिहि-जालिणि माइ-सुया धण-धणसिरिमो य पइ-भज्जा ।।
जय-विजया य सहोयर धरणो लच्छी य तह पई-भज्जा ।
सेण-विसेणा पित्तिय-उत्ता जम्मम्मि सत्तमए ।।
गुणचन्द-वाणमंतर समराइच्च गिरिसेणपाणो उ ।
एक्कस्स तओ मोक्खो वीयस्स अणन्तससारो ।।
नगराइ-खिइपइट्ठं जयउर-कोसंवि-सुसम्मनयर च ।
कायन्दी, मायन्दी, चम्पा, ओज्झा, य उज्जेणी ।।
गुणसेणस्सुववाओ सोहम्म-सणंकुमार-वम्भेसु ।
सुक्का-ऽऽणया-ऽऽरणेसुं गेवेज्जा-ऽणुत्तरेसुं च ।।
इयरस्स उ उववाओ विज्जुकुमारेसु होइ नायव्वो ।
सेसो अणन्तरो उण रयणाईसुं अहक्कमसो ।।
सागरमेगं पञ्च य नव-पण्णरसेव तह य अट्ठारा ।
वीसं तीसं तेत्तीसमेव पढमस्स देवेसु ।।

त करोति जानन्, जानाति च शृणोति यस्तु मध्यस्थः ।
कुशलश्च धार्मिकी कथा सर्वज्ञभणिताः ॥
तस्मात् प्रथम धर्मगुणं प्रतीत्य चरितमह प्रवक्ष्यामि ।
आराधके तराणा गुण-दोषविभावनं परमम् ॥
नवपूर्वभवनिबद्धं सवेगकर च भव्यसत्त्वानाम् ।
चरित समरादित्यस्य अवन्तीराजस्य शृणुत, वक्ष्ये ॥
अत्र बहुकास्तु भवाः द्वयोरपि उपयोगिनो न ते सर्वे ।
नवसु परस्परयोगो यतः सख्या इय भणिता ॥
यथा तेनैव भगवता गिरिसेनोपसर्गसहनपर्यन्ते ।
सजातकेवलेन शिष्ट वेलधरसुरस्य ॥
मुनिचन्द्रस्य च राज्ञः देवीना च नर्मदाप्रधानानाम् ।
सक्षेपेण स्फुटार्थम्, अहमपि तं सप्रवक्ष्यामि ॥

भणितं च पूर्वाचार्यै —

"गुणसेन-अग्निशर्माणौ सिंहा-ऽऽनन्दौ च तथा पितृ-पुत्रौ ।
शिखि-जालिन्यौ मातृ-सुते धन-धनश्रियौ च पति-भार्ये ॥
जय-विजयौ च सहोदरौ धरणो लक्ष्मीश्च तथा पति-भार्ये ।
सेन-विसेनौ पितृव्य-पुत्रौ जन्मनि सप्तमके ॥
गुणचन्द्र-वानव्यन्तरौ समरादित्यः गिरिसेनप्राणस्तु ।
एकस्य ततो मोक्ष द्वितीयस्य अनन्तससार ॥
नगरादि-क्षितिप्रतिष्ठम्, जयपुर-कौशाम्वी-सुशर्मनगर च ।
काकन्दी माकन्दी चम्पा अयोध्या च उज्जयिनी ॥
गुणसेनस्योपपातः, सौधर्म-सनत्कुमार-ब्रह्मेषु ।
शुक्रा-ऽऽनता-ऽऽरणेषु ग्रैवेयका-ऽनुत्तरेषु च ॥
इतरस्य च उपपात विद्युत्कुमारेषु भवति ज्ञातव्यः ।
शेषोऽनन्तर पुना रत्नादिषु यथाक्रमशः ॥
सागरमेकं पञ्च च नव पञ्चदशैव तथा चाष्टादश ।
विंशतिः, त्रिंशत्, त्रयस्त्रिंशद् एव प्रथमस्य देवेषु ॥

देवेसु पइढपलियं सागरतिय सत्त दस य सत्तरस ।
बावीस तेत्तीसं वीयस्स ठिई उ नरएसु" ॥

एवमेयाओ चरियसंगहणिगाहाओ ।

सपयं एयासि चेव गुरुवएसाणुसारेणं वित्थरेणं भावत्थो कहिज्जइ-

देवेषु सार्धपल्यम्, सागरत्रिक सप्त दश च सप्तदश ।
द्वाविशति', त्रयस्त्रिशद् द्वितीयस्य स्थितिस्तु नरकेषु" ।।
एवमेता चरितसग्रहणोगाथा. ।
साप्रतमेतासा चैव गुरूपदेशानुसारेण विस्तरेण भावार्थः कथ्यते—

पढमो भवो

अत्थि इहेव जम्बुद्दीवे दीवे, अवरविदेहे वासे, उत्तुङ्गधवलपागारमण्डियं, नलिणिवणसछन्नपरिहासणाह, सुविभत्ततिय-चउक्क-चच्चर भवणेहिं जियसुरिन्दभवणसोह खिइपइट्ठिय नाम नयरं ॥ जत्थ विलयाउ कमलाइ कोईल कुवलयाइं कलहंसे। वयणेहि जपिएण य नयणेहि गईहि य जिणन्ति ॥

जत्थ यनराण वसण विज्जासु, जसम्मि निम्मले लोहो।
पावेसु सया भीरुत्तणं, च धम्मम्मि घणबुद्धी ॥
तत्थ य राया संपुण्णमण्डलो मयकलङ्कपरिहीणो ।
जणमणनयणाणन्दो नामेणं पुण्णचन्दो त्ति ॥
अन्तेउरप्पहाणा देवी नामेण कुमुइणी तस्स ।
सइ वड्ढियविसयसुहा इट्ठा य रइ व्व मयणस्स ॥
ताण य सुओ कुमारो गुणसेणो नाम गुणगणाइण्णो ।
वालत्तणओ वतरसुरो व्व केलिप्पिओ, णवरं ॥

तम्मि य नयरे अतीव सयलजणवहुमओ, धम्मसत्थसघायपाढओ, लोगववहार-नीइकुसलो, अप्पारम्भ-परिग्गहो, जन्नदत्तो नाम पुरोहिओ त्ति । तस्स य सोमदेवागब्भसभओ, महल्लतिकोणुत्तिमङ्गो, आपिङ्गल-वट्टलोयणो, ठाणमेत्तोवलक्खियचिविडनासो, विलमेत्तकण्णसन्नो, विजिय-दन्तच्छयमहल्लदसणो, वंकसुदीहरसिरोहरो, विसमपरिहस्सवाहुजुयलो, अइमडहवच्छत्थलो, वंकविसमलम्वोयरो, एक्कपासुन्नयमहल्लवियडकडियडो, विसमपइट्ठिऊरुजुयलो, परिथूलकढिणहस्सजङ्घो, विसमवित्थिण्णचलणो,

प्रथमो भवः

अस्ति इहैव जम्बूद्वीपे द्वीपे, अपरविदेहे वर्षे, उत्तुङ्गधवलप्राकार-मण्डितम्, नलिनीवनसच्छन्नपरिखासनाथम्, सुविभक्तत्रिक-चतुष्कचत्वरम्, भवनैर्जितसुरेन्द्रभवनशोभ क्षितिप्रतिष्ठित नाम नगरम् ।

यत्र वनिताः कमलानि कोकिला कुवलयानि कलहसान् ।
वदनैः जल्पितेन च नयनैः गतिभिश्च जयन्ति ।।
यत्र च नराणा व्यसन विद्यासु, यशसि निर्मले लोभः ।
पापेषु सदा भीरुत्व च धर्मे धनबुद्धि· ।।
तत्र च राजा सपूर्णमण्डलो मृग (मद) कलङ्कपरिहीणः ।
जनमनो-नयनानन्दो नाम्ना पूर्णचन्द्र इति ।।
अन्त पुरप्रधाना देवी नाम्ना कुमुदिनी तस्य ।
सदा वर्धितविषयसुखा इष्टा च रतिरिव मदनस्य ।।
तयोश्च सुत कुमारो गुणसेनो नाम गुणगणाकीर्ण ।
वालत्वत व्यन्तरसुर इव केलिप्रिय·, नवरम्—।।

तस्मिश्च नगरे अतीव सकलजनवहुमत·, धर्मशास्त्रसंघातपाठकः, लोकव्यवहार-नीतिकुशलः, अल्पारम्भ-परिग्रहो यज्ञदत्तो नाम पुरोहित इति । तस्य च सोमदेवागर्भसभूत., महात्रिकोणोत्तमाङ्ग., आपिङ्गलवृत्त-लोचन , स्थानमात्रोपलक्षितचिपिटनास , विलमात्रकर्णसज्ञ·, विजितदन्त-च्छदमहादशनः, वक्रसुदीर्घशिरोधर , विषमपरिह्रस्ववाहुयुगल , अतिलघु-वक्ष स्थल·, वक्रविषमलम्बोदरः, एकपार्श्वोन्नतमहाविकटकटीतट , विपम-प्रतिष्ठितोरुयुगलः, परिस्थूलकठिनह्रस्वजङ्घ. विपमविस्तीर्णचरण ,

हुतहुयवहसिहाजालपिङ्गकेसो, अग्गिसम्मो नाम पुत्तो त्ति। तं च कोउहल्लेण कुमारगुणसेणो पहयपडुपडह-मुइङ्ग-वंस-कसा-लयप्पहारेण महया तूरेण नयरजणमज्झे सहत्थताल हसन्तो नच्चावेइ, रासहम्मि आरोवियं, पहट्ठवहुडिम्भविन्दपरिवारियं, छित्तरमयधरियपोण्डरीयं, मणहरुत्तालवज्जन्तडिण्डिमं, आरोत्रियमहारायसद्द, वहुसो रायमग्गे सुतुरियतुरियं हिण्डावेइ। एव च पइदिण कयन्तेणेव तेण कयत्थिज्जन्तस्स तस्स वेरग्गभावणा जाया। चिन्तिय च णेण—

वहुजणविक्कारहया ओहसणिज्जा य सव्वलोयस्स ।
पुव्वि अकयसुपुण्णा सहन्ति परपरिभव पुरिसा ॥
जइ ता न कओ धम्मो सप्पुरिसनिसेविओ अहन्नेणं ।
जम्मन्तरम्मि धणिय सुहावहो मूढहियएणं ॥
एणिह पि फलविवाग उग्ग दट्ठूणमकयपुण्णाण।
परलोयवन्धुभूय करेमि मुणिसेविय धम्म ॥
जम्मन्तरे वि जेण पावेमि न एरिस महाभीमं ।
सयलजणोहसणिज्ज विडम्वण दुज्जणजणाओ ॥

एव च चिन्तिय पवन्नवेरग्गमग्गो निग्गओ नयराओ, पत्तो य मासमेत्तेण कालेण तव्विसयसन्धिसठिय, वउल-चम्पगा-ऽसोग-पुन्नाग-नागाउल, पमन्तमय-मयाहिवपमूहविरुद्धसावयगणं, सुरहिहविगन्धगब्भिणुद्दामधूमपडल, विमलसलिलगिरि-नईपसाहियवियडपेरन्तं, तावसजणजणियहियियपरिओस सुपरिओसं नाम तवोवण ति।

सणाविऊण य तओ दीहद्धाणपरिखेइयसरीरो ।
वीसमिऊण मुहुत्त तवोवण अह पविट्ठो सो ॥
दिट्ठो य तेण वक्कल-वियडजडा-ऽजिण-तिदण्डधारी य ।
भूइरयकयतिपुण्डो आसन्नकमण्डलू सोमो ॥
भिसियाए सुहनिसण्णो कयलीहरयन्तरम्मि झाणगओ ।
परिवत्तेन्तो दाहिणकरेण रुद्दक्खमाल ति ॥

हुतवहशिखाजालपिङ्गकेशः, अग्निशर्मा नाम पुत्र इति । तं च कुतूहलेन कुमारगुणसेन· प्रहतपटुपटह-मृदङ्ग-वश-कास्यक-लयप्रधानेन महता तूर्येण नगरजनमध्ये सहस्ततालं हसन् नर्तयति, रासभे आरोपितम्, प्रहृष्टवहुडिम्भ-वृन्दपरिवारितम्, जीर्णशूर्पमयधृतपुण्डरीकम् मनोहरोत्तालवाद्यमानडिण्डिमम्, आरोपितमहाराजशब्दम्, बहुशो राजमार्गे सुत्वरितत्वरित हिण्डयति । एवं प्रतिदिनं कृतान्तेनेव तेन कदर्थ्यमानस्य तस्य वैराग्यभावना जाता । चिन्तितं चानेन—

बहुजनधिक्कारहता अपहसनीयाश्च सर्वलोकस्य ।
पूर्वमकृतसुपुण्या· सहन्ते परपरिभव पुरुषा· ।।
यदि तावद् न कृतो धर्मः सुपुरुषनिपेवितोऽधन्येन ।
जन्मान्तरे गाढं सुखावहो मूढहृदयेन ।।
एतेनेहापि फलविपाकमुग्रं दृष्ट्वाऽकृतपुण्यानाम् ।
परलोकवन्धुभूतं करोमि मुनिसेवित धर्मम् ।।
जन्मान्तरेऽपि येन प्राप्नोमि नैतादृशी महाभीमाम् ।
सकलजनोपहसनीया विडम्बना दुर्जनजनात् ।।

एवं च चिन्तयित्वा प्रपन्नवैराग्यमार्गो निर्गतो नगरात्, प्राप्तश्च मासमात्रेण कालेन तद्विषयसंधिसंस्थितम्, वकुल-चम्पका-ऽशोक-पुन्नाग-नागाकुलम्, प्रशान्तमृग-मृगाधिपप्रमुखविरुद्धश्वापदगणम्, सुरभिहविर्गन्धगर्भितोद्दामधूमपटलम्, विमलसलिलगिरि-नदीप्रसाधितविकटपर्यन्तम्, तापसजनजनितहृदयपरितोषं सुपरितोष नाम तपोवनमिति ।

संप्राप्य च ततो दीर्घाध्वपरिखेदितशरीरः ।
विश्रम्य मुहूर्तं तपोवनमथ प्रविष्ट· स· ।।
दृष्टश्च तेन वल्कल-विकटजटा-ऽजिन-त्रिदण्डधारी च ।
भूतिरजस्कृतत्रिपुण्ड्र आसन्नकमण्डलुः सोम· ।।
वृषिकाया (कुशासने) सुखनिपण्ण कदलीगृहान्तरे ध्यानगतः ।
परिवर्तयन् दक्षिणकरेण रुद्राक्षमालामिति ।।

मन्तक्खरजवणेण य ईसिं वियलन्तकण्ठउट्ठउडो ।
नासाए निमियदिट्ठी विणिवारियसेसवावारो ॥
अयसिमयजोगपट्टयपमाणसगयकयासणविसेसो ।
तावसकुलप्पहाणो अज्जवकोडिण्णनामो त्ति ॥

पेच्छिऊण य हरिसवसुल्लसियरोमञ्चेण, धरणिनिमियजाणु-करयलेण, उत्तिमङ्गेण पुणो पुणो पहयखिइतलेण 'अहो! धन्नो, अहो! धन्नो' त्ति भणमाणेण पणमिओ तेण । तेण वि य त तहा पेच्छिऊण अतिहिवहुमाणकरणलालसेण भाणजोग पमोत्तूण सागयवयणपुरस्सर 'अहो ! आसण आसण' ति भणमाणेण बहुमन्निओ । तओ उडयङ्गण-निसेवितावसकुमारोवणीए इसिणा य 'उवविससु एत्थ' त्ति भणिओ सविणयं उवविट्ठो विट्ठरे त्ति । पुच्छिओ इसिणा—'कुओ भव आगओ ?' त्ति । तओ तेण सवित्थरो निवेइओ से अत्तणो वुत्तन्तो । भणिओ य इसिणा—वच्छ ! पुव्वकयकम्मपरिणइवसेण एव परिकिलेसभाइणो जीवा हवन्ति । ता नरिन्दावमाणपोडियाण, दारिद्ददुक्खपरिभूयाण, दोहग्ग-कलङ्कङ्कियाण, इट्ठजणविओगदहणतत्ताण य एय पर इह-परलोयसुहा-वह परमनिव्वुइट्ठाण ति । एत्थ—

पेच्छति न सङ्कुकय दुक्खं अवमाणण च लोगाओ ।
दोग्गइपडण च तहा वणवासी सव्वहा धन्ना ॥

एवमणुसासिएण भणिय अग्गिसम्मेण—भगवं ! एवमेयं, न सदेहो त्ति । ता जइ भयवओ ममोवरि अणुकम्पा, उचिओ वा अहं एयस्स वयविसेसस्स, ता करेहि मे एयवयप्पयाणेणाणुग्गहं ति । इसिणा भणियं—वच्छ ! वेरग्गमग्गाणुगओ तुम ति करेमि अणुग्गहं, को अन्नो एयस्स उचिओ त्ति । तओ अइक्कन्तेसु कइवयदिणेसु संसिऊण य सवि-त्थरं नियमायारं, पसत्थे तिहिकरण-मुहुत्त-जोग-लग्गे दिन्ना से तावस-दिक्खा । महापरिभवजणियवेरग्गाइसयभाविएण याणेण तम्मि चेव दिक्खादिवसे नयन्ततावसलोयपरियग्गियगुरुसमक्खं कया महापइन्ना । जहा-जावज्जीवं मए मासाओ मासाओ चेव भोत्तव्वं, पारणगदिवसे य

मन्त्राक्षरजपनेन च ईषद् विचलत्कण्ठोष्ठपुटः ।
नासया निमितदृष्टिः विनिवारितशेषव्यापारः ॥
अतसीमययोगपट्टकप्रमाणसगतकृतासनविशेषः ।
तापसकुलप्रधानः आर्जवकौण्डिन्यनामेति ॥

प्रेक्ष्य च हर्षवशोल्लसितरोमाञ्चेन, धरणीनिमितजानुकरतलेन, उत्तमाङ्गेन पुन. पुनः प्रहतक्षितितलेन 'अहो ! धन्यः, अहो ! धन्य.' इति भणता प्रणतस्तेन । तेनाऽपि च त तथा प्रेक्ष्य अतिथिवहुमानकरण-लालसेन ध्यानयोग प्रमुच्य स्वागतवचनपुरस्सरम् 'अहो ! आसनम् आसनम्' इति भणता बहुमानितः। तत उटजाङ्गणनिषेवितापसकुमारोपनीते ऋषिणा च 'उपविश अत्र' इति भणितः सविनयम् उपविष्टो विष्टरे इति। पृष्ट ऋषिणा-'कुतो भवान् आगत' ? इति । ततस्तेन सविस्तरो निवेदित-स्तस्य आत्मनो वृत्तान्त । भणितश्च ऋषिणा-वत्स ! पूर्वकृतकर्मपरिण-तिवशेनैव परिक्लेशभागिनो जीवा भवन्ति । तस्माद् नरेन्द्रापमानपीडि-तानाम्, दारिद्र्यदुःखपरिभूतानाम्, दौर्भाग्य-कलङ्कदूनानाम्, इष्टजनवि-योगदहनतप्तानां चैतत् पर इह-परलोकसुखावह परमनिर्वृत्तिस्थानमिति । अत्र—

प्रेक्षन्ते न संगकृतं दुःखम्, अवमाननं च लोकात् ।
दुर्गतिपतन च तथा वनवासिनः सर्वथा धन्या ॥

एवमनुशासितेन भणितमग्निशर्मणा-भगवन् ! एवमेतत्, न संदेह इति । तस्माद् यदि भगवतो ममोपरि अनुकम्पा, उचितो वा अह एतस्य व्रतविशेषस्य, तस्मात् कुरु मम एतद्व्रतप्रदानेन अनुग्रहमिति । ऋषिणा भणितम्-वत्स ! वैराग्यमार्गानुगतस्त्वमिति करोमि अनुग्रहम्, कोऽन्य एतस्य उचित इति । ततोऽतिक्रान्तेषु कतिपय दिनेषु शंसित्वा च सवि-स्तरं निजकमाचारम्, प्रशस्ते तिथि-करणमुहूर्त-योग-लग्ने दत्ता तस्य तापसदीक्षा । महापरिभवजनितवैराग्यातिशयभावितेन चानेन तस्मिन्नेव दीक्षादिवसे सकलतापसलोकपरिकरितगुरुसमक्षं कृता महाप्रतिज्ञा । यथा-यावज्जीव मया मासाद् मासाद् एव भोक्तव्यम्, पारणकदिवसे च

पढमपविट्ठेण पढमगेहाओ चेव लाभे वा अलाभे वा नियत्तियव्वं, न गेहन्तरमभिगन्तव्व ति । एवं च कयपइन्नस्स तस्स जहाकयं पइन्नमणुपालिन्तस्स अइक्कन्ता बहवे पुव्वलक्खा । तवोवणासन्नवसन्तउरनिवासिणो य लोयस्स गुणराइणो जाओ तं पइ अईव भत्तिबहुमाणो । अहो ! अय महातवस्सी इहलोयनिप्पिवासो, सरीरे वि दढमप्पडिबद्धो, एयस्स सफलं जीवियं ति । भणियं च—

जणपक्खवायबहुमाणिणा वि जत्तो गुणेसु कायव्वो ।
आवज्जन्ति गुणा खलु अबुह पि जण अमच्छरियं ।।

इओ य पुण्णचन्दो राया कुमारगुणसेण कयदारपरिग्गह रज्जे अभिसिञ्चिऊण सह कुमुइणीए देवीए तवोवणवासी जाओ । सो य कुमारगुणसेणो असेयसामन्तपणिवइयचलणजुयलो, निज्जियनियमण्डलाहियारोगमण्डलो, दसदिसि विसट्टनिम्मलविस्सुयजसो, धम्म-त्थ-कामलक्खणतिवग्गसपायणरओ महाराया सवुत्तो त्ति । अन्नया य कालक्कमेणेव जहासुहं सयलजणसलाहणिज्जं सह वसन्तसेणाए महादेवीए रज्जसोक्ख अणुहवन्तो आगओ वसन्तउरं, पविट्ठो य महामङ्गलोवयारेण, पूजिओ य पउरेहिं, गओ सम तेहिं पाउसलीलावलम्बिसोहिय विमाणच्छन्दय नाम पासायं । जत्थ मेहदुद्दिणच्छायाणुयारिणीओ वहल-कालागरुधूमसंतईओ, सोयामणीओ विव विहायन्ति रयणावलीओ, जलधाराओ व्विव दीसन्ति मुत्तावलीओ, वलायापन्तियाओ विव विहायन्ति चमरपन्तियाओ, इन्दाउहच्छायावहारिणीओ पलम्बियाओ पट्ट सुयमालाओ, गन्धोयगावसेयसुरभिगन्धा भूमिभागा, रुणढन्तमहुयरकुलाउलावइण्णा पुप्फोवयारा किं वहुणा जपिएण ? ।

पुरिसाण मोहनिद्दासुत्ताण वि सिमिणय पिव कहेइ ।
पुव्वि कयाण वियडं फलं च जो भागधेयाण ।।

तत्थ य जहागुरुवं पउरजण सम्माणेऊण, विसज्जिएसु तेसु, विविहणाडय-च्छन्द-नट्टियाइणा मणहरेण विणोएण विगमिऊण तं

प्रथमप्रविष्टेन प्रथम गेहाद् एव लाभे वाऽलाभे वा निवर्तितव्यम्, न गेहान्तरमभिगन्तव्यमिति । एव च कृतप्रतिज्ञस्य तस्य यथाकृता प्रतिज्ञामनुपालयतोऽतिक्रान्तानि वहूनि पूर्वलक्षाणि । तपोवनासन्नवसन्तपुरनिवासिनश्च लोकस्य गुणरागिणो जातस्तं प्रति अतीव भक्ति-वहुमान' । अहो ! अयं महातपस्वी इहलोकनिष्पिपासः, शरीरेऽपि दृढमप्रतिवद्धः, एतस्य सफलं जीवितमिति । भणित च—

जनपक्षपातवहुमानिनाऽपि यत्नो गुणेषु कर्तव्य' ।
आवर्जयन्ति गुणा' खलु अवुधमपि जनमात्सर्यम् ।।

इतश्च पूर्णचन्द्रो राजा कुमारगुणसेनं कृतदारपरिग्रहं राज्येऽभिषिच्य सह कुमुदिन्या देव्या तपोवनवासी जातः । स च कुमारगुणसेनोऽनेकसामन्तप्रणिपतितचरणयुगल निर्जितनिजमण्डलाधिकानेकमण्डल. दशदिशि विसृष्टनिर्मलविश्रुतयशाः, धर्माऽर्थ-कामलक्षणत्रिवर्गसपादनरतो महाराजः संवृत्त इति । अन्यदा च कालक्रमेणैव यथासुख सकलजनश्लाघनीयं सह वसन्तसेनया महादेव्या राज्यसौख्यमनुभवन् आगतो वसन्तपुरम्, प्रविष्टश्च महामङ्गलोपचारेण, पूजितश्च पौरैः, गतः समं तै' प्रावृड्लीलावलम्विशोभितं विमानच्छन्दक नाम प्रासादम् । यत्र मेघदुर्दिनच्छायानुकारिण्यो वहलकालागुरुधूमसततयः, सौदामिन्य इव विभान्ति रत्नावल्यः, जलधारा इव दृश्यन्ते मुक्तावल्य', वलाकापङ्क्तय इव विभान्ति चामरपङ्क्तिकाः, इन्द्रायुधच्छायापहारिण्यः प्रलम्बिता पट्टांशुकमाला', गन्धोदकावसेकसुरभिगन्धा भूमिभागा', रटन्मधुकरकुलाकुलावतीर्णा, पुष्पोपचाराः । किं वहुना जल्पितेन ?

पुरुषाणा मोहनिद्रासुप्तानामपि स्वप्नमिव कथयति ।
पूर्वकृताना विकट फल च यो भागधेयानाम् ।।

तत्र च यथानुरूपं पौरजनं समान्य विसर्जितेषु तेषु विविध-नाटक-च्छन्द-नर्तितादिना मनोहरेण विनोदेन विगम्य तद्,

अहोरत्तं, बिइयदिवसम्मि य संपाइयसयलगोस-किच्चो उचियवेलाए चेव निग्गओ वाहियालिं। परिवाहिया य तेण बहवे वल्हीय-तुरुक्क-वज्ज-राइया आसा। तज्जणियखेयावणयणनिमित्तं च उवविट्ठो वाहियालीतड-निविट्ठे सहस्सम्बवणुज्जाणे। एत्थन्तरम्मि गहियनारङ्गकढणया आ-गया दुवे तावसकुमारया। दिट्ठो य णेहि राया, अभिनन्दिओ य सस-मयपसिद्धाए आसीसाए। अब्भुट्ठाणासणपयाणाइणा उवयारेण वहुमन्निया य राइणा। भणियं च णेहिं-महाराय! सुगिहीयनामधेएण अम्हे कुल-वइणा भवओ चउरासमगुरुस्स, सुकयधम्माधम्मववत्थस्स सरीरपउत्तिप-रियाणणनिमित्तं पेसिया। एवं सोऊण सपय तुमं पमाण ति। राइणा भणियं—कहि सो भयवं! कुलवइ? त्ति। तेहिं भणिय-इओ नाइदूरे सुपरिओसनामे तवोवणे त्ति। तओ य सो राया भत्ति-कोउगेहिं गओ तं तवोवणं ति। दिट्ठा य तेणं तत्थ वहवे तावसा, कुलवई य। तओ सजायसवेगेणं जहारिहमभिवन्दिया। उवविट्ठो कुलवइसमीवे, ठिओ य तेण सह धम्मकहावावारेण कचि काल। तओ भणिओ य णेण सवि-णयं पणमिऊण भयव कुलवई। जहा करेहि मे पसाय सयलपरिवारप-रिगओ मम गेहे आहारगहणेणं। कुलवइणा भणियं-वच्छ! एवं। कि तु एगो अग्गिसम्मो नाम महातावसो, सो य न पइदियह भुञ्जइ, किं तु मासाओ मासाओ, तत्थ वि य पारणगदिवसे पढमपविट्ठो पढमगेहाओ चेव लाभे वा अलाभे वा नियत्तइ, न गेहन्तरमुवगच्छइ। ता त महात-वस्सिं मोत्तूण पडिवन्ना ते पत्थणा। राइणा भणिय-भगवं! अणुगि-हीओ म्हि। अह कहिं पुण सो महातावसो? पेच्छामि ण ताव, करेमि तस्स दरिसणेण अप्पाणं विगयपावं। कुलवइणा भणिय-वच्छ! एयाए सहयारवीहियाए हेट्ठा झाणवरगओ चिट्ठइ। तओ सो राया ससभन्तो गओ सहयारवीहिय। दिट्ठो य तेण पउमासणोवविट्ठो, थिरधरियनयण-जुयलो, पसन्तविचित्तचित्तवावारो, किंपि तहाविहं झाण झायन्तो अग्गि-सम्मतावसो त्ति। तओ राइणा हरिसवसपयट्टन्तपुलएण पणमिओ। तेण विय आसीसाए सवहुमाणमेवाहिणन्दिओ, 'सागयं ते' भणिऊण 'उववि-साहि' त्ति संलत्तो। उववसिऊण सुहासणत्थेण भणिय राइणा-भयवं!

अहोरात्रम् द्वितीयदिवसे च संपादितसकलगोस (प्रभात) कृत्य· उचितवेलायां चैव निर्गतो वाह्यालीम् । परिवाहिताश्च तेन वहवो वाल्हीक-तुरुष्कवज्जरादिका अश्वा· । तज्जनितखेदापनयननिमित्त च उपविष्टो वाह्यालीतटनिविष्टे सहस्राम्रवनोद्याने । अत्रान्तरे गृहीतनारङ्गकठिनकौ आगतौ द्वौ तापसकुमारकौ । दृष्टश्च आभ्या राजा, अभिनन्दितश्च स्वसमयप्रसिद्धया आशिषा । अभ्युत्थानासनप्रदानादिनोपचारेण वहुमानितौ च राज्ञा । भणितं चाभ्याम्-महाराज ! सुविहितनामधेयेन आवां कुल-पतिना भवत चतुराश्रमगुरो सुकृतधर्माऽधर्मव्यवस्थस्य शरीरप्रवृत्तिपरि-ज्ञाननिमित्त प्रेपितौ । एवं श्रुत्वा साप्रत त्व प्रमाणमिति । राज्ञा भणि-तम्-कुत्र स भगवन् ! कुलपति· ? इति । ताभ्या भणितम्-इतो नातिदूरे सुपरितोषनाम्नि तपोवने इति । ततश्च स राजा भक्ति-कौतुकाभ्या गतस्तत् तपोवनमिति । दृष्टाश्च तेन तत्र वहवस्तापसा·, कुलपतिश्च । तत सजातसवेगेन यथार्हमभिवन्दिता । उपविष्टः कुलपतिसमीपे, स्थित-श्च तेन सह धर्मकथाव्यापारेण कंचित् कालम् । ततो भणितश्चानेन सविनयं प्रणम्य भगवान् कुलपति· । यथा कुरु मम प्रसाद सकलपरिवार-परिगतो मम गेहे आहारग्रहणेन । कुलपतिना भणितम्-वत्स ! एवम् । किन्तु एकोऽग्निशर्मा नाम महातापसः, स च न प्रतिदिवसं भुङ्क्ते, किन्तु मासाद् मासात्, तत्राऽपि च पारणकदिवसे प्रथमप्रविष्टप्रथमगेहाद् एव लाभे वाऽलाभे वा निवर्तते, न गेहान्तरमुपगच्छति । तस्मात् तं महातपस्विन मुक्त्वा प्रतिपन्ना तव प्रार्थना । राज्ञा भणितम्-भगवन् ! अनुगृहीतोऽस्मि । अथ कुत्र पुनः स महातापस· ? प्रेक्षे तं तावत्, करोमि तस्य दर्शनेन आत्मान विगतपापम् । कुलपतिना भणितम्-वत्स ! एतस्यां सहकारवीथिकायां अधस्ताद् ध्यानवरगतस्तिष्ठति । ततः स राजा ससंभ्रान्तो गत सहकारवीथिकाम्, दृष्टश्च तेन पद्मासनोपविष्टः, स्थिरधृत-नयनयुगलः, प्रशान्तविचित्रचित्तव्यापार·, किमपि तथाविध ध्यान ध्यायन् अग्निशर्मतापस इति । ततो राज्ञा हर्षवशप्रवर्तमानपुलकेन प्रणत· । तेनाऽपि च आशिषा सवहुमानमेव अभिनन्दित·, 'स्वागतं तव' भणित्वा 'उपविश' इति सलपित· । उपविश्य सुखासनस्थेन भणित राज्ञा-भगवन् !

किं ते इमस्स महादुक्करस्स तवचरणववसायस्स कारणं ? । अग्गिसम्मतावसेण भणियं-भो महासत्त ! दारिद्ददुक्खं, परपरिहवो, विरूवया, तहा महारायपुत्तो य गुणसेणो नाम कल्लाणमित्तो त्ति । तओ संजायनियनामासङ्केण भणियं राइणा—भयवं ! चिट्ठउ ताव दारिद्ददुक्खाइय ववसायकारणं, अह कहं पुण महारायपुत्तो गुणसेणो नाम कल्लाणमित्तो त्ति । अग्गिसम्मतावसेण भणियं-महासत्त ! एवं कल्लाणमित्तो । सुण-

> जे होन्ति उत्तमनरा धम्मं सयमेव ते पवज्जन्ति ।
> मज्झिमपयई सचोइया, उ न कयाइ वि जहन्ना ।।
> चोएइ य जो धम्मे जीवं विविहेण केणइ नएण ।
> संसारचारयगयं, सो नणु कल्लाणमित्तो त्ति ।।

तओ राइणा कुमारवुत्तन्तं सुमरिऊण भणियं लज्जावणयवयणेण—भयवं ! कहं पुण तुमं तेण तेलोक्कबन्धुभूए धम्मे चोइओ ? । अग्गिसम्मतावसेण भणियं—भो महासत्त ! नाणाविहाओ चोयणाओ, ता कहंचि निमित्तमेत्तेण चेव चोइओ म्हि । तओ राइणा चिन्तियं । अहो! से महाणुभावया-परिभवो वि याणेणोवयारचोयणं त्ति गहियो । परपरिवायं च परिहरन्तो सुद्धसहावत्तणओ न तं पि मन्नेइ । अहो ! दारुणं सकज्जं मए पावकम्मेणाणुचिट्ठियं । ता कहेमि से अकज्जायरणकलङ्कदूसियं अप्पाणं । एवं चिन्तिऊण जंपियमणेण—भयवं ! अहं सो महापावकम्मयारी तुह हिययसंतावयारी अगुणसेणो त्ति । अग्गिसम्मतावसेण भणियं—भो महाराय ! सागयं ते । कहं तुमं अगुणसेणो ?, जेण तए परपिण्डजीवियमेत्तविहवो अहं ईइसिं तवविभूइं पाविओ त्ति । राइणा भणियं—अहो ! ते महाणुभावया, किं वा तवस्सिजणो पियं वज्जिय अन्नं भणिउं जाणइ ? । न य मियङ्कबिम्बाओ अङ्गारवुट्ठीओ पडन्ति । ता अलं एइणा । भयवं ! कया ते पारणगं भविस्सइ ? अग्गिसम्मेण भणियं—महाराय ! पञ्चहिं दिणेहिं । राइणा भणियं-भयवं जइ ते नाईव उवरोहो, ता कायव्वो मम गेहे पारणएणं पसाओ । विन्नाओ य मए कुलवइणो सयासाओ तुज्झ पइन्नाविसेसो, अओ अणागयं पत्थेमि त्ति ।

कि तव अस्य महादुष्करस्य तपश्चरणव्यवसायस्य कारणम् ? अग्निशर्मताप सेन भणितम्-भो महासत्त्व ! दारिद्रयदु खम्, परपरिभव , विरूपता तथा महाराजपुत्रश्च गुणसेनो नाम कल्याणमित्रम्-इति। तत सजातनिज-नामाऽऽशङ्केन भणित राज्ञा-भगवन् ! तिष्ठतु तावद् दारिद्रयदु खादिकं व्यवसायकारणम्, अथ कथं पुनर्महाराजपुत्रो गुणसेनो नाम कल्याणमित्रम्-इति। अग्निशर्मतापसेन भणितम्-महासत्त्व ! एव कल्याणमित्रम्। शृणु-

ये भवन्ति उत्तमनरा धर्मं स्वयमेव ते प्रपद्यन्ते।
मध्यमप्रकृतव सचोदितास्तु न कदाचिदपि जघन्या.॥
चोदयति च यो धर्मे जीव विविधेन केनचिद् नयेन।
संसारचारकगतं स ननु कल्याणमित्रम्-इति॥

ततो राज्ञा कुमारवृत्तान्त स्मृत्वा भणितं लज्जावनतवदनेन-भगवन् ! कथं पुनस्त्व तेन त्रैलोक्यबन्धुभूते धर्मे चोदित: ?। अग्निशर्मतापसेन भणितम्-भो महासत्त्व ! नानाविधातश्चोदनात', तस्मात् कथचिद् निमित्तमात्रेण एव चोदितोऽस्मि। ततो राज्ञा चिन्तितम्। अहो ! अस्य महानुभावता, परिभवोऽपि चानेन उपकारचोदनेति गृहीत:। परपरिवादं च परिहरन् शुद्धस्वभावत्वाद् न तमपि मन्यते। अहो ! दारुणमकार्यं मया पापकर्मणाऽनुष्ठितम्। तस्मात् कथयामि तस्य अकार्याचरणकलङ्क-दूषितमात्मानम्। एव चिन्तयित्वा जल्पितमनेन-भगवन्! अहं स महा-पापकर्मकारी तव हृदयसतापकारी अगुणसेन इति। अग्निशर्मतापसेन भणितम्-भो महाराज ! स्वागत तव। कथ त्वमगुणसेन., येन त्वया परपिण्डजीवितमात्रविभव अह ईदृशी तपोविभूतिं प्रापित इति। राज्ञा भणितम्-अहो ! तव महानुभावता, किं वा तपस्विजन: प्रिय वर्जयित्वा अन्यद् भणितुं जानाति ?। न च मृगाङ्कबिम्बाद् अङ्गारवृष्टय. पतन्ति। तस्मात् अलमेतेन। भगवन् ! कदा तव पारणकं भविष्यति ? अग्निशर्मणा भणितम्-महाराज ! पञ्चभिर्दिनै। राज्ञा भणितम्-भगवन् ! यदि तव नातीव उपरोध, तस्मात् कर्तव्यो मम गेहे पारणकेन प्रसाद'। विज्ञातश्च मया कुलपते. सकाशात् तव प्रतिज्ञाविशेष', अतोऽनागतं प्रार्थयामीति।

अग्गिसम्मेण भणियं—महाराय ! आगच्छउ ताव सो दियहो, को जाणइ अन्तरे किंपि भविस्सइ। अवि य—

एय करेमि एण्हि एयं काऊण पुण इमं कल्ल।
काहिमि, को णु मन्नइ सुविणयतुल्लम्मि जियलोए ? ॥

अन्नं च महाराय !

धी जियलोयसहावो, जहियं नेहाणुरायकलिया वि।
जे पुव्वण्हे दिट्ठा ते अवरण्हे न दीसन्ति ॥

ता महाराय ! आगच्छउ ताव सो दियहो त्ति। राइणा भणियं-भयवं ! विग्घं मोत्तूण संगच्छह। अग्गिसम्मतावसेण भणियं-जइ एवं ते निव्वन्धो, ता एव पडिवन्ना ते पत्थणा। तओ राया पणमिऊण हरिसवसपुलइयङ्गो कंचि वेलं गमेऊण पविट्ठो नयरं। कया कुलवइणो सपरिवारस्स भत्तिविभवाणुरूवा पूया॥ अइक्कन्तेसु य पञ्चसु दिणेसु पारणगदिवसे पढमं चेव पविट्ठो अग्गिसम्मतावसो पारणगनिमित्तं रायगेहं ति। तम्मि य दियहे कहचि राइणो गुणसेणस्स अतीव सीसवेयणा समुप्पन्ना। तओ आउलीहूयं सव्वं चेव रायउलं। पविट्ठा य तत्थ वेज्जसत्थविसारया वेज्जा, उग्गाहेन्ति नाणाविहाओ चिगिच्छासहियाओ, पीसिज्जन्ति वहुविहाइं ओसहाइं, दिज्जन्ति सिरोखेयावहारिणो विचित्तरयणालेवा। किंकायव्वमूढा उवहसियसुक्क-विहस्सइवुद्धिविहवा वि मन्तिणो। पत्थुयं पुरोहिएहिं मन्तगब्भिणाहुइप्पयाणसारं सन्तिकम्मं। तहा मिलाणसुरहिमल्लदामसोहं, सुवण्णगड्ढवियलियङ्गरायं, वाहजलधोयकवोलपत्तलेहं, करयलपणामियपव्वायवयणपङ्कयं, उव्विग्गमन्तेउरं। तहा विरत्तकन्दुयकीलं, परिचत्तचित्तयम्मवावारं, विरयगीय-नच्चणारम्भं, अवहत्थियभूसणकलावं, दुम्मणविमणं कन्नयन्तेउरं। वेत्तजट्ठिनिमियविच्छायमुहसोहा य पडिहारा, रन्नो वेयणाइसयसूयगा, दुम्मणा मड्हकञ्चुइया, परिचत्तनिययवावारा, विचित्ता सूयगारप्पमुहा निओगकारिणो त्ति। तओ सो अग्गिसम्मतावसो एवंविहे

अग्निशर्मणा भणितम्–महाराज ! आगच्छतु तावत् स दिवसः, को जानाति अन्तरे किमपि भविष्यति । अपि च—

एतत् करोमि इदानी एतत् कृत्वा पुनरिदं कल्यम् ।
करिष्यामि, को नु मन्यते स्वप्नकतुल्ये जीवलोके ? ॥

अन्यच्च महाराज !

धिग् जीवलोकस्वभावम्, यत्र स्नेहानुरागकलिता अपि ।
ये पूर्वाह्णे दृष्टाः तेऽपराह्णे न दृश्यन्ते ॥

तस्मात् महाराज ! आगच्छतु तावत् स दिवस इति । राज्ञा भणितम्–भगवन् ! विघ्नं मुक्त्वा संगच्छन्ताम् । अग्निशर्मतापसेन भणितम्–यदि एवं तव निर्बन्धः, तस्माद् एव प्रतिपन्ना तव प्रार्थना । ततो राजा प्रणम्य हर्षवशपुलकिताङ्ग कांचिद् वेला गमयित्वा प्रविष्टो नगरम् । कृता कुलपतेः सपरिवारस्य भक्तिविभवानुरूपा पूजा । अतिक्रान्तेषु च पञ्चषु दिनेषु पारणकदिवसे प्रथममेव प्रविष्टोऽग्निशर्मतापसः पारणकनिमित्तं राजगेहमिति । तस्मिश्च दिवसे कथचिद् राज्ञो गुणसेनस्य अतीव शीर्षवेदना समुत्पन्ना । तत आकुलीभूत सर्वमेव राजकुलम् । प्रविष्टा च तत्र वैद्यशास्त्रविशारदा वैद्याः, उद्गाह्यन्ते नानाविधाः चिकित्सासंहिताः, पिष्यन्ते बहुविधानि औषधानि, दीयन्ते शिरःखेदापहारिणो विचित्ररत्नलेपाः । किंकर्तव्यमूढा उपहसितशुक्र–बृहस्पतिबुद्धिविभवा अपि मन्त्रिणः । प्रस्तुतं पुरोहितैः मन्त्रगर्भिताऽऽहुतिप्रदानसार शान्तिकर्म । तथा म्लानसुरभिमाल्यदामशोभम्, सुवर्णकाढ्यविचलिताऽङ्गरागम्, वाष्प—जलधौतकपोलपत्रलेखम्, करतलप्रणामितप्रवाधवदनपङ्कजम्, उद्विग्नम्–अन्तःपुरम् । तथा विरक्तकन्दुकक्रीडम्, परित्यक्तचित्रकर्मव्यापारम्, विरतगीत–नर्त्तनाऽऽरम्भम्, अपहस्तितभूषणकलापम्, दुर्मनोविमनः कन्यकान्तःपुरम् । वेत्रयष्टिनिमित–विच्छायमुखशोभाश्च प्रतीहाराः, राज्ञो वेदनातिशयसूचकाः, दुर्मनसो लघुकञ्चुकिनः, परित्यक्तनिजकव्यापाराः, विचित्राः सूपकारप्रमुखा नियोगकारिण इति । ततः सोऽग्निशर्मतापस एवंविधे

रायकुले कंचि वेल गमेऊण अयणमेत्तेणावि केणवि अकयपडिवत्ती निग्गओ रायगेहाओ त्ति । निग्गन्तूण गओ तवोवण, दिट्ठो य तावसेहिं, भणिओ य तेहिं-भयवं ! अकयपारणगो विव परिमिलाणदेहो लक्खिज्जसि, ता किं न कयं पारणयं ? न पविट्ठो इयाणि तत्थ रन्नो गुणसेणस्स गेह ? ति । अग्गिसम्मतावसेण भणियं-पविट्ठो अहं नरिन्दगेहं, किंतु सो नूणं अपडुसरीरो राया, जओ उव्विग्गपरियणं सव्वं चेव तं मए गेहमवलोइय, तओ अह त तहाविह दट्ठुमसंहतो लहु चेव निग्गओ त्ति । तावसेहिं भणियं-को सदेहो, दढमपडुसरीरो राया, अन्नहा कह तारिसीए तवस्सिजणभत्तीए भयवओ पारणग मुणेऊण सय चेव दत्तावहाणो न होइ ? अन्नं च-अईव भगवओ उवरि भत्तिबहुमाणो तस्स नरवइस्स, जेण कुलवइसमक्ख वहुयं सब्भूयगुणकित्तणं तेण कयं आसि । अग्गिसम्मतावसेण भणियं-आरोग्गं से हवउ गुरुयणपूयगस्स, किं मम आहारेण ति पडिवन्नो मासोववासवयं । इओ य राइणा गुणसेणेणं उवसन्तसीसवेयणेण पुच्छिओ परियणो । अज्ज तस्स महातवस्सिस्स पारणगदियहो, तो सो आगओ, पूइओ वा केणइ न वा ? त्ति । तेहिं सलत्तमहाराय ! आगओ आसि, किंतु तुह सीसवेयणाजणिअहिययसतावपरिचत्तनिययकज्जवावारे परियणे न केणइ सपूइओ, पुच्छिओ वा । अमुणियवुत्तन्तो य विचित्तं ते परियणमवलोइऊण कंचि काल गमेऊण उव्विग्गो विय निग्गओ रायगेहाओ त्ति । राइणा भणिय -अहो !! मे अहन्नया; चुक्को मि महालाभस्स, सपत्तो य तवस्सिजणदेहपीडाकरणेण महन्तं अणत्थं ति । एवं विलविऊणं विइयदियहे पहायसमए चेव गओ तवोवण । दिट्ठा य तेण कुलवइप्पमुहा वहवे तावसा, लज्जा-विणओणयउत्तिमङ्गेण पणमिया य णेणं विहिणा । अहिणन्दिओ य आसी साए कुलवइप्पमुहेहिं सव्वतावसेहिं । 'उवविससु महाराय ! सागय ते' भणिओ य कुलवइणा । तओ राया अवणउत्तिमङ्गो, सविसेसलज्जामन्थरो, विमुक्कदीहनीसासं उवविट्ठो कुलवइस्स पुरओ । त च तहा विचित्तं रायाण दट्ठूणं भणियमणेण—वच्छ ! उव्विग्गो विय लक्खीयसि, ता कहेहि मे उव्वेयकारणं, जइ अकहणीय न होइ । राइणा भणियं-अत्थि

राजकुले कांचिद् वेला गमयित्वा वचनमात्रेणाऽपि केनापि अकृतप्रतिपत्तिर्निर्गतो राजगेहादिति । निर्गत्य गतस्तपोवनम्, दृष्टश्च तापसै:, भणितश्च तैं-भगवन् ! अकृतपारणक इव परिम्लानदेहो लक्ष्यसे, तस्मात् किं न कृत पारणकम् ? न प्रविष्ट इदानी तत्र राज्ञो गुणसेनस्य गेहम् ? इति । अग्निशर्मतापसेन भणितम्—प्रविष्टोऽहं नरेन्द्रगेहम्, किन्तु स नूनम्-अपटुशरीरो राजा, यत उद्विग्नपरिजन सर्वमेव तद् मया गेहमवलोकितम्, ततोऽहं तत् तथाविध द्रष्टुमसहमान. लघु एव निर्गत इति । तापसैर्भणितम्—क: सदेह, दृढम्-अपटुशरीरो राजा, अन्यथा कथ तादृश्या तपस्विजनभक्त्या भगवत पारणकं ज्ञात्वा स्वयमेव दत्तावधानो न भवति ? । अन्यश्च-अतीव भगवत उपरि भक्तिबहुमान तस्य नरपते:, येन कुलपतिसमक्ष बहुक सद्भूतगुणकीर्तन तेन कृतमासीत् । अग्निशर्मतापसेन भणितम्-आरोग्य तस्य भवतु गुरुजनपूजकस्य, किं मम आहारेण इति प्रतिपन्नो मासोपवासव्रतम् । इतश्च राज्ञा गुणसेनेन उपशान्तशीर्षवेदनेन पृष्ट. परिजन । अद्य तस्य महातपस्विन पारणकदिवस:, तत स आगत., पूजितो वा केनचिद् न वा ? इति । तैं सलपितम्-महाराज ! आगत आसीत्. किन्तु तव शीर्षवेदनाजनितहृदयसतापपरित्यक्तनिजककार्यव्यापारे परिजने न केनचित् सपूजित:, पृष्टो वा । अज्ञातवृत्तान्तश्च विचित्र तव परिजनमवलोक्य कंचित् काल गमयित्वा उद्विग्न इव निर्गतो राजगेहादिति । राज्ञा भणितम्-अहो !! मम अधन्यता, च्युतोऽस्मि महालाभात्, संप्राप्तश्च तपस्विजनदेहपीडाकरणेन महान्तमनर्थमिति । एव विलप्य द्वितीयदिवसे प्रभातसमये चैव गतस्तपोवनम् । दृष्टाश्च तेन कुलपतिप्रमुखा बहव तापसा, लज्जा-विनयावनतोत्तमाङ्गेन प्रणताश्चानेन विधिना । अभिनन्दितश्च आशिषा कुलपतिप्रमुखै, सर्वतापसै. । 'उपविश महाराज ! स्वागतं तव' भणितश्च कुलपतिना । ततो राजा अवनतोत्तमाङ्ग-, सविशेषलज्जामन्थर, विमुक्तदीर्घनि.श्वासम्-उपविष्ट. कुलपते: पुरत । त च तथा विचित्र राजान दृष्ट्वा भणितमनेन—वत्स ! उद्विग्न इव लक्ष्यसे, तत कथय मम उद्वेगकारणम्, यदि अकथनीय न भवति । राज्ञा भणितम—अस्ति

भगवओ वि नाम अकहणीय । अन्न च—अकहणीयवत्थुविसउव्विग्गस्स न जुत्त तवोवणागमणं । कुलवइणा भणिय—साहु वच्छ ! साहु, उचिओ ते विवेगो, ता किं—उव्वेयकारण ? ति । राइणा भणियं—भगवओ आण त्ति करिय कहीयइ; अन्नहा कहं—ईइस निसंसचरियं कहिउं पारियइ ? । कुलवइणा भणियं—वच्छ ! सव्वस्स जणणीभूओ खु होइ तवस्सिजणो । तओ का त पइ लज्ज त्ति । ता कहेउ भवं, जेण मुणियवुत्तन्तो भविय केणइ उवाएण—ऽवणेमि त उव्वेय ति । राइणा भणियं—भयवं ! जइ एवं, ता सुणसु । एस अग्गिसम्मतावसो पढमं चेव मम मन्दपुण्णस्स, असमिक्खियकारिणो, असरिसजणसरिसायरणनिरयस्स संबन्धिणा निव्वेएण तावसो सवुत्तो । एयस्स पवन्नुत्तमवयस्स वि त मए असरिसजणायरणं न परिचत्त ति दढमुव्विग्गो म्हि । कुलवइणा भणियं—वच्छ ! जइ एवं, ता अलं संतप्पिएण, किं कारणं । जइ तुह सबन्धिणा कारणेण तावसो सवुत्तो, ता तुम चेव इमस्स धम्मपवत्तगो कल्लाणमित्तो त्ति; किमुव्विग्गो सि ? । न यावि एण्हि तुह परलोयभीरुणो, अहिगयधम्मसत्थस्स किंपि असज्जणायरण सभावेमि । कि वा से कयमियाणि निवेएहि मे । राइणा भणियं—भयव ! इयाणिं ताव एय उवणिमन्तिऊण मासपारणयपविट्ठस्स सीसवेयणाभिभूएण पमायओ अणिउत्तपरियणेणं आहारन्तरायकरणेण कय से धम्मन्तराय ति । कुलवइणा भणिय-वच्छ ! जं किंचि एयं, न तुमं एत्थ अवरज्झसि । न तिव्ववेयणाभिभूया पुरिसा कज्जमकज्ज वा वियाणन्ति । न य तस्स आहारन्तरायकरणेण धम्मन्तरायं हवइ, अवि य तवसंपया । ता अलमुव्वेगेण ति । राइणा भणिय—भयवं ! जाव तेण महाणुभावेण मम गेहे आहारगहण न कय, ताव कहमुव्वेवो अवेइ ? । कुलवइणा भणिया—वच्छ ! इयाणिं से अविग्घेण जं पारणग भविस्सइ, तहिं ते गेहे आहारगहण करिस्सइ त्ति । तओ कुलवइणा सद्दाविओ अग्गिसम्मतावसो, सबहुमाणं हत्थे गिण्हिऊण भणिओ य णेण—वच्छ ! जं तुम अकयपारणगो निग्गओ नरिन्दगेहाओ, एएण दढ सतप्पइ राया । कल्लं च एयस्स अईव सीसवेयणा आसि, अओ वेयणापरवसेण न तुमं पडियग्गिओ त्ति, न एस अवरज्झइ । भणिया च णेण

भगवतोऽपि नाम अकथनीयम् । अन्यच्च—अकथनीयवस्तुविषयोद्विग्नस्य न युक्तं तपोवनागमनम् । कुलपतिना भणितम्—साधु वत्स ! साधु, उचितस्ते विवेकः, ततः किम्—उद्वेगकारणम् ? इति । राज्ञा भणितम्—भगवत आज्ञा इति कृत्वा कथ्यते, अन्यथा कथम्–ईदृश नृशसचरितं कथयितुं पार्यते ?। कुलपतिना भणितम्—वत्स ! सर्वस्य जननीभूत खलु भवति तपस्विजन. । तत· का त प्रति लज्जा इति । तस्मात् कथयतु भवान्, येन ज्ञातवृत्तान्तो भूत्वा केनचिद् उपायेन अपनयामि तम्–उद्वेगमिति । राज्ञा भणितम्—भगवन् ! यद्येवम्, तत शृणु । एषोऽग्निशर्मतापसः प्रथमं चैव मम मन्दपुण्यस्य, असमीक्षितकारिणः, असदृशजनसदृशाचरणनिरतस्य सबन्धिना निर्वेदेन तापसः सवृत्तः । एतस्य प्रपन्नोत्तमव्रतस्याऽपि तद् मया असदृशजनाचारण न परित्यक्तमिति दृढम्–उद्विग्नोऽस्मि । कुलपतिना भणितम्—वत्स ! यद्येवम्, ततोऽल संतप्तेन, किं कारण । यदि तव सबन्धिना कारणेन तापस सवृत्त, ततस्त्वमेव अस्य धर्मप्रवर्तक. कल्याणमित्रम् इति, किम्–उद्विग्नोऽसि ?। न चाऽपि इदानी तव परलोकभीरो, अधिगतधर्मशास्त्रस्य किमपि असज्जनाचरण सभावयामि । किं वा तत् कृतमिदानी निवेदय मे । राज्ञा भणितम्–भगवन् ! इदानी तावद् एतम्–उपनिमन्त्र्य मासपारणकप्रविष्टस्य शीर्षवेदनाऽभिभूतेन प्रमादतोऽनियुक्तपरिजनेन आहारान्तरायकरणेन कृतस्तस्य धर्मान्तराय इति । कुलपतिना भणितम्—वत्स ! यत् किंचिद् एतत्, न त्वम्–अत्र अपराध्यसि । न तीव्रवेदनाभिभूताः पुरुषा. कार्यमकार्यं वा विजानन्ति । न च तस्य आहारान्तरायकरणेन धर्मान्तरायो भवति, अपि च तप सपदा । ततोऽलम्–उद्वेगेनेति । राज्ञा भणितम्–भगवन् ! यावत् तेन महानुभावेन मम गेहे आहारग्रहण न कृतम्, तावत् कथम्–उद्वेगोऽपैति ?। कुलपतिना भणितम्– वत्स ! इदानी तस्य अविघ्नेन यत् पारणक भविष्यति,तदा तव गेहे आहारग्रहण करिष्यतीति । ततः कुलपतिना शब्दायित अग्निशर्मतापस. सबहुमान हस्ते गृहीत्वा भणितश्चानेन–वत्स ! यत् त्वम्–अकृतपारणको निर्गतो नरेन्द्रगेहात्, एतेन दृढं सतप्यते राजा । कल्य चैतस्य अतीव शीर्षवेदना आसीत्, अतो वेदनापरवशेन न त्व प्रत्यर्घित इति, नैषोऽपराध्यति । भणित चानेन

'जाव मम गेहे अग्गिसम्मतावसेण आहारगहणं न कयं, न ताव मे उव्वेवो अवेइ' । अओ इण्हि सपत्तपारणगकालेण भवया अविग्घेण मम वयणाओ नरिन्दबहुमाणओ य एयस्स गेहे पारणगं करियव्वं ति । अग्गिसम्मतावसेण भणियं—भयव ! जं तुब्भे आणवेह । अकारणे सतप्पइ राया, जओ न किंचि मे परलोयविरुद्धमणुचिट्ठियमणेणं । तओ राया 'अहो !! से महाणुभावय' त्ति कलिऊण पणमिऊण तवस्सिजणं च कंचि वेलं पज्जुवासिय पविट्ठो नयरं । पुणो य कालक्कमेण गइणो विसयसुहमणुहवन्तस्स, अग्गिसम्मस्स य दुक्करं तवचरणविहिं करेन्तस्स समइक्कन्तो मासो त्ति । एत्थन्तरम्मि य सपत्ते पारणगदिवसे निवेइयं से रन्नो विक्खेवागएहिं नियपुरिसेहिं । जहा–महाराय ! अइविसमपरक्कमगव्विय, विसमदोणीमुहप्पविट्ठं, अकयपरिरक्खणोवायं अप्पमत्तेण माणभङ्गनरवइणा, इहरहा विसयविणासमवलोइऊण, वीरचरियमवलम्बिय, वीसत्थसुत्तेसु नरिन्दपाइक्केसु जाए अड्ढरत्तसमए, अत्थमिए रयणिवहूपिययमे तेलोक्कमङ्गलपईवे मियङ्के सयलबलसहिएणमवक्खन्दं दाऊण अइपमत्तं ते विणिज्जियं सेन्नं । सपइ देवो पमाणं ति । तओ राइणा एयं सुदूसहं वयणमायण्णिऊण कोवाणलजलियरत्तलोयणेण, विसमकुडिलाहरेण, निद्दयकराभिहयधरणिवट्ठेणं अमरिसवसपरिक्खलन्तवयणेण समाणत्तो परियणो । जहा-देह तुरियं पयाणयपडहं, सज्जेह दुज्जए करिवले, पल्लाणेह दप्पुद्धुरे आससाहणे, सजत्तेह धय-मालोवसोहिए सन्दणनिवहे, पयट्टावेह नाणापहरणसालिणं पाइक्कसेन्नं ति । तओ नरवइसमाएसाणन्तरमेवायण्णिय पयाणयपडहसद्दं, करिवरविरायन्तमेहजालं, ऊसियधय-चमर छत्तसंबाधयवलायपरियरं, निसियकरवाल-कोन्तसोयामणिसणाहं, सङ्ख-काहलातूरनिग्घोसगज्जियरवपूरियदिसं, अयालदुद्दिणं पिव समन्तओ वियम्भियं नरिन्दसाहणं ति । एत्थन्तरम्मि य रहवरारूढे नरिन्दगुणसेणे, ठाविए पुरओ सलिलपुण्णे कणयकलसे, पहए जयसिरिसमुप्फालए मङ्गलतूरे, पढन्तेसु विविहमङ्गलाइं वन्दिवन्द्रेसु, अग्गिसम्मतावसो पारणगनिमित्तं पविट्ठो नरिन्दगेहं ति । तओ तम्मि महाजणसमुदए आउलीहूए नरिन्दनिग्गमणनिमित्तं पट्टाणपरियणे न केणइ समुवलक्खिओ त्ति । तओ

'यावद् मम गेहे अग्निशर्मतापसेन आहारग्रहणं न कृत, न तावद् मम उद्वेगोऽपैति ।' अत इदानी सप्राप्तपारणककालेन भवताऽविघ्नेन मम वचनाद् नरेन्द्रबहुमानतश्च एतस्य गेहे पारणक कर्तव्यमिति । अग्निशर्म-तापसेन भणितम्—भगवन् ! यद् यूयम्–आज्ञापयत । अकारणे सतप्यते राजा, यतो न किंचिद् मम परलोकविरुद्धमनुष्ठितमनेन । ततो राजा 'अहो !! तस्य महानुभावता' इति कलयित्वा, प्रणम्य तपस्विजन च काचिद् वेला पर्युपास्य प्रविष्टो नगरम् । पुनश्च कालक्रमेण राज्ञो विष-यसुखमनुभवतः, अग्निशर्मणश्च दुष्कर तपश्चरणविधि कुर्वत· समतिक्रान्तो मास इति । अत्रान्तरे च संप्राप्ते पारणकदिवसे निवेदित तस्य राज्ञो विक्षेपागतैर्निजकपुरुषै· । यथा—महाराज ! अतिविषमपराक्रमगर्वितम्, विषमद्रोणीमुखप्रविष्टम्, अकृतपरिरक्षणोपायम्-अप्रमत्तेन मानभङ्गनरप-तिना, इतरथा विषयविनाशमवलोक्य, वीरचरितमवलम्ब्य, विश्वस्तसुप्तेषु नरेन्द्रपदातिषु याते अर्धरात्रसमये, अस्तमिते रजनीवधूप्रियतमे त्रैलोक्य-मङ्गलप्रदीपे मृगाङ्के सकलबलसहितेन अवस्कन्दं दत्त्वा अतिप्रमत्तं तव विनिर्जित सैन्यम् । सप्रति देव· प्रमाणमिति । ततो राज्ञा एतत् सुदुःसह वचनमाकर्ण्य कोपानलज्वलितरक्तलोचनेन, विषमस्फुरिताधरेण निर्दयक-राभिहतधरणीपृष्ठेन, अमर्षवशपरिस्खलद्वचनेन समाज्ञप्तः परिजनः । यथा-दत्त त्वरित प्रयाणकपटहम्, सज्जयत दुर्जय करिबलम्, पर्याणयत दर्पोद्धरं अश्वसाधनम्, सयात्रयत ध्वज-मालोपशोभित स्यन्दननिवहम्, प्रवर्तत नाना-प्रहरणशालि प्रदातिसैन्यमिति । ततो नरपतिसमादेशानन्तरमेव आकर्ण्य प्रयाणकपटहशब्दम्, करिवरविराजद्मेघजालम्, उच्छ्रितध्वज–चामर–छत्र-सघातबलाकापरिगतम्, निशितकरवाल–कुन्तसौदामिनीसनाथम्, शङ्ख–काहलतूरनिर्घोषगर्जितरवपूरितदिशम्, अकालदुर्दिनमिव समन्ततो विजृ–म्भित नरेन्द्रसाधनमिति । अत्रान्तरे च रथवरारूढे नरेन्द्रगुणसेने, स्थापिते पुरतः सलिलपूर्णे कनककलशे, प्रहते जयश्रीसमुत्फालके मङ्गलतूरे, पठत्सु विविधमङ्गलानि बन्दिवृन्देषु, अग्निशर्मतापसः पारणकनिमित्त प्रविष्टो नरेन्द्रगेहमिति । ततस्तस्मिन् महाजनसमुदये आकुलीभूते नरेन्द्रनिर्गमन–निमित्त प्रधानपरिजने न केनचित् समुपलक्षित इति । ततः

कंचि वेलं गमेऊण दरियकरि–तुरयसघायचमढणभीओ निग्गओ नरवई–गेहाओ । एत्थन्तरम्मि य गहियसङकुच्छाएहिं, मुणियजोइससत्थपरमत्थेहिं भणियं जोइसिएहिं–देव ! पसत्थं मुहुत्तं, निग्गच्छसु त्ति । राइणा भणियं–अज्ज तस्स अग्गिसम्मतावसस्स पारणगदिवसो, पडिवन्नं च तेण कुलवइवयणाओ मम गेहे आहारगहणं कायव्वं ति । ता आगच्छउ ताव सो महाणुभावो । तओ तं कयभोयणविहारं पणमिऊण गमिस्सामो । तओ आसन्नवत्तिणा भणियं कुलपुत्तएण–देव ! सो खु महाणुभावो सयं चेव पविसिऊण दरियकरि–तुरयसघायचमढणभीओ निग्गओ रायगेहाओ । अज्ज वि य न नयराओ निग्गच्छइ त्ति तक्केमि । तओ एयमायण्णिऊण ससभन्तो राया पयट्टो तस्स मग्गे, दिट्ठो य णेण नयराओ निग्गच्छन्तो अग्गिसम्मतावसो । तओ ओयरिऊण रहवराओ, भत्तिनिब्भरं निवडिऊण चलणेसु विन्नत्तो सबहुमाणं । भयवं ! करेह पसायं, विणियत्तसु त्ति । अहमभिप्पेए वि गमणे तुह चेवागमणमणुवालेन्तो एत्तियं वेलं ठिओ म्हि, जाव तुमं पविसिऊण मम गेहं अलक्खिओ चेव मे पहाणपरियणेण निग्गओ सि । ता नियत्तसु त्ति । अग्गिसम्मतावसेण भणियं–महाराय ! विइयवुत्तन्तो चेव मे तुमं पइन्नाविसेसस्स, ता अलं ते इमिणा ववसाएण । सच्चपइन्ना खु तवस्सिणो हवन्ति, निव्विसेसा य लाभालाभेसु । राइणा भणियं–भयवं ! लज्जिओ म्हि इमिणा पमायचरिएण, तुह तिव्वतवजणियसरीरपीडाओ वि मे अहिया सरीरपीडा, डहइ मं संतावाणलो, फुट्टइ विय मे हिययं, अक्खिप्पइ य मे वाणी, महापावकम्मकारिणं च मन्नेमि अप्पाणं; ता सयलदुहियसत्तबन्धुभूओ, अकारणवच्छलो य भयवं तुमं चेव मे इमस्स दुक्खस्स उवसमोवायं चिन्तेहि । अग्गिसम्मतावसेण चिन्तियं । अहो ! ! से महारायस्स महाणुभावया । अकयपारणगेण मए एत्तियं खिज्जइ त्ति । अहो ! ! से गुरुयणसुस्सूसाणुराओ । ता न जाव मए एयस्स गेहे पारणयं कयं, न ताव एस सत्थो होइ त्ति चिन्तिऊण भणियं च तेण–महाराय ! अनिमित्तं ते दुक्खं । तहावि एयस्स इमो उवसमोवाओ । अविग्घेण सपत्ते पारणगदिवसे पुणो वि तुह चेव गेहे आहारगहणं करिस्सामि त्ति पडिवन्नं मए । ता मा संतप्पसु त्ति ।

कांचिद् वेलां गमयित्वा दृप्तकरि-तुरगसंघातावमर्दनभीतो निर्गतो नरपति-गेहात् । अत्रान्तरे च गृहीतशङ्कुच्छायैः, ज्ञातज्योतिश्शास्त्रपरमार्थै: भणितं ज्योतिषिकैः—देव ! प्रशस्तं मुहूर्तम्, निर्गच्छेति । राज्ञा भणितम्–अद्य तस्य अग्निशर्मतापसस्य पारणकदिवसः, प्रतिपन्नं च तेन कुलपतिवचनाद् मम गेहे आहारग्रहणं कर्तव्यमिति । तत आगच्छतु तावत् स महानुभावः । ततस्तं कृतभोजनविधानं प्रणम्य गमिष्यामः । तत आसन्नवर्तिना भणितं कुलपुत्रकेण-देव ! स खलु महानुभावः साम्प्रतं चैव प्रविश्य दृप्तकरि-तुरगसंघातावमर्दनभीतो निर्गतो राजगेहात् । अद्यापि च न नगराद् निर्गच्छति इति तर्कयामि । तत एतद् आकर्ण्य ससम्भ्रान्तो राजा प्रवृत्तस्तस्य मार्गे, दृष्टश्चानेन नगराद् निर्गच्छन् अग्निशर्मतापसः । तत अवतीर्य रथवराद्, भक्तिनिर्भरं निपत्य चरणेषु विज्ञप्तः सबहुमानम् । भगवन् ! कुरुत प्रसादम्, विनिवर्तस्व इति । अहमभिप्रेयेऽपि गमने तवैव आगमनम्–अनुपालयन् एतावती वेलां स्थितोऽस्मि, यावत् त्वं प्रविश्य मम गेहम्–अलक्षित एव मम प्रधानपरिजनेन निर्गतोऽसि । ततो निवर्तस्व इति । अग्निशर्मतापसेन भणितम्–महाराज ! विदितवृत्तान्तश्चैव मम त्वं प्रतिज्ञाविशेषस्य, ततोऽलं तवानेन व्यवसायेन । सत्यप्रतिज्ञाः खलु तपस्विनो भवन्ति, निर्विशेषाश्च लाभाऽलाभेषु । राज्ञा भणितम्–भगवन् ! लज्जितोऽस्मि अनेन प्रमादचरितेन, तव तीव्रतपोजनितशरीरपीडातोऽपि मम अधिका शरीरपीडा, दृढं दहति मां सतापाऽनलः प्रणश्यति इव मम हृदयम्, आक्षिप्यते च मम वाणी, महापापकर्मकारिणं च मन्ये आत्मानम्, ततः सकलदुःखितसत्त्वबन्धुभूतः, अकारणवत्सलश्च भगवान् त्वमेव मम अस्य दुःखस्य उपशमोपायं चिन्तय । अग्निशर्मतापसेन चिन्तितम् । अहो ! ! अस्य महाराजस्य महानुभावता । अकृतपारणकेन मया एतावत् खिद्यते इति । अहो ! ! अस्य गुरुजनशुश्रूषानुरागः । ततो न यावद् मया एतस्य गेहे पारणकं कृतम्, न तावद् एष स्वस्थो भवतीति चिन्तयित्वा भणितं च तेन–महाराज ! अनिमित्तं तव दुःखम् । तथापि एतस्य अयम्–उपशमोपायः । अविघ्नेन सम्प्राप्ते पारणकदिवसे पुनरपि तवैव गेहे आहारग्रहणं करिष्यामि इति प्रतिपन्नं मया । ततः मा संतप्यस्वेति ।

तओ घरणिनिहियजाणु-करयलेणं भणियं राइणा—भयव ! सुट्ठु मुणिओ इमस्स दुक्खस्स उवसमोवाओ । अहवा विमलनाणनयणो चेव तवस्सि-जणो होइ, किं वा न याणइ ? त्ति । ता अणुगिहीओ म्हि । सरिसं इमं तुह अकारणवच्छलयाए । ता गच्छ तुमं तवोवणं । अहं पुण न सक्कुणोमि पच्चग्गपमायकलङ्कदूसिओ भगवन्तं कुलवइमवलोइउं ति । एवं भणिय, पणमिऊण य अग्गिसम्मतावसं नियत्तो राया । 'न मए इयाणि गन्तव्वं' ति कलिऊण विसज्जिओ य तेण माणभङ्गस्स उवरि विक्खेवो । अग्गिसम्मो वि य गन्तूण तवोवणं, निवेइऊण कुलवइणो जहावित्तं वुत्तन्तं 'वच्छ ! साहु कयं' ति अहिणन्दिओ य कुलवइणा पवन्नो वयविसेसं ति । अणुदियहं च पवड्ढमाणसंवेगेण राइणा सेविज्जन्तस्स तस्स समइच्छिओ मासो, पत्तो य रन्नो मणोरहसएहिं पारणयदियहो । तम्मि य पारणयदियहे राइणो गुणसेणस्स देवी वसन्तसेणा दारयं पसूय त्ति । निवेइयं च राइणो हरिसवसेण पफुल्लवयणपङ्कयाए सपरितोसं पडिहारीए—महाराय ! देवी वसन्तसेणा तुम्हाणं अब्भुदयनिमित्तं पयाणं भागधेएहिं सुहंसुहेणं दारयं पसूय त्ति । तओ राइणा पुत्तजम्मब्भुदयसजायरोमञ्चेणं दाऊण पडिहारीए कडय-केऊर-कण्णालङ्काराइयं अङ्गाभरणं, दिन्ना समाणत्ती । वसुंधरे ! समाइससु णं मम वयणाओ जहासन्निहिये पडिहारे । जहा—मोयावेह कालघण्टापओएण मम रज्जे सव्वबन्धणाणि, दवावेह घोसणापुव्वयं अणवेक्खियाणुरूवं महादाणं, विसज्जावेह जियसत्तुप्पमुहाण नरवईण मम पुत्तजम्मपउत्तिं, निवेएह देवीपुत्तजम्मब्भुदयं पउराणं, कारावेह अयालच्छणभूयं नयरमहूसवं ति । समाइट्ठा य तीए जहाइट्ठं पडिहारा । अणुचिट्ठियं च रायसासणं पडिहारेहिं । अवि य—

कारावियं च तेहिं तूररवुप्पुण्णदसदिसाभोयं ।
उन्नामिएक्ककरयलनच्चन्तविलासिणिसमूहं ॥
अन्तेउरियाहीरन्तपुण्णवत्तुत्तरीयवरपोत्तं ।
मविसेसपसाहियसमिलन्तरामायणाइण्णं ॥

ततो धरणिनिहितजानुकरतलेन भणितं राज्ञा–भगवन् ! सुष्ठु ज्ञात· अस्य दु·खस्य उपशमोपायः । अथवा विमलज्ञाननयन एव तपस्विजनो भवति, किं वा न जानाति ? इति । ततोऽनुगृहीतोऽस्मि । सदृशं इदं तव अकारणवत्सलतायाः ततो गच्छ त्व तपोवनम् । अह पुन· न शक्नोमि प्रत्यग्रप्रमादकलङ्कदूषितो भगवन्त कुलपतिमवलोकितुम्–इति । एव भणित्वा, प्रणम्य च अग्निशर्मतापस निवृत्तो राजा । 'न मया इदानी गन्तव्यम्' इति कलयित्वा विसर्जितश्च तेन मानभङ्गस्य उपरि विक्षेपः । अग्निशर्माऽपि च गत्वा तपोवनम्, निवेद्य कुलपतये यथावृत्त वृत्तान्तम्, 'वत्स ! साधु कृतम्' इति अभिनन्दितश्च कुलपतिना प्रपन्नो व्रतविशेषमिति । अनुदिवस च प्रवर्धमानसवेगेन राज्ञा सेव्यमानस्य तस्य समतिक्रान्तः मासः, प्राप्तश्च राज्ञो मनोरथशतैः पारणकदिवस· । तस्मिंश्च पारणकदिवसे राज्ञो गुणसेनस्य देवी वसन्तसेना दारक प्रसूतेति । निवेदित च राज्ञो हर्षवशेन प्रफुल्लवदनपङ्कजया सपरितोष प्रतीहार्या–महाराज ! देवी वसन्तसेना युष्माकम्–अभ्युदयनिमित्तम्, प्रजानां भागधेयैः सुखसुखेन दारकं प्रसूतेति । ततो राज्ञा पुत्रजन्माभ्युदयसजातरोमाञ्चेन दत्त्वा प्रतीहार्यै कटक–केयूर–कर्णालिकारादिकम्–अङ्गाभरणम्, दत्ता समाज्ञप्ति । वसुंधरे ! समादिश मम वचनाद् यथासन्निहितान् प्रतीहारान् यथा–मोचयत कालघण्टाप्रयोगेण मम राज्ये सर्ववन्धनानि, दापयत घोषणापूर्वकम्–अनपेक्षितानुरूप महादानम्, विसर्जयत जितशत्रुप्रमुखाना नरपतीना मम पुत्रजन्मप्रवृत्तिम्, निवेदयत देवीपुत्रजन्माभ्युदयं पौराणाम्, कारयत अकालक्षणभूतं नगरमहोत्सवमिति । समादिष्टाश्च तया यथादिष्ट प्रतीहाराः । अनुचेष्टित च राजशासनं प्रतीहारैः । अपि च—

कारितं च तैः तूर्यरवोत्पन्नदशदिशाभोगम् ।
उन्नामितैकरतलनृत्यमानविलासिनीसमूहम् ॥
अन्त·पुरिकाह्रियमाणपुण्यवदुत्तरीयवरपौत्रम् ।
सविशेषप्रसाधितसमीलद्ग्रामाजनाकीर्णम् ॥

पिट्ठागयमुट्ठिपहारभीरुरामाविमुक्कसिक्कारं ।
मयवसविलासिणीजणनच्चाविज्जन्तकञ्चुइय ॥
मुव्वन्तकरप्फालियतालायरमुरयमहुरनिग्घोसं ।
दाणपरितुट्ठवहुवन्दिवन्द्रउग्घुट्ठजयसद्द ॥
नच्चन्तमडहवामणचेडीहासिज्जमाणनरनाहं ।
वद्धावणयनिवहं वद्धावणयं मणभिरामं ॥

पवत्तो य वसन्तउरे नयरे महामहूसवो । एवंविहे य देवीपुत्त-जम्मब्भुदयाणन्दिए महापमत्ते सह राइणा रायपरियणे अग्गिसम्मतावसो पारणगनिमित्तं रायउल पविसिऊण वयणमेत्तेणावि केणइ अकयपडिवत्ती असुहकम्मोदएणं अट्टज्झाणदूसियमणो लहु चेव निग्गओ चिन्तियं च णेणं—अहो !! से राइणो आ वालभावाओ चेव असरिसो ममोवरि वेराणुवन्धो त्ति । पेच्छह से अइणिगूढायारमाचरियं, जेण तं तहा मम समक्ख मणाणुकूलं जपिय करणेण विवरीयमायरइ त्ति चिन्तयन्तो सो निग्गओ नयराओ। एत्थन्तरम्मि य अन्नाणदोसेणं अभावियपरमत्थमग्ग-त्तणेण य गहिओ कसाएहिं, अवगया से परलोयवासणा, पणट्ठा धम्म-सद्धा, समागया सयलदुक्खतरुवीयभूया अमेत्ती, जाया य देहपीडाकरी अतीव वुभुक्खा । आकरिसिओ वुभुक्खाए । तओ—

पढमपरीसहवइएण तेण अन्नाणकोहवसएण ।
घोरं नियाणमेय पडिवन्न मूढहियएण ॥
जइ होज्ज इमस्स फल मए सुचिण्णस्स वयविसेसस्स ।
ता येयस्स वहाये पइजम्मं होज्ज मे जम्मो ॥
न कुणइ पणईण पियं, जो पुरिसो विप्पिय च सत्तूणं ।
किं तस्स जणणिजोव्वणविउडणमेत्तेण जम्मेण ॥
सत्तू य एस राया मम सिसुभावाउ चेव पावो त्ति ।
अवराहमन्तरेण वि, करेमि तो विप्पियमिमस्स ॥
इय काऊण नियाणं अप्पडिकन्तेण तस्स ठाणस्स ।
वह भावियं सुवहुसो कोहाणलजलियचित्तेण ॥

पृष्ठागतमुष्टिप्रहारभीरुरामाविमुक्तसीत्कारम् ।
मदवशविलासिनीजननर्त्यमानकञ्चुकिकम् ॥
श्रूयमाणकरास्फालिततालादरमुरजमधुरनिर्घोषम् ।
दानपरितुष्टबहुवन्दिवृन्दउद्घुष्टजयशब्दम् ॥
नृत्यमानलघुवामनचेटीहास्यमाननरनाथम् ।
वद्धाऽऽपानकनिवह वर्धापनक मनोऽभिरामम् ॥

प्रवृत्तश्च वसन्तपुरे नगरे महामहोत्सवः । एवंविधे च देवीपुत्र-जन्माभ्युदयानन्दिते महाप्रमत्ते सह राज्ञा राजपरिजने अग्निशर्मतापसः पारणकनिमित्त राजकुल प्रविश्य वचनमात्रेणाऽपि केनाऽपि अकृतप्रति-पत्तिः अशुभकर्मोदयेन आर्त्तध्यानदूषितमना लघ्वेव निर्गतः । चिन्तितं चानेन—अहो ! ! तस्य राज्ञ आ बालभावात् चैव असदृशो ममोपरि वैरानुबन्ध इति । प्रेक्षध्वं तस्य अतिनिगूढाचारमाचरितम्, येन तत् तथा मम समक्ष मनोऽनुकूल कथयित्वा करणेन विपरीतमाचरतीति चिन्तयन् स निर्गतो नगरात् । अत्रान्तरे च अज्ञानदोषेण अभावितपरमार्थमार्गत्वेन च गृहीतः कषायैः, अपगता तस्य परलोकवासना, प्रनष्टा धर्मश्रद्धा, समागता सकलदुःखतरुबीजभूता अमैत्री, जाता च देहपीडाकरी अतीव बुभुक्षा । आकृष्टो बुभुक्षया । ततः—

प्रथमपरीषहपतितेन तेन अज्ञान-क्रोधवशगेन ।
घोर निदानमेतत् प्रतिपन्नं मूढहृदयेन ॥
यदि भवेद् अस्य फल मया सुचीर्णस्य व्रतविशेषस्य ।
तस्माद् एतस्य वधाय प्रतिजन्म भवतु मम जन्म ॥
न करोति प्रणयिना प्रियम्, य पुरुष विप्रिय शत्रूणाम् ।
किं तस्य जननीयौवनविकुटनमात्रेण जन्मना ? ॥
शत्रुश्चैव राजा मम शिशुभावात् चैव पाप इति ।
अपराधमन्तरेणाऽपि, करोमि ततः विप्रियमस्य ॥
इति कृत्वा निदानम्-अप्रतिक्रान्तेन तस्य स्थानस्य ।
अथ भावितं सुबहुशः क्रोधानलज्वलितचित्तेन ॥

एत्थन्तरम्मि पत्तो एसो तवोवणं, अणेयवियप्पजणियकुचिन्ता-सधुक्कियपवड्ढमाणकोहाणलो य कुलवइ. सेसतावसे य परिहरिऊण अलक्खिओ चेव गओ सहयारवीहिय, उवविट्ठो य विमलसिलाविणिम्मिए चाउरन्तपीढे त्ति । अणुसयवसेण पुणो वि चिन्तिउभारद्धो । अहो !! से राइणो ममोवरि पडिणीयभावो । कह सव्वतावसमज्झे अह से ओहसणिज्जो ? त्ति, जेण मे पइन्नाविसेस नाऊण नियडिवहुलो तहा तहोवग्गिमन्तिय असंपाडणेण पारणयस्स किल मं खलीकरेइ त्ति । तं मूढो खु सो राया किं मे एयावत्थगयस्स खलीकरीयइ । तहा अणाहाणं, दुब्बलाणं, परपरिहूयाणं च सत्ताणं कयन्तेणेव विणिवाइयाण जा खलियारणा, न सा माणिणो माणमापूरेइ त्ति, विसेसओ समसत्तु-मित्ताण परलोयवावारनिरयाण तवस्सीण ति । अहवा अपरिचत्ताहारमेत्तसङ्गस्स मे एत्तहमेत्ता कयत्थण त्ति । ता अलं मे जावज्जीव चेव परिहवमेत्तेण आहारेणं ति गहियं जावज्जीविय महोववासवय ।। एत्थन्तरम्मि य परिचत्तनिययवावारो असुहज्झाणदूसियमणो तवपरिक्खीणदेहो, दिट्ठो तत्थ तावसेहिं । भणिय च तेहिं—भवय ! अइपरिक्खीणदेहो, असणावियकुसुमविलेवणोवयारो लक्खिज्जसि, ता किं इयाणि पि ते न सजाय पारणयं ? ति । अग्गिसम्मतावसेण भणियं—'न संजाय' ति । तावसेहिं भणियं—'कहं न सजाय ?' किं न पविट्ठो तस्स राइणो गुणसेणस्स गेहं ? । अग्गिसम्मतावसेण भणिय—'पविट्ठो ।' तावसेहिं भणिय—'ता कहं ते न सजायं ?' ति । तेण भणिय-वालभावाओ च्चेव मे सो राया अणवरद्धवेरिओ, खलियारिओ अह तेण । पुव्विं मए पुण न जाणिओ, अवगओ से इयाणि वेराणुवन्धो । विणीओ विव लक्खिज्जइ, जाव मिच्छाविणीयस्स न से वेराणुवन्धो अवेइ; जेणोवहासवुद्धीए म उवणिमन्तिऊण अणज्जविलसिएण चेव तेहिं तेहिं मायापयारेहिं चेव किल म परिहवइ त्ति। अज्जं च तेण वियाणिऊण मम पारणगदिवसं सहसा चेव काराविओ पमोओ । तओ अहं पविसिऊण रायगेहं अवहुमाणिओ च्चेव मुणियनरिन्दपरिवाराभिप्पाओ लहु चेव निग्गओ त्ति । तओ तावसेहिं भणिय—भयवं ! न एव तवस्सिजणवच्छले नरिन्दगुणसेणे संभावियइ,

अत्रान्तरे प्राप्त एष तपोवनम्, अनेकविकल्पजनितकुचिन्तासधुक्षितप्रवर्धमानक्रोधानलश्च कुलपतिम्, शेषतापसांश्च परिहृत्य अलक्षित एव गत सहकारवीथिकाम्, उपविष्टश्च विमलशिलाविनिर्मिते चतुरन्तपीठे इति। अनुशयवशेन पुनरपि चिन्तयितुमारब्धः । अहो !! तस्य राज्ञो ममोपरि प्रत्यनीकभाव. । कथ सर्वतापसमध्ये अह तस्य अवहसनीयः ? इति, येन मम प्रतिज्ञाविशेष ज्ञात्वा निकृतिवहुल:, तथा तथा उपनिमन्त्र्य असपादनेन पारणकस्य किल मा खलीकरोति इति । तद् मूढ. खलु स राजा किं मम एतदवस्थागतस्य खलीकरोति। तथा अनाथानाम् दुर्वलानाम्, परपरिभूतानां च सत्त्वाना कृतान्तेनेव विनिपातितानां या खलीकरणा, न सा मानिनो मानमापूरयति इति, विशेषतः समशत्रु-मित्राणा परलोकव्यापारनिरतानां तपस्विनामिति । अथवा अपरित्यक्ताहारमात्रसगस्य मम एतावन्मात्रा कदर्थनेति । ततोऽल मम यावज्जीवमेव परिभवमात्रेण आहारेणेति गृहीत यावज्जीवित महोपवासव्रतम् ।। अत्रान्तरे च परित्यक्तनिजकव्यापार., अशुभध्यानदूषितमना:, तपःपरिक्षीणदेह:, दृष्टस्तत्र तापसैः । भणित च तै'—भगवन् ! अतिपरिक्षीणदेह:, असप्रापितकुसुमविलेपनोपचारो लक्ष्यसे, ततः किमिदानीमपि तव न संजातं पारणकम् ? इति । अग्निशर्मतापसेन भणितम्—'न सजातम्' इति । तापसैर्भणितम् 'कथं न सजातम् ?' किं न प्रविष्टस्तस्य राज्ञो गुणसेनस्य गेहम् ?। अग्निशर्मतापसेन भणितम्—'प्रविष्टः ।' तापसैर्भणितम्—'तत. कथ तव न संजातम् ?' इति । तेन भणितम्—वालभावादेव मम स राजा अनपराद्धवैरिक', खलीकारितश्चाहं तेन । पूर्वं मया पुनर्न ज्ञातः अवगतस्तस्य इदानी वैरानुवन्धः । विनीत्त इव लक्ष्यते, यावद् मिथ्याविनीतस्य न तस्य वैरानुबन्ध अपैति, येनोपहासबुद्ध्या माम्—उपनिमन्त्र्य अनार्यविलसितेनैव तैः तै. मायाप्रकारैरेव किल मां परिभवतीति । अद्य च तेन विज्ञाय मम पारणकदिवसं सहसा एव कारितः प्रमोद । ततोऽहं प्रविश्य राजगेहम्—अवहुमानित एव ज्ञातनरेन्द्रपरिवाराभिप्रायः लब्ध्वेव निर्गत इति । ततस्तापसैर्भणितम्—भगवन् ! नैव तपस्विजनवत्सले नरेन्द्रगुणसेने संभाव्यते,

अहवा विचित्तसन्धिणो हि पुरिसा हवन्ति । किं वा न सभावियइ ? नत्थि अविसओ कसायाण ति भणिऊण निवेइयं तेहिं अच्चुव्विगेहिं कुलवइणो। जहा-न तस्स अग्गिसम्मतावसस्स इमिणा वुत्तन्तेण संपयं पि पारणयं सवुत्तं ति । तओ ससभन्तो तुरियमागओ अग्गिसम्मसमीवं कुलवई, संपूइओ य तेण अग्गिसम्मेण जहाणुरूवेणोवयारेण । तओ तेण भणियं—वच्छ ! कहमियाणिं पि ते न संजायं पारणयं ? ति । अहो !! से असरिससमायरणं राइणो गुणसेणस्स । अग्गिसम्मतावसेण भणियं—भयवं ! पमाइणो चेव रायाणो हवन्ति, को वा तस्स दोसो, मम चेवापरिचत्ताहारमेत्तसङ्गस्स एस दोसो, जेण तस्स वि गेहं पविसामि त्ति । परिचत्तो य मए संपयं जावज्जीवाए चेव सयलपरिहववीयभूओ एद्दहमेत्तो वि सङ्गो । अओ विन्नवेमि भयवन्तं एयम्मि अत्थे, नाहमन्नहा आणवेयव्वो त्ति । कुलवइणा भणियं—वच्छ ! जइ परिचत्तो आहारो, गओ इयाणिं कालो आणाए । सच्चपइन्ना खु तवस्सिणो हवन्ति । किं तु तुमए नरिन्दस्स उवरिं कोवो न कायव्वो । जओ—

सव्वं पुव्वकयाणं कम्माणं पावए फलविवागं ।
अवराहेसु, गुणेसु य निमित्तमेत्तं परो होइ ॥

एवमणुसासिऊण पडियारगे तावसे निरूविय गओ कुलवई । इओ य राइणा गुणसेणेणं तहा अयालच्छणसोक्खमणुहवन्ते परियणे अइक्कन्ताए पारणगवेलाए समुरियं, जहा पारणयदिवसो खु अज्ज तस्स महातवस्सिस्स । अहो !! मे अहन्नया, न संपन्नं चेव महातवस्सिस्स पारणयं ति तक्केमि । पुच्छिओ य णेण जहासन्निहिओ परियणो । किं सो महाणुभावो तावसो अज्ज इहागओ न व ? त्ति । तओ तेण निउणं गवेसिऊण निवेइयं—देव ! आगओ आसि, किं तु देवीपुत्तजम्मब्भुययाहिणन्दिए अइपमत्ते परियणे न केणइ उवचारिओ त्ति, तओ लहुं चेव निग्गओ । राइणा भणियं—अहो !! मे पावपरिणई । तस्स महातवस्सिस्स धम्मन्तरायकरणेणं देवीपुत्तजम्मब्भुययं पि आवयं चेव समत्थेमि । सव्वहा न मन्दपुण्णाण गेहेसु वसुहारा पडन्ति । न य पमायदोसदूसिओ

अथवा विचित्रसधयो हि पुरुषा भवन्ति किं वा न संभाव्यते ? नास्ति अविषयः कषायाणामिति भणित्वा निवेदितं तैरत्युद्विग्नैः कुलपतये। यथा–न तस्य अग्निशर्मतापस्य अनेन वृत्तान्तेन साप्रतमपि पारणकं संवृत्तमिति। ततः ससभ्रान्तः त्वरितमागतः अग्निशर्मसमीप कुलपति, सपूजितश्च तेन अग्निशर्मणा यथानुरूपेणोपचारेण। ततस्तेन भणितम्—वत्स ! कथमिदानीमपि तव न सजात पारणकम् ? इति। अहो !! तस्य असदृशसमाचरणं राज्ञो गुणसेनस्य। अग्निशर्मतापसेन भणितम्—भगवन् ! प्रमादिन एव राजानो भवन्ति, को वा तस्य दोष ? मम एव अपरित्यक्ताहारमात्रसंगस्य एष दोष, येन तस्यापि गेह प्रविशामि इति। परित्यक्तश्च मया साप्रत यावज्जीवमेव सकलपरिभवबीजभूत एतावन्मात्रोऽपि संगः। अतो विज्ञापयामि भगवन्तम्–एतस्मिन्नर्थे नाहमन्यथा आज्ञापयितव्य इति। कुलपतिना भणितम्—वत्स ! यदि परित्यक्त आहार, गत इदानी काल आज्ञायाः। सत्यप्रतिज्ञा खलु तपस्विनो भवन्ति। किं तु त्वया नरेन्द्रस्य उपरि कोपो न कर्तव्यः। यत.—

सर्वं पूर्वकृतानां कर्मणा प्राप्नोति फलविपाकम्।
अपराधेषु, गुणेषु च निमित्तमात्र परो भवति ॥

एवमनुशास्य प्रतिचारकान् तापसान् निरूप्य गतः कुलपति। इतश्च राज्ञा गुणसेनेन तथा अकालक्षणसौख्यमनुभवति परिजने अतिक्रान्ताया पारणकवेलाया स्मृतम्, यथा पारणकदिवसः खलु अद्य तस्य महातपस्विनः। अहो !! मम अधन्यता, न सपन्नमेव महातपस्विन पारणकमिति तर्कयामि। पृष्टश्चानेन यथासन्निहित. परिजन.। किं स महानुभावः तापसः अद्य इह आगतो न वा ? इति। ततस्तेन निपुणं गवेषयित्वा निवेदितम्—देव ! आगत आसीत्, किं तु देवीपुत्रजन्माभ्युदयाभिनन्दिते अतिप्रमत्ते परिजने न केनचिद् उपचरित इति; ततो लब्ध्वेव निर्गतः। राज्ञा भणितम्—अहो !! मम पापपरिणति.। तस्य महातपस्विनो धर्मान्तरायकरणेन देवीपुत्रजन्माभ्युदयमपि आपदं चैव समर्थयामि। सर्वथा न मन्दपुण्याना गेहेषु वसुधारा. पतन्ति। न च प्रमाददोपदूपितः

अह उदन्तनिमित्तं पि से पारेमि मुहमवलोइउं। ता गच्छ, भो सोमदेव-पुरोहिय ! ममाविन्नायपरियणभावो चेव गवेसिऊण तस्स महातवस्सिस्स वुत्तन्तं 'किं तेण ववसियं ?' ति लहुं निवेएहि, आसङ्कइ विय मे हि-ययं। एव च समाणत्तो सोमदेवपुरोहिओ गओ तवोवण। दिट्ठो तेण वहुतवस्सिजणपरिवारिओ, गिरिनईतडासन्ननिविट्ठमण्डवगओ, दीहरकुसर-इअसत्थरोवविट्ठो, अमरिसवसाढत्तरायकहावावडो अग्गिसम्मतावसो त्ति। पणमिओ विणओणयउत्तिमङ्गेण सोमदेवेण। तेण चिय आसीसापुव्वयं 'सागयं' ति भणिऊण 'उवविससु' त्ति आइट्ठो। उवविट्ठो सोमदेवपुरो-हिओ। भणियं च णेण—भयव ! अइपरिक्खीणदेहो लक्खिज्जसि, ता किमेयं ? ति अग्गिसम्मतावसेण भणियं—निरीहाण, अन्नओ समासाइय-वित्तीण अङ्गं चेव किस तवस्सीणं ति। सोमदेवेण भणिय—एव एयं, निरीहा चेव तवस्सिणो हवन्ति, किं तु धण-धन्न-हिरण्ण-सुवण्ण-मणि-मोत्तिय-प्पवाल-दुप्पय-चउप्पएसु, न उण धम्म-काओवयारगे आहार-मेत्ते वि। न य ईइसा एत्थ लोया, जे तुमए वि सरिसाणं मुत्तिमग्गप-वन्नाणं, अविसेससत्तु-मित्ताणं, समतण-मणि-मुत्त-कञ्चणाण, संसारज-लहिपोयाण आहारमेत्तं पि न देन्ति त्ति। अग्गिसम्मतावसेण भणियं—सच्चमेयं, न एयारिसा एत्थ लोया मोत्तूण नरिन्दगुणसेणं ति। सोमदेवेण भणिय—भगव ! किं कय नरिन्दगुणसेणेण ?। धम्मपरो खु सो राया सुणीयइ त्ति। अग्गिसम्मतावसेण भणिय—को अन्नो धम्मपरो, जो वि-णिज्जियनियमण्डलो वि तवस्सिजणं पसज्झं ववाएइ त्ति। सोमदेवेण चिन्तियं-परिकुविओ खु एसो तावसो। जहा य दीहरकुसरइयसत्थरोव-विट्ठो लक्खिज्जइ, तहा नरिन्दनिव्वेएणं चेवाणेण पडिवन्नमणसणं भवे। पुच्छिज्जन्तो य एसो असोयव्व सामिपरिवाय गेण्हइ। ता अन्नओ चेव उवलहिय वुत्तन्तं सामिणो निवेएमि त्ति। पणमिऊण त निग्गओ सोम-देवो। पुच्छिओ य णेणं कुसकुसुमवावडग्गहत्थो, अभिसेयकामो, गिरि-नइ समोयरन्तो तावसो। भयवं ! किं पडिवन्नं अग्गिसम्मतावसेण ?। तेण वि य वाहजलभरियमन्थरनयणेणं सवित्थरमाइक्खियं तयणुट्ठाणं। गओ सोमदेवो, निवेइयं च णेण जहोवलद्धं

अहम्-उदन्तनिमित्तमपि तस्य पारयामि मुखमवलोकितुम् । ततो गच्छ, भोः सोमदेवपुरोहित ! ममाऽविज्ञातपरिजनभाव एव गवेषयित्वा तस्य महातपस्विनो वृत्तान्तम् 'किं तेन व्यवसितम् ?' इति लघु निवेदय, आशङ्कते इव मम हृदयम् । एवं च समाज्ञप्तः सोमदेवपुरोहितो गतस्तपोवनम् । दृष्टस्तेन वहुतपस्विजनपरिवारितः, गिरिनदीतटाऽऽसन्ननिविष्टमण्डपगतः, दीर्घकुशरचितस्रस्तरोपविष्टः, अमर्षवशाऽऽरब्धराजकथाव्यापृतः अग्निशर्मतापस इति । प्रणतः विनयावनतोत्तमाङ्गेन सोमदेवेन । तेन एव आशीःपूर्वकम् 'स्वागतम्' इति भणित्वा 'उपविश' इति आदिष्टः । उपविष्टः सोमदेवपुरोहितः । भणितं चानेन – भगवन् !! अतिपरिक्षीणदेहो लक्ष्यसे, ततः किमेतत् ? इति । अग्निशर्मतापसेन भणितम्—निरीहाणाम्, अन्यतः समासादितवृत्तीनाम्-अङ्गमेव कृश तपस्विनाम्-इति । सोमदेवेन भणितम्-एवमेतत्, निरीहा एव तपस्विनो भवन्ति, किं तु धन-धान्य-हिरण्य-सुवर्ण-मणि-मौक्तिक-प्रवाल-द्विपद-चतुष्पदेषु, न पुनः धर्मकायोपकारके आहारमात्रेऽपि । न च ईदृशा अत्र लोकाः, ये युष्माकमपि सदृशाना मुक्तिमार्गप्रपन्नानाम्, अविशेषशत्रुमित्राणाम्, समतृण-मणि-मुक्ता-काञ्चनानाम्, ससारजलधिपोतानाम्-आहारमात्रमपि न ददति इति । अग्निशर्मतापसेन भणितम्—सत्यमेतत्, न एतादृशा अत्र लोका मुक्त्वा नरेन्द्रगुणसेनम्-इति । सोमदेवेन भणितम् भगवन् ! किं कृतं नरेन्द्रगुणसेनेन ? धर्मपरः खलु स राजा श्रूयते इति । अग्निशर्मतापसेन भणितम्-कोऽन्यो धर्मपरः, यो विनिर्जितनिजमण्डलोऽपि तपस्विजन प्रसह्य व्यापादयति इति । सोमदेवेन चिन्तितम्-परिकुपितः खलु एष तापसः । यथा च दीर्घकुशरचितस्रस्तरोपविष्टो लक्ष्यते, तथा नरेन्द्रनिर्वेदेन एव अनेन प्रतिपन्नम्-अनशन भवेत् । पृच्छ्यमानश्च एष अश्रोतव्य स्वामिपरिवाद गृह्णाति । ततोऽन्यत एव उपलभ्य वृत्तान्त स्वामिने निवेदयामि इति । प्रणम्य स निर्गतः सोमदेवः । पृष्टश्च अनेन कुशकुसुमव्यापृताग्रहस्तः, अभिषेककामः, गिरिर्णदी समवतरन् तापसः । भगवन् ! किं प्रतिपन्नम्-अग्निशर्मतापसेन ?। तेनाऽपि च बाष्पजलभृतमन्थरनयनेन सविस्तरम्-आख्यात तदनुष्ठानम् । गतः सोमदेवः, निवेदितं च तेन यथोपलब्धं

राइणो । तओ राया अहिययरजायनिव्वेओ, चिन्ताभारनिस्सहं अङ्गं घरमाणो, सयलन्तेउर-प्पहाण-परियणपरिवारिओ पाइक्को चेव अग्गिसम्मपच्चायणनिमित्तं पयट्टो तवोवणं । सपत्तो रायहंसो व्व कलहंसियपरिवारिओ तवोवणासन्नं वित्थिण्ण गिरिनइपुलिणं । एत्थन्तरम्मि य मुणियनरिन्दागमणेणं, पफुल्लवयणपङ्कएण राइणो आगमणमग्गिसम्मतावसस्स निवेइयं मुणिकुमारएणं । तओ अग्गिसम्मतावसेण कोहजलणपज्जलियसरीरेणं सद्दाविओ कुलवई, लङ्घिऊण जहोचियमुवयारं निट्ठुरं भणियो—भो ! भो ! न पारेमि एयस्स अकारणवेरिणो नरिन्दाहमस्स मुहमवलोइउं । ता जं किंचि भणिय वाहिरओ चेव विसज्जेहि एयं । कुलवइणा चिन्तियं । अवहरिओ खु एसो कसाएहिं । तओ जुत्त चेव ताव पच्चग्गकसायदूसियचित्तस्स नरिन्ददसण परिहरिउं ति गओ नराहिवसम्मुहं थेव भूमिं कुलवई । दिट्ठो य णेण परिमिलाणदेहो सपरिवारो राया । पणमिओ य सविणय सपरिवारेण राइणा । अहिणन्दिओ य आसीसाए कुलवइणा, भणिओ य णेण महाराय ! एहि, एयाए चम्पगवीहियाए उवविसम्ह । राइणा भणियं—'जं भयवं आणवेइ ।' गया चम्पगवीहियं । उवविट्ठो विमलसिलानिविट्ठे कुसासणे कुलवई, पुरओ से धरणीए चेव सपरिवारो राया । तओ कुलवइणा भणिय—महाराय ! कीस इयाणिं सकलत्तपरिवारेण अणुचिय एद्दहमेत्तं भूमिं चरणागमणमणुचिट्ठियं ?। राइणा भणियं—भयवं ! अणुचियकारिणो चेव अम्हे, अहवा मएजारिसाण पुरिसाहमाणं इमं चेवोचिय, जं महातवस्सिजणस्स पमायओ वावायणेण वम्मन्तरायकरणं ति । ता किं एइणा अणिव्वडियहिययसब्भावेण नियडीमन्तिएण ? भयव ! कहिं पुण सो महाणुभावो अग्गिसम्मतावसो । पणमामि त, सोहेमि तस्स दंसणेण पावकम्मकारिण अप्पाणं ति । कुलवइणा भणियं—महाराय ! मा एद्दहमेत्त संतप्पसु त्ति । न एएण तुह निव्वेएणमणसणं कय ति, किं तु कप्पो चेवायं तवस्सिजणस्स, जं चरिमकालम्मि अणसणविहिणा देहपरिच्चयणं ति । राइणा भणियं—भयव ! किं वहुणा मन्तिएण ? पेच्छामि ताव त महाणुभावं । कुलवइणा भणियं—महाराय !

राज्ञे । ततो राजा अधिकतरजातनिर्वेद , चिन्ताभारनिस्सहम्-अङ्गं धरन्, सकलान्त पुर-प्रधान-परिजनपरिवारित पदातिरेव अग्निशर्मप्रत्यायननिमित्तं प्रवृत्तस्तपोवनम् । संप्राप्तो राजहस इव कलहसिकापरिवारित. तपोवनासन्न विस्तीर्णं गिरिणदीपुलिनम् । अत्रान्तरे च ज्ञातनरेन्द्राऽऽगमनेन, प्रफुल्लवदनपङ्कजेन राज्ञ आगमनम्-अग्निशर्मतापसाय निवेदित मुनिकुमारकेण । ततोऽग्निशर्मतापसेन क्रोधज्वलनप्रज्वलितशरीरेण शब्दायित: कुलपति , लङ्घित्वा यथोचितम्-उपचारं निष्ठुर भणित.-भोः ! भो. ! न पारयामि (शक्नोमि) एतस्य अकारणवैरिणो नरेन्द्राधमस्य मुखमवलोकितुम् । ततो यत् किञ्चिद् भणित्वा वहिष्ट एव विसर्जय एनम् । कुलपतिना चिन्तितम्-अपहृत. खलु एष कषायैं । ततो युक्तमेव तावत् प्रत्यग्रकषायदूषितचित्तस्य नरेन्द्रदर्शनं परिहर्तुमिति गतो नराधिपसम्मुख स्तोका भूमिं कुलपति । दृष्टश्च तेन परिम्लानदेह सपरिवारो राजा । प्रणतश्च सविनयं सपरिवारेण राज्ञा । अभिनन्दितश्च आशिषा कुलपतिना, भणितश्च तेन—महाराज ! एहि एतस्यां चम्पकवीथिकायाम्-उपविशाम. । राज्ञा भणितम्—'यद् भगवान् आज्ञापयति ।' गता. चम्पकवीथिकाम् । उपविष्ट विमलशिलानिविष्टे कुशासने कुलपति , पुरतः तस्य धरिण्यामेव सपरिवारो राजा । तत. कुलपतिना भणितम्-महाराज ! कस्माद् इदानी सकलत्रपरिवारेण अनुचितम्-एतावन्मात्री भूमिं चरणागमनम्-अनुष्ठितम् ?। राज्ञा भणितम्-भगवन् ! अनुचितकारिण एव वयम्, अथवा मादृशाना पुरुषाधमानाम्-इदमेव उचितम्, यद् महातपस्विजनस्य प्रमादतो व्यापादनेन धर्मान्तरायकरणम्-इति । तत किमेतेन अनिर्वृतहृदयसद्भावेन (स्वभावेन) निकृतिमन्त्रितेन ? । भगवन् ! कुत्र पुन. स महानुभावोऽग्निशर्मतापसः ? प्रणमामि तम्, शोधयामि तस्य दर्शनेन पापकर्मकारिणम्-आत्मानम्-इति । कुलपतिना भणितम्—महाराज ! मा एतावन्मात्र संतप्यस्व इति । न एतेन तव निर्वेदेन अनशनं कृतम्-इति, किं तु कल्प एव अयं तपस्विजनस्य, य चरमकाले अनशनविधिना देहपरित्यजनम्-इति । राज्ञा भणितम्-भगवन् ! कि वहुना मन्त्रितेन ? प्रेक्षे तावद् तं महानुभावम् । कुलपतिना भणितम्-महाराज !

अलमियाणि ताव तस्स दंसणेणं । झाणवावडो खु सो, ता किं से अहिप्पेयकज्जन्तराएण ? । गच्छ तुमं नयरिं, पुणो कहिंचि पेक्खेज्जसु त्ति । तओ 'ज भयव आणवेइ, पुणो आगच्छिस्सामि' त्ति भणिऊण अच्चन्तदुम्मणो उट्ठिओ राया । पणमिऊण कुलवइं पयट्टो नयरिं । तओ एक्केणं साणुक्कोसेण च बालतावसकुमारेण अणुगच्छिऊण थेवभूमिभाय निवेइओ से अग्गिसम्माभिप्पाओ त्ति । तओ राइणा चिन्तियं–किमिह पुणागमणेणं ? जइ परं कुलवई आयासे पाडिज्जइ । ता न जुत्त ममेह नयरे वि चिट्ठिउं, मा से महाणुभावस्स तस्स असोयव्व पि अवर सुणिस्स ति एवं चिन्तयन्तो पत्तो वसन्तउर । पुच्छिया णेण सवच्छरिया 'कया अम्हाण खिइपइट्ठियगमणदियहो परिसुज्झइ' त्ति । तेहिं च निव्वं तकम्मवावडत्तणेणोवलद्धसोहणदिणेहिं विन्नत्त 'महाराय ! कल्ल चेव परिसुज्झइ' त्ति । तओ राइणा समाणत्तो परियणो 'पयट्टह लहु कल्ल' ति । तओ विइयदियहे महया चडयरेण निग्गओ राया । अणवरयपयाणएहिं च पत्तो मासमेत्तेण कालेण खिइपइट्ठियं । तओ ऊसियविचित्तकेउनिवह, विविहकयट्टसोहं, सोहियसपुप्फोवयाररायमग्ग, धवलियपासायमालोवसोहियं, महाविभूईए पविट्ठो नयरं, तत्थ वि य तोरणनिम्मियवन्दणमाल, सविसेससपाइयमहोवयार, सव्वओभद्दं नाम पासाय । तत्थ य तम्मि चेव दियहे आगओ मासकप्पविहारेण अहासजम विहरन्तो सीसगणसपरिवुडो, सपुण्णदुवालसङ्गी, ओहि–मणनाणाइसयजुत्तो, सव्वङ्गसुन्दराहिरामो, पढमजोव्वणसिरीसमद्धासियसरीरो, मण्डणमिव वसुमईए, आणन्दो व्व सयलजणलोयणाणं, पच्चाएसो व्व धम्मनिरयाण, निलओ व्व परमधन्नयाए, ठाणमिव आदेयभावस्स, कुलहर पिव खन्तीए, आगरो इव गुणरयणाण, विवागनव्वरसमिव कुसलकम्मस्स, महामहन्तनिवत्रमसभूओ विजयसेणो नामं आयरिओ त्ति । सो य असोयदत्तसेट्ठिपडिवद्धे, जिणाययणमण्डिए अणुन्नविय ओग्गहं ठिओ असोयवणुज्जाणे । जत्थ नीइवलिया विव नरवई दुल्लहविवरा महयारा, परकलत्तदंसणभीया विव सप्पुरिसा अहोमुहट्ठिया वाडीतडपायवा, विणिवडियसप्पुरिसचिन्ताओ विव अडालविडासाओ अइमुत्तयलयाओ, दरिद्द–कामिहिययाइं पिव समन्तओ आउलाइं

अलमिदानी तावत् तस्य दर्शनेन । ध्यानव्यापृतः खलु स, ततः किं तस्य अभिप्रेतकार्यान्तरायेण ? गच्छ त्व नगरीम्. पुन कर्हिचित् प्रेक्षस्व इति । तत. 'यद् भगवान् आज्ञापयति, पुनरागमिष्यामि' इति भणित्वा अत्यन्त-दुर्मना उत्थितो राजा । प्रणम्य कुलपतिं प्रवृत्तो नगरीम् । तत एकेन सानुक्रोशेन च बालतापसकुमारेण अनुगम्य स्तोकभूमिभागं निवेदितस्त-स्य अग्निशर्माऽभिप्राय इति । ततो राज्ञा चिन्तितम् किमिह पुनरागम-नेन ? यदि परं कुलपतिः आयासे पात्यते । ततो न युक्त मम इह नगरे अपि स्थातुम्, मा महानुभावस्य तस्य अश्रोतव्यमपि अपर श्रोष्यामि इति । एवं चिन्तयन् प्राप्तो वसन्तपुरम् । पृष्टाश्च तेन सांवत्सरिकाः 'कदा अस्माकं क्षितिप्रतिष्ठितगमनदिवस परिशुध्यति ?' इति । तैश्च नित्यं तत्कर्मव्यापृतत्वेन उपलब्धशोभनदिनै' विज्ञप्तम्—'महाराज ! कल्यमेव परिशुध्यति' इति । ततो राज्ञा समाज्ञप्त. परिजनः 'प्रवर्तध्वं लघु कल्यम्' इति । ततो द्वितीयदिवसे महता चटतरेण निर्गतो राजा अनवरतप्रयाणै-श्च प्राप्तो मासमात्रेण कालेन क्षितिप्रतिष्ठितम् । तत उच्छ्रितविचित्रके-तुनिवहम्. विविधकृताऽट्टशोभम्, शोभितसपुष्पोपचारराजमार्गम्, धवलित-प्रासादमालोपशोभितम्, महाविभूत्या प्रविष्टो नगरम्, तत्राऽपि च तोरण-निर्मितवन्दनमालम् सविशेषसंपादितमहोपचारम्, सर्वतोभद्रं नाम प्रासा-दम् । तत्र च तस्मिश्चैव दिवसे आगतः मासकल्पविहारेण यथासयमं विहरन् शिष्यगणसपरिवृतः, सपूर्णद्वादशाङ्गी, अवधि–मनोज्ञानातिशययुक्त., सर्वाङ्गसुन्दराभिरामः, प्रथमयौवनश्रीसमृद्धाश्रितशरीरः, मण्डनमिव वसुम-त्या', आनन्द इव सकलजनलोचनानाम्, प्रत्यादेश इव धर्मनिरतानाम्, निलय इव परमधन्यतायाः, स्थानमिव आदेयभावस्य, कुलगृहमिव क्षान्त्याः, आकर इव गुणरत्नानाम्, विपाकसर्वस्वमिव कुशलकर्मणः, महामहानृपवं-शसंभूतो विजयसेनो नाम आचार्य इति । स च अशोकदत्तश्रेष्ठिप्रतिबद्धे जिनायतनमण्डिते अनुज्ञाप्य अवग्रहं स्थित अशोकवनोद्याने । यत्र नीति-वलिता इव नरपतयो दुर्लभविवरा. सहकाराः, परकलत्रदर्शनभीता इव सत्पुरुषाः अधोमुखास्थिता वापीतटपादपा , विनिपतितसत्पुरुषचिन्ता इव आ-शाखाप्रशाखा अतिमुक्तकलताः, दरिद्र–कामिहृदयानि इव समन्तत आकुलानि

लयाहराइं, विसयपसत्ता विव पासण्डिणो न सोहन्ति लिम्बपायवा, नववरगा विव कुसुम्भरत्तनिवसणा विरायन्ति रत्तासोया, किं बहुणा ? जत्थ मणोरहा विव जीवलोयस्स बहुवुत्तन्ता उज्जाणपावया। तहा हिमगिरिसिहराइ पिव उत्तुङ्गधवलाइं जिणाययणाइं। तत्थ य बहुफासुए भूमिभाए अहासजम सो भयवं चरणकरणनिरओ परिवसइ। इओ य राइणा गुणसेणेण अत्थाइयागएण पुच्छिअ। केण भे अज्ज इह अच्छेरयभूय किंचि वत्थु दिट्ठ ? ति। तओ उवलद्धविजयसेणायरिएण पणमिऊण रायाण भणिय कल्लाणएणं—महाराय ! दिट्ठ मए अच्छेरयं। राइणा भणिय—कहेहि, किं तय ति ? । कल्लाणएण भणियं—इह असोगदत्तसेट्ठिपडिबद्धे असोयवणुज्जाणे सयलदट्ठव्वदसणमहूसवो, लायण्णजोण्हापवाहपम्हलियचउद्दिसाभोओ, सयलकलासगओ विय मयलञ्छणो, पढमजोव्वणत्थो वि वियाररहिओ, विणिज्जियकुसुमबाणो वि तवसिरिनिरओ, परिचत्तसव्वसङ्गो वि सयलजणोवयारी, मुत्तिमन्तो विव भयव धम्मो, दिट्ठो मए गन्धारजणवयाहिवस्स समरसेणस्स नत्तुओ, लच्छिसेणस्स पुत्तो पडिवन्नसमणलिङ्गो विजयसेणो नाम आयरिओ त्ति। तओ राइणा भणियं—अहो ! तुम कयपुण्णो, पावियं तए फल लोयणाणं। अहं पि ण भयवन्त मोत्तूणमन्तराय सुए वन्दिस्सामि त्ति। अइक्कन्ताए रयणीए कयसयलगोसकिच्चो राया गओ तुमज्जाण। दिट्ठो य णेण अणेयसमणपरियरिओ, सपुण्णसारयससि व्व तारयणपरिवुडो विजयसेणायरिओ। तओ हरिसुब्भिन्नपुलएण, आणन्दवाहजलभरियलोयणेण, धरणिनिहित्तजाणुकरयलेणं सविणयं पणमिओ णेण, दिन्नो य से गुरुणा वि सारीरमाणसाणेगदुक्खविउडणो, सासयसिवसोक्खतरुवीयभूओ धम्मलाभो त्ति। तओ अट्ठारसमीलङ्गसहस्सभारवहे, सिद्धिवहूनिब्भराणुरायसमागमचिन्तादुब्बले सेससाहुणो वन्दिऊण उवविट्ठो गुरुसमीवे। विम्हिओ य तस्स रूव-चरिएहिं। भणियं च णेण—भयव ! किं ते सयलसपुण्णमणोरहस्सावि ईइसं निव्वेयकारण ? जेण इओ तओ ससम्भमनिवडन्तनरिन्दमउलिमणिप्पभाविसरविच्छुरियपायवीढं रायलच्छि उज्झिय इमं ईइस इहलोयनिप्पिवास वयविसेस पडिवन्नो सि त्ति। विजयसेणेण भणिय—महाराय ! ससारम्मि वि

लतागृहाणि, विषयप्रसक्ता इव पाखण्डिनो न शोभन्ते निम्वपादपा, नववरका इव कुसुम्भरक्तनिवसना विराजन्ते रक्ताऽशोका, किं वहुना ? यत्र मनोरथा इव जीवलोकस्य वहुवृत्तान्ता उद्यानपादपा । तथा हिमगिरिशिखराणि इव उत्तुङ्गधवलानि जिनायतनानि । तत्र च वहुप्रासुके भूमिभागे यथासयम स भगवान् चरणकरणनिरत परिवसति । इतश्च राज्ञा गुणसेनेन आस्थानिकागतेन पृष्टम् । केन भवता अद्य इह आश्चर्यभूतं किञ्चिद् वस्तु दृष्टम् ? इति । तत उपलब्धविजयसेनाचार्येण प्रणम्य राजान भणितं कल्याणकेन—महाराज ! दृष्टं मया आश्चर्यकम् । राज्ञा भणितम्-कथय, किं तत् ? इति । कल्याणकेन भणितम्—इह अशोकदत्तश्रेष्ठिप्रतिवद्धे अशोकवनोद्याने सकलद्रष्टव्यदर्शनमहोत्सव, लावण्यज्योत्स्नाप्रवाहपक्ष्मलितचतुर्दिशाभोगः, सकलकलासगत इव मृगलाञ्छन, प्रथमयौवनस्थोऽपि विकाररहितः, विनिर्जितकुसुमवाणोऽपि तप श्रीनिरत, परित्यक्तसर्वसगोऽपि सकलजनोपकारी, मूर्तिमान् इव भगवान् धर्म., दृष्टो मया गान्धारजनपदाधिपस्य समरसेनस्य नप्तृकः, लक्ष्मीसेनस्य पुत्रः प्रतिपन्नश्रमणलिङ्गो विजयसेनो नाम आचार्य इति । ततो राज्ञा भणितम्-अहो ! त्व कृतपुण्य. प्राप्त त्वया फल लोचनानाम् । अहमपि त भगवन्त मुक्त्वा अन्तराय श्वो वन्दिष्ये इति । अतिक्रान्ताया रजन्या कृतसकलप्रभातकृत्यः राजा गत तद् उद्यानम् । दृष्टश्च तेन अनेकश्रमणपरिकरित., सपूर्णशारदशशी इव तारजन (गण) परिवृतः विजयसेनाचार्यः । ततो हर्षोद्भिन्नपुलकेन. आनन्दवाष्पजलभृतलोचनेन, धरणिनिहितजानुकरतलेन सविनयं प्रणतोऽनेन, दत्तश्च तस्मै गुरुणाऽपि शारीर-मानसाऽनेकदुःखविकुटनः, शाश्वतशिवसौख्यतरुवीजभूतः धर्मलाभ इति । ततः अष्टादशशीलाङ्गसहस्रभारवहान्, सिद्धिवधूनिर्भराऽनुरागसमागमचिन्तादुर्वलान् शेपसाधून् वन्दित्वा उपविष्ट गुरुसमीपे । विस्मितश्च तस्य रूप-चरितै । भणितं च तेन—भगवन् ! किं तव सकलसपूर्णमनोरथस्याऽपि ईदृश निर्वेदकारणम् ? येन इतस्ततः ससंभ्रमनिपतन्नरेन्द्रमौलिमणिप्रभाविसरविच्छुरितपादपीठां राजलक्ष्मी त्यक्त्वा इदम्-ईदृशम्-इहलोकनिष्पिपास व्रतविशेषं प्रतिपन्नोऽसि इति । विजयसेनेन भणितम्—महाराज ! संसारेऽपि

निव्वेयकारण पुच्छसि । नणु सुलहमेत्थ निव्वेयकारण । सुण—

नारय-तिरिय-नरा-ऽमरभवेसु हिण्डन्तयाण जीवाण ।
जम्म-जरा-मरणभए मोत्तूण किमत्थि किंचि सुह ? ॥
किं अत्थि नारगो वा तिरिओ मणुओ सुरो व संसारे ।
सो कोइ जस्स जम्मण-मरणाइ न होन्ति पावाइ ?॥
तेहि गहियाण य कह होइ रई हरिणतणयाण व ।
कूडयपडियाण दढ वाहेहि विलुप्पमाणाण ॥
सव्वेसि सत्ताण खणिय पि हु दुक्खमेत्तपडियार ।
जा न करेइ नणु सुहं लच्छी को तीए पडिवन्धो ?॥
केण ममेत्थुप्पत्ती कहिं इओ तह पुणो वि गन्तव्व ।
जो एत्तिय पि चिन्तेइ एत्थ सो को न निव्विण्णो ?॥

अन्न च-एत्थ महाराय ! महासमुद्दमज्झगय रयणमिव चिन्ता-मणिसनिभ दुल्लभ माणुसत्तण, तहा खरपवणचालियकुसग्गजलबिन्दुच-ञ्चल जीविय, कुवियभुयङ्गभीसणफणाजालसन्निहा य कामभोगा, सरय-जलहर-कामिणीकडक्ख-गयकण्ण-विज्जुचञ्चला य रिद्धि, अकयसुहतव-च्चरणाण च दारुणो तिरियनारएसु विवागो त्ति । अवि य—

भय-रोग-सोग-पियविप्पओगबहुदुक्खजलणपज्जलिए ।
नडपेच्छणयसमाणे ससारे को धिइ कुणइ ? ॥
सइ सासयम्मि ठाणे तस्सोवाए य परममुणिभणिए ।
एगन्तसाहगे सुपुरिसाण जत्तो तहिं जुत्तो ॥

एव च, महाराय ! ससारो चेव मे निव्वेयकारण । तहवि पुण निमित्तमेत्तमेय सजाय ति । सुण-अत्थि इहेव विजए गन्धारो नाम जण-वओ, तत्थ गन्धारपुर नाम नयरं । तन्निवासी अहं तत्थेव चिट्ठामि । मित्तो य मे बीयहिययभूओ सोमवसुपुरोहियपुत्तो विहावसू नाम । सो य कहचि आयङ्कपीडियदेहो विणिज्जियसुरासुरेण मच्चुणा मम समक्ख-मेव पञ्चत्तमुवणीओ । तओ अहं तव्विओयाणलजलियमाणसो चिट्ठामि;

निर्वेदकारण पृच्छसि । ननु सुलभमत्र निर्वेदकारणम् । शृणु—

नारक-तिर्यग्-नरा-ऽमरभवेसु हिण्डमानानां जीवानाम् ।
जन्म-जरा-मरणभयानि मुक्त्वा किमस्ति किंचित् सुखम् ?
किमस्ति नारको वा तिर्यङ् मनुजः सुरो वा ससारे ।
स कोऽपि यस्य जनन-मरणानि न भवन्ति पापानि ?
तैर्गृहीताना च कथ भवति रतिर्हरिणतनयानामिव ।
कूटकपतितानां दृढ व्याधैर्विलुप्यमानानाम् ॥
सर्वेषा सत्त्वाना क्षणिकमपि खलु दु खमात्रप्रतीकारम् ।
या न करोति ननु सुख लक्ष्मी कस्तस्यां प्रतिबन्धः ? ॥
केन ममाऽत्रोत्पत्तिः कुत्र इतस्तथा पुनरपि गन्तव्यम् ।
य एतावद् अपि चिन्तयति अत्र स को न निर्विण्णः ? ॥

अन्यच्च—अत्र महाराज ! महासमुद्रमध्यगतं रत्नमिव चिन्तामणिसन्निभ दुर्लभ मनुष्यत्वम्, तथा खरपवनचालितकुशाग्रजलविन्दुचञ्चल जीवितम् कुपितभुजगभीषणफणाजालसन्निभाश्च कामभोगा, शारदजलधर-कामिनीकटाक्ष-गजकर्ण-विद्युच्चञ्चला च ऋद्धिः, अकृतशुभतपश्चरणाना च दारुण तिर्यग्-नारकेषु विपाक इति । अपि च—

भय-रोग-शोक-प्रियविप्रयोगवहुदु खज्वलनप्रज्वलिते ।
नटप्रेक्षणकसमाने ससारे को धृति करोति ? ॥
सदा शाश्वते स्थाने तस्योपाये च परममुनिभणिते ।
एकान्तसाधके सुपुरुषाणां यत्नस्तत्र युक्तः ॥

एव च, महाराज ! ससार एव मम निर्वेदकारणम् । तथाऽपि पुनर्निमित्तमात्रमेतत् सजातमिति । शृणु—अस्ति इहैव विजये गान्धारो नाम जनपद, तत्र गान्धारपुरं नाम नगरम् । तन्निवासी अह तत्रैव तिष्ठामि । मित्र च मम द्वितीयहृदयभूत सोमवसुपुरोहितपुत्रो विभावसुर्नाम । स च कथंचिद् आतङ्कपीडितदेहः विनिर्जितसुरासुरेण मृत्युना मम समक्षमेव पञ्चत्वमुपनीतः । ततोऽहं तद्वियोगानलज्वलितमानसस्तिष्ठामि;

जाव आगया अहासंजमविहारेण विहरमाणा वासावासनिमित्तं चत्तारि साहुणो, ठिया य नयराओ नाइदूरे महामहन्ताए गिरिगुहाए। सिट्ठा य मे 'अइपिय' त्ति करिय नियपुरिसेहिं। गओ अहं सिग्घमेव ते वन्दिउं। दिट्ठा य तत्थ भयवन्तो सज्झायवावडा, वन्दिया पहट्ठवयणपङ्कएण। अहिणन्दिओ भयवन्तेहिं धम्मलाहेण। पुच्छिया मए अहाविहारं। अणु-सासिओ भयवन्तेहिं। तओ ते मुणी कंचि वेलं पज्जुवासिय पविट्ठो नयरं। ते य भयवन्तो सव्वकालमेव वासावासे मासोववासेण जयन्ति त्ति उवलद्धं मए सम्मत्तं। पवड्ढमाणसड्ढस्स य पइदिणं सेवमाणस्स मे अइक्कन्ता चत्तारि मासा। चरिमरयणीए जाया महं चिन्ता। कल्लं खु ते महातवस्सी गच्छिस्सन्ति। तओ अहं अद्धजामावसेसाए रयणीए निग्गओ भयवन्तदंसणनिमित्तं नयराओ। गओ य थेवं भूमिभागं, जाव पयलिया वसुमई, गज्जियं गन्धारगिरिणा, पवाइओ सुरहिमारुओ, उज्जो-वियं नहङ्गणं, वित्थरिओ जयजयारवो। तओ अहं अब्भहियजायहरिसो तुरियं तुरियं पत्थिओ जाव पेच्छामि गन्धारगिरिगुहासमीवे, अवहरियं तणाइयं, समीकयं, धरणिवट्ठं, पवुट्ठं गन्धोदयं, उवइण्णा पुप्फोवयारा, निवडिया देवसंघाया थुणन्ति भयवन्ते साहुणो। अहो ! भे सुलद्धं माणुसत्तणं, खविया रागादओ, पराजियं कम्मसेन्नं, तिण्णो भवसमुद्दो, पाविया सासयसिवसुहसिद्धि त्ति। तओ मए चिन्तियं-आविब्भूयं नूणमे-एसिं केवलं, मुक्का जाइजरामरणदुक्खवासस्स॥ एत्थन्तरम्मि दिट्ठा मए केवलपहावओ च्चिय रयणमयसीहासणोवविट्ठा, विणियट्टभवपवञ्चा, पस-न्तचित्तवावारा, केवलसिरीसमद्धासियसरीरा, मुत्तिमन्ता विव गुणगणा भयवन्तो साहुणो त्ति। तओ मए चिन्तियं-न एत्थ संदेहो, संपुण्णमेव एएसिं केवलनाणं ति। तओ आणन्दवाहजलभरियलोयणेण रोमञ्चपुल-इयङ्गेण, विम्हयवसुप्फुल्ललोयणेण धरणिनिमियजाणुकरयलेण, तहाविहं, अच्चन्तसोहणं, अणाचिक्खणीयं, अवत्थन्तरमणुहवन्तेण वन्दिया मए, वन्दिऊण य उवविट्ठो तेसिं पुरओ। पत्थुया केवलिणा कहा। पयत्ता पुच्छिउं हियइच्छियं देव-नरगणा। तओ मए चिन्तियं—किं पुणो अहं-मेए भयवन्ते पुच्छामि ?

यावद् आगता यथासयमविहारेण विहरन्तो वर्षाऽऽवासनिमित्त चत्वारः साधवः, स्थिताश्च नगराद् नाऽतिदूरे महामहत्या गिरिगुहायाम् । शिष्टाश्च मम 'अतिप्रिया.' इति कृत्वा निजकपुरुषै । गतोऽह शीघ्रमेव तान् वन्दितुम् । दृष्टाश्च तत्र भगवन्त' स्वाध्यायव्यापृता', वन्दिताः प्रहृष्टवदनपङ्कजेन । अभिनन्दितो भगवद्भिः धर्मलाभेन । पृष्टा मया यथाविहारम् । अनुशासितो भगवद्भिः । ततस्तान् मुनीन् काचिद् वेला पर्युपास्य प्रविष्टो नगरम् । ते च भगवन्त सर्वकालमेव वर्षाऽऽवासे मासोपवासेन यतन्ते इति उपलब्ध मया सम्यक्त्वम् । प्रवर्धमानश्रद्धस्य च प्रतिदिन्न सेवमानस्य मम अतिक्रान्ताश्चत्वारो मासाः । चरमरजन्या जाता मम चिन्ता । कल्यं खलु ते महातपस्विन. गमिष्यन्ति । ततोऽह अर्धयामावशेषाया रजन्या निर्गतो भगवद्दर्शननिमित्त नगराद् । गतश्च स्तोक भूमिभागम्, यावत् प्रचलिता वसुमती., गर्जित गान्धारगिरिणा, प्रवात. सुरभिमारुत, उद्द्योतित नभोऽङ्गनम्, विस्तृत जयजयारव । ततोऽहम् — अभ्यधिकजातहर्ष त्वरित त्वरित प्रस्थितो यावत् प्रेक्षे गान्धारगिरिगुहासमीपे, अपहृत तृणादिकम्, समीकृत धरणिपृष्ठम्, प्रवृष्ट गन्धोदकम्, उपकीर्णा पुष्पोपचाराः, निपतिता देवसंघाता. स्तुवन्ति भगवतः साधून् । अहो ! भवद्भि सुलब्धं मनुष्यत्वम्, क्षपिता रागादय., पराजित कर्मसैन्यम्, तीर्ण भवसमुद्रः, प्राप्ता शाश्वतशिवसुखसिद्धिरिति । ततो मया चिन्तितम्—आविर्भूत नूनमेतेषा केवलम्, मुक्ता जाति-जरामरणादुःखवासस्य (वासात्)। अत्रान्तरे दृष्टा मया केवलप्रभावतः एव रत्नमयसिंहासनोपविष्टाः, विनिवृत्तभवप्रपञ्चाः, प्रशान्तचित्तव्यापारा', केवलश्रीसमृद्धातिशयशरीराः, मूर्तिमन्त इव गुणगणा भगवन्तः साधव इति । ततो मया चिन्तितम् —न अत्र सदेह', सपुर्णमेव एतेषा केवलज्ञानमिति । तत आनन्दबाष्पजलभृतलोचनेन, रोमाञ्चपुलकिताङ्गेन, विस्मयवशोत्फुल्ललोचनेन, धरणिनिमितजानुकरतलेन, तथाविधम्, अत्यन्तशोभनम्, अनाख्यानीयम्, अवस्थान्तरमनुभवता वन्दिता मया, वन्दित्वा च उपविष्टस्तेषा पुरत । प्रस्तुता केवलिना कथा । प्रवृत्ताः प्रष्टु हृदयेष्ट देवनरगणाः । ततो मया चिन्तितम्-किं पुनरहम्-एतान् भगवत पृच्छामि ?।

जाव आवडिओ हिययसल्लभूओ चित्तम्मि मे विहावसू। तओ मए चिन्तियं—'अह कहिं पुण मे मित्तो विहावसू उप्पन्नो होउ' एयं पुच्छामि त्ति चिन्तिऊण पुच्छिओ मए भगव केवली। भयवं! अत्थि इओ कोइ कालो पञ्चत्तमुवगयस्स मे मित्तस्स ?। ता कहिं सो उववन्नो? किं वा स ायमवत्थन्तरमणुहवइ? किं वा मम मुणियपरमत्थमग्गस्स वि तव्विओयाणलजणियसंतावो चित्तम्मि नोवसमं जाइ? त्ति। केवलिणा भणियं-सुण, अत्थि इहेव गन्धारपुरे नयरे ऊसइन्नो नाम वत्थसोहगो। तस्स महुपिङ्गा नाम गेहसुणिया। तीसे गब्भम्मि सुणओ उववन्नो त्ति। सो य अइकढिणरज्जुमदामिओ, बुभुक्खापरिमिलाणदेहो, सोहणियाकुण्डनियडवत्ती, रासहखुरप्पहारभीओ इहेव सपयं दारुणमवत्थन्तरमणुहवइ। जम्मन्तरम्मि य पुक्खरद्धभरहकुसुमपुरनिवासिणो ते कुसुमसारसन्नियस्स सेट्ठिपुत्तस्स सिरिकन्ताभिहाणा अच्चन्तवल्लहा पत्ती आसि त्ति। तयब्भासओ य ते तव्विओयाणलजणियसंतावो चित्तम्मि णोवसमं जाइ। तओ मए एयं सोऊण सजायनिव्वेएण तन्नेहमोहियमणेण य तस्स पडिमोक्खणनिमित्तं पेसिया ऊसदिन्नवत्थसोहगगिहं नियपुरिसा, भणिया य 'तं लहुं मोयाविय, विइण्णपाण-भोयणं गिण्हिय इहेवागच्छह' त्ति। तओ गया ते पुरिसा, सिग्घं च संपाडियं मज्झ सासणं इमेहिं, आगया य तं गेण्हिउ। दिट्ठो य सो मए पिसुयासयगहियतणुरुहो, कीडानियरसपाइयखयङ्किओ, अइखीणसरीरो, ससन्तचलिरजीहाकरालो, धवलविहाविज्जमाणदसणावली, मन्द-मन्दं परिसक्कमाणो नाइदूरओ चेव सुणओ त्ति। जाओ य मे तं तहाविहं दट्ठूण महन्तो संवेगो। चिन्तियं च मए—अहो! दारुणो संसारवासो। एवंविहावसाणाणि एत्थ जीवाण पेम्मविलसियाइं। एत्थन्तरम्मि य पत्ता मम समीवं सह तेण ते पुरिसा। निवेइओ णेहिं 'देव! एस सो सुणओ' त्ति। तओ सो मं दट्ठूण पयलन्तदीहलङ्गूलो, वाहजलभरियलोयणो, उग्गीवमवयालियाणणो किंपि तहाविहं अणाचिक्खणीयं अवत्थन्तरं पाविऊण मारसिउमाढत्तो। तओ मए पुच्छिओ केवली। भयवं! किमेयं? ति तेण भणियं दुरन्तपुव्वभवब्भासओ पणओ त्ति। मए भणियं—भयवं! किमेस मं पच्चहियाणइ ?।

यावद् आपतितो हृदयशल्यभूतश्चित्ते मम विभावसु ततो मया चिन्तितम्—'अथ कुत्र पुनर्मम मित्र विभावसु उत्पन्नो भवेत्' एतत् पृच्छामि इति चिन्तयित्वा पृष्टो मया भगवान् केवली । भगवन् ! अस्ति इत' कोऽपि (काश्चित्) काल. पञ्चत्वमुपगतस्य मम मित्रस्य ?। ततः कुत्र स उपपन्न' ? किं वा साप्रतमवस्थान्तरमनुभवति ? किं वा मम ज्ञात-परमार्थमार्गस्य अपि तद्वियोगानलजनितसंताप चित्ते नोपशम याति ? इति । केवलिना भणितम्—शृणु, अस्ति इहैव गान्धारपुरे नगरे पुष्यदत्तो नाम वस्त्रशोधकः । तस्य मधुपिङ्गा नाम गेहशुनी । तस्या गर्भे शुनक उपपन्न इति । स च अतिकठिनरज्जुसदामित., बुभुक्षापरिम्लानदेह , शोधनिकाकुण्डनिकटवर्ती, रासभक्षुरप्रहारभीत इहैव साप्रत दारुणमवस्थान्तरमनुभवति । जन्मान्तरे च पुष्करार्धभरतकुसुमपुरनिवासिनस्तव कुसुमसारसज्ञितस्य श्रेष्ठिपुत्रस्य श्रीकान्ताभिधाना अत्यन्तवल्लभा पत्नी आसीदिति । तदभ्यासतश्च तव तद्वियोगानलजनितसंतापः चित्ते नोपशमं याति । ततो मया एतत् श्रुत्वा सजातनिर्वेदेन तत्स्नेहमोहितमनसा च तस्य प्रतिमोक्षणनिमित्तं प्रेषिता पुष्यदत्तवस्त्रशोधकगृहं निजकपुरुषा , भणिताश्च 'त लघु मोचयित्वा, वितीर्णपान-भोजन गृहीत्वा इहैव आगच्छत इति । ततो गतास्ते पुरुषा , शीघ्र च सपादित मम शासनम्-एभि', आगताश्च त गृहीत्वा । दृष्टश्च स मया पिशुकाशतगृहीततनुरुह , कीटनिकरसंपादितक्षताङ्कित', अतिक्षीणशरीरः, श्वसच्चलमानजिह्वाकराल , धवलविभाव्यमानदशनावलि', मन्दमन्दं परिसर्पन् नातिदूरत एव शुनक इति । जातश्च मम तं तथाविधं दृष्ट्वा महान् सवेग । चिन्तित च मया—अहो ! दारुण. ससारवास. । एवंविधावसानानि अत्र जीवाना प्रेमविलसितानि । अत्रान्तरे च प्राप्ता मम समीप सह तेन ते पुरुषाः । निवेदित तै' 'देव ! एष स शुनक ' इति । तत स मा दृष्ट्वा प्रचलद्दीर्घलाङ्गूलः, बाष्पजलभृतलोचनः, उद्ग्रीवमवचालितानन किमपि तथाविधम्-अनाख्यानीयम्-अवस्थान्तर प्राप्य आरसितुमारब्धः । ततो मया पृष्ट' केवली । भगवन् ! किमेतद् ? इति । तेन भणितम्—दुरन्तपूर्वभवाऽभ्यासतः प्रणय इति । मया भणितम्—भगवन् ! किमेष मा प्रत्यभिजानाति ? ।

भयवया भणियं—न विसेसओ, किंतु सामन्नओ त्ति । ईइसो चेव एस संसारसहावो त्ति, जम्मणन्तरभवब्भत्था भावणा अणाभोगओ वि कंचि कालं अणुवत्तइ त्ति । तओ मए भणियं—भयवं ! अह कस्स कम्मस्स एस विवागो ? भयवया भणियं–जाइमयमाणजणियस्स । मए भणियं–भयवं ! को वि याणेण माणो कओ ? त्ति । भयवया भणियं—सुण, एत्थ चेवाणन्तरजम्मे पवत्ते मयणमहूसवे, निग्गयासु विचित्तवेसासु, नयरचच्चरीसु तरुणजणवन्द्रपरिगएण बहुजणपसंसणिज्जं वसन्तकीलमणुहवन्तेण दिट्ठा समासन्नचारिणी वत्थसोहगचच्चरि त्ति । दट्ठूण य अन्नाणदोसेण जाइ–कुलाइगव्विएण 'कहं नीयचच्चरी अम्हाण चच्चरीए समासन्नं परिव्वयइ' त्ति कयत्थिया वत्थसोहगा । पहाणो त्ति करिय दढयरं कयत्थिऊण सजमियसव्वगत्तो नेयाविओ चारयं ऊसदिन्नो । एत्थन्तरम्मि गरुयमाणपरिणामवत्तिणा बद्धं परभवाउयं । निवत्ते य मयणमहूसवे नगरलोएण मोयाविओ ऊसदिन्नो । एसो य तक्कम्मपरिणामवसओ मरिऊण एत्थ उववन्नो त्ति । तओ मए चिन्तियं—अहो ! अप्पसुहं नियाणं बहुदुक्खफलं, धिरत्थु संसारवासस्स । ता पुच्छामि भयवन्तं 'किंपज्जवसाणमेयं नियाणं ? किं वा एस भविओ, अभविओ वा ? सिद्धिगामी असिद्धिगामी सपत्तवीओ वा न व ?' त्ति चिन्तिऊण पुच्छियं मए । तओ भयवया भणियं—सुण, जंपज्जवसाणमेयं नियाणं । इओ सुणयभवाओ एस अहाउयं पालिऊण उव्वट्टो समाणो इमस्स चेव ऊसदिन्नस्स गेहपसूयाए घोडघडिगाभिहाणाए रासहीए गब्भम्मि रासहत्ताए उववज्जिहि त्ति । तओ य निग्गओ समाणो ऊसदिन्नस्स अमणोरमो, किलेससंपावियसरीरवित्ती, गरुयभारुव्वहणपरिखेइयसरीरो, जीवियसमयं त्तिट्ठिऊण मओ समाणो ऊसदिन्नसगयस्स चेव माइदिन्नसन्नियस्स चण्डालस्स अणहिगाभिहाणाए भारियाए कुच्छिंसि नपुंसगत्ताए उववज्जिहि त्ति । तओ य निक्खन्तो समाणो कुरूवदोहग्गकलङ्कदूसिओ, अपरिन्नायविसयसङ्गो, कंचि कालं नपुंसगत्ताए जीविऊण सीहविणिवाइयसरीरो देहं पमोत्तूण तीसे चेव चण्डालमहिलियाए कुच्छिंसि इत्थियत्ताए उववज्जिहि त्ति । तओ विणिग्गयमेत्तो चेव पढमबालभाववत्ती भुयङ्गडक्को

भगवता भणितम्—न विशेषतः, किन्तु सामान्यत इति। ईदृश एव एष संसारस्वभाव इति, जन्मान्तरभवाभ्यस्ता भावना अनाभोगतोऽपि कंचित् कालम्-अनुवर्तते इति। ततो मया भणितम्-भगवन्! अथ कस्य कर्मणः एष विपाकः ?। भगवता भणितम्—जातिमदमानजनितस्य (कर्मणः)। मया भणितम्—भगवन्! कोऽपि च अनेन मानः कृतः ? इति। भगवता भणितम् शृणु, अत्र चैव अनन्तरजन्मनि प्रवृत्ते मदनमहोत्सवे, निर्गतासु विचित्रवेषासु, नगरचत्वरीषु तरुणजनवृन्दपरिगतेन बहुजनप्रशंसनीयां वसन्तक्रीडाम्-अनुभवता दृष्टा समासन्नचारिणी वस्त्रशोधकचत्वरी इति। दृष्ट्वा च अज्ञानदोषेण जाति-कुलादिगर्वितेन 'कथं नीचचत्वरी अस्माकं चत्वर्यां समासन्नं परिव्रजति' इति कदर्थिता वस्त्रशोधकाः। प्रधान इति कृत्वा दृढतरं कदर्थयित्वा संयमित (बद्ध) सर्वगात्रः नायितश्चारकं पुष्यदत्तः। अत्रान्तरे गुरुकमानपरिणामवर्तिना बद्धं परभवायुष्कम्। निवृत्ते च मदनमहोत्सवे नगरलोकेन मोचितः पुष्यदत्तः। एष च तत्कर्मपरिणामवशतः मृत्वा अत्र उपपन्न इति। ततो मया चिन्तितम्—अहो!! अल्पसुखं निदानं बहुदुःखफलम्, धिगस्तु संसारवासम्। ततः पृच्छामि भगवन्तम् 'किंपर्यवसानमेतद् निदानम्? किं वा एष भव्यः, अभव्यो वा? सिद्धिगामी असिद्धिगामी संप्राप्तबीजो वा न वा?' इति चिन्तयित्वा पृष्टं मया। ततो भगवता भणितम्—शृणु, यत्पर्यवसानमेतद् निदानम्। इतः शुनकभवाद् एष यथायुष्कं पालयित्वा उद्वृत्तः सन् अस्यैव पुष्यदत्तस्य गेहप्रसूतायां घोटघटिकाभिधानायां रासभ्यां गर्भे रासभतया उत्पत्स्यत इति। ततश्च निर्गतः सन् पुष्यदत्तस्य अमनोरमः, क्लेशसंप्रापितशरीरवृत्तिः, गुरुकभारोद्वहनपरिखेदितशरीरः, जीवितसमयं स्थित्वा मृतः सन् पुष्यदत्तसंगतस्यैव मातृदत्तसंज्ञितस्य चाण्डालस्य अनंघिकाभिधानाया भार्याया कुक्षौ नपुंसकतया उत्पत्स्यत इति। ततश्च निष्क्रान्तः सन् कुरूपदौर्भाग्यकलङ्कदूषितः, अपरिज्ञातविषयसंगः, कंचित् कालं नपुंसकतया जीवित्वा सिंहविनिपातितशरीरो देहं प्रमुच्य तस्या एव चाण्डालमहिलाया कुक्षौ स्त्रीतया उत्पत्स्यत इति ततो विनिर्गतमात्र एव प्रथमबालभाववर्ती भुजगदष्टः

मरिऊण ऊसदिन्नस्स चेव गब्भदासीए दत्तियाभिहाणाए कुच्छिसि नपुंसगत्ताए उववज्जिहि त्ति । तओ विणिग्गओ समाणो जच्चन्धमडहखुज्जो सव्वलोयपरिभूओ कंचि कालं नपुंसगत्तं परिवालीऊण पयत्ते नयरडाहे किसाणुणा छारीकयसरीरो पञ्चत्तमुवगच्छिऊण तीसे चेव गब्भदासीए कुच्छिसि इत्थियत्ताए उववज्जिहि त्ति। समुप्पन्नो य पीढसप्पी भविस्सइ त्ति । तओ एत्थेव नयरे रायमग्गे गच्छन्ती वियरिएण मत्तहत्थिणा वावाइया समाणी इमस्स चेव ऊसदिन्नस्स कालञ्जणियाभिहाणाए भारियाए कुच्छिसि इत्थिगत्ताए उववज्जिहि त्ति । जाया समाणी कमेण संपत्तजोव्वणा । दिन्ना य ऊसदिन्नेण ऊमरक्खियाभिहाणस्स अच्चन्तदारिद्दाभिभूयस्स। इत्थिया कयपाणिग्गहणा आवन्नसत्ता होऊण पसूइसमए चेव महावेयणाहिभूया कालं काऊण सजणणीए चेव पुत्तत्ताए उववज्जिहि त्ति । उववन्नो य सो वालभावे चेव गन्धारनिन्नगातीरम्मि खेल्लमाणो ऊसदिन्नसत्तुणा चिलायनामेण 'रिउपुत्तो' त्ति गिण्हिऊण सिरोहरानिबद्धगरुयसिलायलो दहम्मि परिक्खिप्पिहिइ । एयपज्जवसाणमेयं नियाणं । भविओ य एसो सिद्धिगामी य, केवलमसंपत्तवीओ त्ति । तओ मए भणियं—भयवं ! कहिं पुणो सो जलमरणाणन्तरं उववज्जिहिइ ? त्ति, कया वा वीयसंपत्ती, मुत्तिसंपत्ती य भविस्सइ ? । भगवया भणियं—सुण, जलमरणाणन्तरं वाणमन्तरेसु उववज्जिहि त्ति । तओ तम्मि चेव जम्मे आणन्दतित्थयरसमीवे सासयसुहकप्पपायवेक्कवीयं सम्मत्तं पाविहिइ । तओ चउगइसमावन्नो संखेज्जेसु समइच्छिएसु भवग्गहणेसु, इहेव गन्धारजणवए पाविऊण नरवइत्तणं, अमरतेयविज्जाहरसमणगणिसमीवे पवज्जिऊण पव्वज्जं, संपत्तकेवलो मुत्तिं पाविस्सइ त्ति । तओ ममेयं सोऊण जाओ संवेओ, नियत्ता भवचारगाओ मई । तओ अणुन्नविय जणणि-जणए, काऊण जहोचियं करणिज्जं, निक्खन्तो सुगहीयनामधेयस्स भगवओ इन्ददत्तगणहरस्स समीवे । ता एयं मे निव्वेयकारणं ति । गुणसेणेण भणियं - भयवं ! कयत्थो सि, सोहणं निव्वेयकारणं । जं पुण इमं भणियमासि । जहा—

मृत्वा पुष्यदत्तस्य एव गर्भदास्या (प्रसूतिकर्मकारिण्या गृहदास्या) दत्तिकाभिधानायाः कुक्षौ नपुंसकतया उत्पत्स्यत इति । तत विनिर्गत· सन् जात्यन्धलघुकुब्ज सर्वलोकपरिभूत कंचित् काल नपुंसकत्व परिपाल्य प्रवृत्ते नगरदाहे कृशानुना भस्मीकृतशरीर पञ्चत्वमुपगम्य तस्या एव गर्भदास्या कुक्षौ स्त्रीतया उत्पत्स्यत इति । समुत्पन्नश्च पीठसर्पी भविष्यति इति । ततोऽत्रैव नगरे राजमार्गे गच्छन्ती विहप्तेन मत्तहस्तिना व्यापादिता सती अस्यैव पुष्यदत्तस्य कालाञ्जनिकाभिधानाया भार्याया कुक्षौ स्त्रीतया उत्पत्स्यत इति । जाता सती क्रमेण सम्प्राप्तयौवना । दत्ता च पुष्यदत्तेन पुष्यरक्षिताभिधानस्य अत्यन्तदारिद्र्यभिभूतस्य । स्त्री कृतपाणिग्रहणा आपन्नसत्त्वा भूत्वा प्रसूतिसमये एव महावेदनाऽभिभूता काल कृत्वा स्वजनन्या एव पुत्रतया उत्पत्स्यत इति । उपपन्नश्च स बालभावे एव गान्धारनिम्नगातीरे खेलन् पुष्यदत्तशत्रुणा चिलात (किरात) नाम्ना 'रिपुपुत्र.' इति गृहीत्वा शिरोधरानिवद्धगुरुकशिलातलः ह्रदे परिक्षेपयिष्यते । एतत्पर्यवसानमेतद् निदानम् । भव्यश्च एष सिद्धिगामी च, केवलम्-असम्प्राप्तबीज (अप्राप्तसम्यक्त्व) इति । ततो मया भणितम्—भगवन् ! कुत्र पुनः स जलमरणानन्तरम्-उत्पत्स्यत ? इति, कदा वा बीज-सम्यक्त्व-सम्प्राप्ति, मुक्तिसम्प्राप्तिश्च भविष्यति ? । भगवता भणितम्—शृणु, जलमरणानन्तर वानव्यन्तरेषु उत्पत्स्यत इति । तत तस्मिन् एव जन्मनि आनन्दतीर्थंकरसमीपे शाश्वतसुखकल्पपादपैकबीज सम्यक्त्वं प्राप्स्यति । तत· चतुर्गतिसमापन्न सख्येयेषु समतिगतेषु भवग्रहणेषु, इहैव गान्धारजनपदे प्राप्य नरपतित्वम्, अमरतेजोविद्याधरश्रमणगणिसमीपे प्रपद्य प्रव्रज्याम्, सम्प्राप्तकेवल· मुक्ति प्राप्स्यति इति । ततो मम एतत् श्रुत्वा जात सवेग, निवृत्ता भवचारकाद् मति । ततोऽनुज्ञाप्य जननी-जनकौ, कृत्वा यथोचित करणीयम्, निष्क्रान्त सुगृहीतनामधेयस्य भगवत इन्द्रदत्तगणधरस्य समीपे । तत एतद् मम निर्वेदकारणम्-इति । गुणसेनेन भणितम्—भगवन् ! कृतार्थोऽसि, शोभन निर्वेदकारणम् । यत् पुनर् इद भणितमासीत् । यथा—

सइ सासयम्मि ठाणे तस्सोवाए य परममुणिभणिए ।
एगन्तसाहए सुपुरिसाण जत्तो तहि जुत्तो ।। त्ति

अह किं पुण तं सासय ठाणं, को वा तस्स साहग्रो उवाओ ? त्ति विजयसेणेण भणियं—महाराय ! सासय ठाण नाम, जत्थ पाणिणो अट्ठविहकम्ममलकलङ्कविप्पमुक्का, जम्म-जरा-मरण-रोय-सोयाइरहिया, निरुवमनाणदसणसुहभाइणो, आयामिदीहमद्धं कालं चिट्ठन्ति । तं पुण सयलाइसयरयणायरेहिं, तेलोक्कबन्धवेहिं, सुरासुरपूइएहिं, सव्वन्नूहिं भणियं । इमस्स चेव चोद्दसरज्जूसियस्स खेत्तलोगस्स चूडामणीभुय परमपय ठाणं ति । साहओ उण उवाग्रो इमस्स सम्मत्त-नाण चरणलक्खणो पडिवाइओ त्ति । एसो य गिहिधम्म-साहुधम्मेहिं ववत्थिग्रो। तत्थ गिहिधम्मो दुवालसविहो । त जहा-पञ्च अणुव्वयाइ, तिण्णि गुणव्वयाइ, चत्तारि सिक्खावयाइं ति । साहुधम्मो उण दसविहो । त जहा—

खन्ती य मद्दव-ऽज्जव-मुत्ती तव-सजमे य बोधव्वे ।
सच्च सोय आकिञ्चण च बम्भं च जइधम्मो ।।

एयस्स उण दुविहस्स वि धम्मस्स मूलवत्थु सम्मत्तं । त पुणो ग्रणाइकम्मसताणवेढियस्स जन्तुणो दुल्लहं हवइ त्ति । त च कम्म ग्रट्ठहा । तं जहा-नाणावरणिज्जं, दरिसणावरणिज्ज, वेयणिज्जं, मोहणिज्ज, आउय, नामं, गोत्तं, अन्तरायं च । एयस्स उण निमित्तं-मिच्छत्त, अन्नाण, अविरई, पमाग्रो, कसाया, जोगा य त्ति । एगपरिणामसचियस्स एयस्स दुविहा ठिई समक्खाया तं जहा-उक्कोसिया य, जहन्निया य । तत्थ णं जा सा उक्कोसिया, सा तिव्वासुहपरिणामजणियाणं नाणावरण-दरिसणावरण-वेयणीय-अन्तरायाण तीसं सागरोवमकोडाकोडीओ, मोहणिज्जस्स सत्तरि, नामगोयाणं वीस, तेत्तीस च सागरोवमाइं ग्राउयस्स त्ति। जहन्ना उण तहाविहपरिणामसचियस्स वेयणीयस्स बारस मुहुत्ता, नाम-गोयाण ग्रट्ठ, सेसाण भिन्नमुहुत्तं ति । एवठियस्स य इमस्स कमस्स ग्रहापवत्तकरणेण जया घंसणघोलणाए कहवि एग

सति शाश्वते स्थाने तस्योपाये च परममुनिभणिते ।
एकान्तसाधके सुपुरुषाणां यत्नस्तत्र युक्त ॥ इति

अथ किं पुनः तत् शाश्वत स्थानम्, को वा तस्य साधक उपाय ? इति । विजयसेनेन भणितम्—महाराज ! शाश्वत स्थानं नाम, यत्र प्राणिनः अष्टविधकर्ममलकलङ्कविप्रमुक्ता, जन्म-जरा-मरण-रोग-शोकादिरहिताः, निरुपमज्ञान-दर्शन-सुखभागिन आयामिदीर्घाध्वकाल तिष्ठन्ति । तत् पुन. सकलाऽतिशयरत्नाकरैः, त्रैलोक्यबान्धवै, सुरासुर–पूजितैः सर्वज्ञै भणितम् । अस्य एव चतुर्दशरज्जूच्छ्रितस्य क्षेत्रलोकस्य चूडामणिभूतं परमपद स्थानम्–इति । साधक पुन. उपाय अस्य सम्यक्त्व-ज्ञान-चरणलक्षण प्रतिपादित इति । एष च गृहिधर्म-साधुधर्मे व्यवस्थितः । तत्र गृहिधर्मो द्वादशविध । तद्यथा–पञ्च अणुव्रतानि, त्रीणि गुणव्रतानि, चत्वारि शिक्षाव्रतानि इति । साधुधर्म पुन. दशविधः । तद्यथा–

क्षान्तिश्च मार्दवा–ऽऽर्जव–मुक्ति तप संयमौ च बोद्धव्यौ ।
सत्यं शौच आकिञ्चन्य च ब्रह्म च यतिधर्म ॥

एतस्य पुन द्विविधस्य अपि धर्मस्य मूलवस्तु सम्यक्त्वम् । तत् पुनः अनादिकर्मसंतानवेष्टितस्य जन्तोः दुर्लभं भवति इति । तच्च कर्म अष्टधा । तद्यथा—ज्ञानावरणीयम्, दर्शनावरणीयम्, वेदनीयम्, मोहनीयम्, आयुष्यम्, नाम, गोत्रम्, अन्तरायं च । एतस्य पुनर्निमित्तम्–मिथ्यात्वम्, अज्ञानम्, अविरतिः, प्रमादः, कषाया, योगाश्चेति । एकपरिणामसंचितस्य एतस्य द्विविधा स्थिति समाख्याता । तद्यथा–उत्कृष्टा च, जघन्या च । तत्र या सा उत्कृष्टा, सा तीव्राऽशुभपरिणामजनिताना ज्ञानावरणदर्शनावरण–वेदनीय–अन्तरायाणां त्रिंशत् सागरोपमकोटाकोटि , मोहनीयस्य सप्ततिः, नाम–गोत्रयो विंशति, त्रयस्त्रिंशच्च सागरोपमाणि आयुष्कस्य इति । जघन्या पुन तथाविधपरिणामसचितस्य वेदनीयस्य द्वादश मुहूर्ताः, नाम–गोत्रयो , अष्ट, शेषाणा भिन्नमुहूर्तम्–इति । एवस्थितस्य च अस्य कर्मण यथाप्रवृत्तकरणेन यदा घर्षणघूर्णनया कथमपि एका

सागरोवमकोडाकोडिं मोत्तूण सेसाओ खवियाओ हवन्ति, तीसे वि य ण थेवमेत्ते खविए, तया घणरायदोसपरिणामलक्खणो, नाणावरण-दरिसणावरण-ऽन्तरायपडिवन्नसहायभावो, मोहणीयकम्मनिव्वत्तिओ, अच्चन्तदुब्भेओ कम्मगण्ठी हवइ । भणियं च—

गण्ठि त्ति सुदुब्भेओ कक्खडघणरूढगूढगण्ठि व्व ।
जीवस्स कम्मजणिओ घणरायदोसपरिणामो ।।

त च पत्ते समाणे अत्थि एगे जीवे, जे त भिन्दइ, अत्थि एगे जीवे जे नो भिन्दइ । तत्थ ण जे से भिन्दइ, से अपुव्वकरणेण भिन्दइ । तओ तम्मि भिन्ने समाणे अणियट्टीकरणेण कम्मवणस्स दावाणलेगदेस, सिवसुहपायवस्स निरुवहयवीय, ससारचारयस्स मोयावणसमत्थ, चिन्तामणिरयणस्स य लहुयभावजणय, अणाइम्मि ससारसायरे अपत्तपुव्व, पसत्थसम्मत्तमोहणीयकम्माणुवेयणोवसमक्खयसमुत्थ, पसम-सवेय-निव्वेया-ऽणुकम्पाइलिङ्ग, सुहायपरिणामरूव सम्मत्त पाउणइ, तल्लाहसमकाल च दुवे नाणाणि । त जहा-मइनाण च, सुयनाण च । तओ तम्मि पत्ते समाणे से जीवे वहुयकम्ममलमुक्के, आसन्ननियसरूवभावे, पसन्ने सविग्गे, निव्विण्णे, अणुकम्पापरे, जिणवयणरुई आवि हवइ । भणिय च—

सम्मत्तं उवसममाइएहि लक्खिज्जए उवाएहिं ।
आयपरिणामरूवं वज्झेहि पसत्थजोगेहि ।।
एत्थ य परिणामो खलु जीवस्स सुहो उ होइ विन्नेओ ।
किं मलकलङ्कमुक्क कणय भुवि सामल होइ ? ।।
पयईइ य कम्माण वियाणिउ वा विवागमसुह ति ।
अवरद्धे वि ण कुप्पइ उवसमओ सव्वकाल पि ।।
नर-विबुहे-सरसोक्खं दुक्ख चिय भावओ उ मन्नन्तो ।
सवेगओ न मोक्खं मोत्तूण किंचि पत्थेइ ।।
नारय-तिरिय-नरा-ऽमरभवेसु निव्वेयओ वसइ दुक्ख ।
अकयपरलोयमग्गो ममत्तविसवेगरहिओ वि ।।

सागरोपमकोटाकोटि मुक्त्वा शेषाः क्षपिता भवन्ति तस्या अपि च स्तोकमात्रे क्षपिते, तदा घनराग–दोष (द्वेष) परिणामलक्षणः, ज्ञानावरण–दर्शनावरण–अन्तरायप्रतिपन्नसहायभावः, मोहनीयकर्मनिर्वर्तित , अत्यन्त-दुर्भेद कर्मग्रन्थिर्भवति । भणित च—

ग्रन्थिरिति सुदुर्भेद कर्कशघनरूढगूढग्रन्थिरिव ।
जीवस्य कर्मजनित घनराग–दोष(द्वेष)परिणाम ॥

त च प्राप्ते सति अस्ति एको जीव, यस्त भिनत्ति, अस्ति एको जीवः, यो न भिनत्ति । तत्र य स भिनत्ति, सोऽपूर्वकरणेन भिनत्ति । ततस्तस्मिन् भिन्ने सति अनिवृत्तिकरणेन कर्मवनस्य दावानलैकदेशम्, शिवसुखपादपस्य निरुपहतबोजम्, ससारचारकाद् मोचनसमर्थम्, चिन्तामणिरत्नस्य च लघुकभावजनकम्, अनादौ ससारसागरे अप्राप्तपूर्वम्, प्रशस्तमम्यक्त्वमोहनीयकर्मानुवेदनोपशमक्षयसमुत्थम्, प्रशम–सवेग–निर्वेदाऽनुकम्पादिलिङ्गम्, शुभाऽऽत्मपरिणामरूप सम्यक्त्वं प्राप्नोति, तल्लाभसमकाल च द्वे ज्ञाने । तद्यथा–मतिज्ञान च श्रुतज्ञानं च । ततः तस्मिन् प्राप्ते सति स जीव बहुककर्ममलमुक्त, आसन्ननिजस्वरूपभाव, प्रसन्न., सविग्न , निर्विण्ण , अनुकम्पापर, जिनवचनरुचिश्चापि भवति। भणितं च–

सम्यक्त्वं उपशमादिकैर्लक्ष्यते उपायै ।
आत्मपरिणामरूप बाह्यैः प्रशस्तयोगैः ॥
अत्र च परिणाम , खलु जीवस्य शुभस्तु भवति विज्ञेय. ।
किं मलकलङ्कमुक्त कनक भुवि श्यामलं भवति ? ॥
प्रकृतेश्च कर्मणा विज्ञाय वा विपाकमशुभमिति ।
अपराद्धेऽपि न कुप्यति उपशमत सर्वकालमपि ॥
नर–विबुधेश्वरसौख्य दुःखमेव भावतस्तु मन्यमान. ।
सवेगतो न मोक्ष मुक्त्वा किंचित् प्रार्थयते ॥
नारक–तिर्यग्–नरा–ऽमरभवेषु निर्वेदत. वसति दुःखम् ।
अकृतपरलोकमार्ग. ममत्वविषवेगरहितोऽपि ॥

दट्ठूण पाणिनिवहं भीमे भवसागरम्मि दुक्खत्त ।
अविसेसओऽणुकम्प दुहा वि सामत्थओ कुणइ ॥
मन्नइ तमेव सच्चं नीसङ्क ज जिणेहि पन्नत्त ।
सुहपरिणामो सव्व कङ्खाइविसोत्तियारहिओ ॥
एवविहपरिणामो सम्मदिट्ठी जिणेहि पन्नत्तो ।
एसो य भवसमुद्दं लङ्घइ थेवेण कालेण ॥

तओ य तीसे वि य ण ठिईए पलिओवमपुहुत्तमेत्ते खीणे परमत्थओ सुहयरपरिणामगब्भ देसविरइ पडिवज्जइ । त जहा-थूलगपाणाइवायविरमण वा, थूलगमुसावायविरमण वा, थूलयादत्तादाणविरमणं वा, परदारगमणविरमण वा, सदारसतोस वा, अपरिमियपरिग्गहविरमण वा । से य एवं देसविरइपरिणामजुत्ते, पडिवन्नाणुव्वए, भावओ अपरिवडियपरिणामे नो खलु समायरइ इमे अइयारे । त जहा-बन्ध वा, वहं वा, छविच्छेय वा, अइभारारोवण वा, भत्तपाणवोच्छेय वा; तह सहसब्भक्खाणं वा, रहस्सब्भखाण वा, सदारमन्तभेय वा, मोसोवएस वा, कूडलेहकरण वा; तहा तेणाहडं वा, तक्करपओग वा, विरुद्धरज्जाइक्कमं वा, कूडतुल-कूडमाणे वा, तप्पडिरूवगववहार वा; तहा इत्तिरियपरिग्गहियागमण वा, अपरिग्गहियागमण वा, अणङ्गकीड वा, परविवाहकरण वा, कामभोगतिव्वाहिलासं वा, तहा खेत्तवत्थुपमाणाइक्कमं वा, हिरण्णसुवण्णपमाणाइक्कमं वा, धण-धन्नपमाणाइक्कमं वा, दुपय-चउप्पय-पमाणाइक्कमं वा, कुवियपमाणाइक्कमं वा; तहा अन्ने य एवजाइए ससारसागरहिण्डणनिमित्तभूए सुहपरिणामभावओ चेव नो आयरइ त्ति । तहा इमे एयारूवे उत्तरगुणे य पडिवज्जइ । तं जहा-उड्ढदिसिगुणव्वय वा, अहोदिसिगुणव्वय वा, तिरियदिसिगुणव्वय वा, तहा भोगोवभोगपरिमाणलक्खणगुणव्वय वा, उवभोग-परिभोगहेउ-खरकम्माइपरिवज्जण वा; तहा अवज्झाणायरिय-पमायायरिय-हिसप्पयाण-पावकम्मोवएसलक्खणाणत्थदण्डविरइगुणव्वयं वा, तहा सावज्जजोगपरिवज्जण-निरवज्जजोगपडिसेवणालक्खणसिक्खावयं वा, तहा दिसिव्वयगहियस्स दिसापरिमाणस्स

दृष्ट्वा प्राणिनिवह भीमे भवसागरे दुःखार्तम् ।
अविशेषत. अनुकम्पा द्विधाऽपि सामर्थ्यत करोति ॥
मन्यते तदेव सत्य निःशङ्क यद् जिनै प्रज्ञप्तम् ।
शुभपरिणामः सर्वं काङ्क्षादिविस्रोतसिकारहित ॥
एवंविधपरिणाम· सम्यग्दृष्टिर्जिनै प्रज्ञप्त ।
एष च भवसमुद्रं लङ्घते स्तोकेन कालेन ॥

ततश्च तस्या अपि च स्थिते पल्योपमपृथक्त्वमात्रे क्षीणे परमार्थत शुभतरपरिणामगर्भा देशविरति प्रतिपद्यते । तद्यथा–स्थूलकप्राणातिपातविरमण वा, स्थूलकमृषावादविरमणं वा, स्थूलकाऽदत्तादानाविरमणं वा, परदारगमनविरमण वा, स्वदारसतोष वा, अपरिमितपरिग्रहविरमण वा । स च एव देशविरतिपरिणामयुक्त , प्रतिपन्नाऽणुव्रत· भावतोऽपरिपतितपरिणामः नो खलु समाचरति इमान् अतिचारान् । तद्यथा– बन्ध वा, वध वा, छवि (शरीर) च्छेद वा, अतिभाराऽऽरोपण वा, भक्त पानव्युच्छेदं वा; तथा सहसाऽभ्याख्यान वा, रहस्याऽभ्याख्यान वा, स्वदारमन्त्रभेद वा, मृषोपदेश वा, कूटलेखकरण वा; तथा स्तेनाहृतं वा, तस्करप्रयोग वा, विरुद्धराज्यातिक्रम वा कूटतुला–कूटमान वा, तत्प्रतिरूपकव्यवहारं वा; तथा इत्वरिकपरिगृहीतागमन वा; अपरिगृहीतागमन वा; अनङ्गक्रीडा वा, परवि वाहकरण वा, कामभोगतीव्राऽभिलाष वा; तथा क्षेत्रवस्तुप्रमाणाऽतिक्रम वा, हिरण्य–सुवर्णप्रमाणाऽतिक्रम वा, धन–धान्यप्रमाणातिक्रमं वा, द्विपदचतुष्पदप्रमाणातिक्रमं वा, कुप्यप्रमाणातिक्रम वा; तथा अन्याश्च एवजातिकान् संसारसागरहिण्डननिमित्तभूतान् अशुभपरिणामभावत एव नो आचरति इति । तथा इमान् एतद्रूपान् उत्तरगुणांश्च प्रतिपद्यते । तद्यथाऊर्ध्वदिग्गुणव्रत वा; अधोदिग्गुणव्रतं वा, तिर्यग्दिग्गुणव्रत वा, तथा भोगोपभोगपरिमाणलक्षणगुणव्रत वा, उपभोग-परिभोगहेतु-खरकर्मादिपरिवर्जन वा; तथा अपध्यानाचरित–प्रमादाचरित-हिंसाप्रदान पापकर्मोपदेशलक्षणानर्थदण्डविरतिगुणव्रत वा, तथा सावद्ययोगपरिवर्जन–निरवद्ययोगप्रतिसेवनालक्षणशिक्षाव्रत वा, तथा दिग्व्रतगृहीतस्य दिक्परिमाणस्य

पडदिणपमाणकरणदेसावगासियसिक्खावय वा, तहा आहार-सरीरसक्कार-वम्भचेर-अव्वावारलक्खणपोसहसिक्खावय वा, तहा नायागयाणं, कप्प-णिज्जाण, अन्न-पाणाईण दव्वाण देसकाल-सद्धा-सक्कारकमजुयं पराए भत्तीए आयाणुग्गहट्ठाए सजयाण दाण ति, इइलक्खणातिहिसविभागसिक्खावय वा। से य एव कुसलपरिणामजुत्ते पडिवन्नगुणव्वयसिक्खावए भावओ अपरिवडियपरिणामे नो खलु समायरइ इमे अइयारे। तं जहा-उड्ढदिसिपमाणाइक्कम वा, अहोदिसिपमाणाइक्कम वा, तिरियदिसिपमाणाइक्कम वा, खेत्तवुड्ढि वा, सइअन्तरद्ध वा, तहा सचित्ताहार वा, सचित्तपडिवद्धाहार वा, अप्पउलिओसहिभक्खण वा, दुप्पउलिओसहिभक्खणं वा, तुच्छोसहिभक्खण वा, तहा इङ्गालकम्म वा, वणकम्म वा, सागडिकम्म वा, भाडियकम्म वा, फोडियकम्म वा, दन्तवाणिज्जं वा, केसवाणिज्जं वा, रसवाणिज्ज वा, विसवाणिज्ज वा, जन्तपीलणकम्मं वा, निल्लञ्छणकम्म वा, दवग्गिदावणय वा, असइपोसण वा, सर-दह-तलायसोसणय वा, तहा कन्दप्प वा, कक्कुइय वा, मोहरिय वा, सजुत्ताहिगरण वा, उवभोगपरिभोगाइरेगं वा, तहा मणदुप्पणिहाणं वा, वयदुप्पणिहाणं वा, कायदुप्पणिहाण वा, सामाइयस्स सइअकरण वा, सामाइयस्स अणवट्ठियस्स करणं वा; तहा आणवणपओग वा, पेसवणपओग वा, सद्दाणुवाइत्त वा, रूवाणुवाइत्त वा, वहियापोग्गलपक्खेवणं वा; तहा अप्पडिलेहिय-दुप्पडिलेहियसेज्जासंथारदुरूहण वा, अप्पमज्जिय-दुप्पमज्जियसेज्जासथारदुरूहण वा, अप्पडिलेहिय-दुप्पडिलेहियउच्चार-पासवणविगिञ्चणयं वा, अप्पमज्जिय-दुप्पमज्जियउच्चार-पासवणविगिञ्चणय वा, पोसहोववासस्स सम्म अणणुपालणयं वा, तहा सचित्तनिक्खिवणय वा, सचित्तपिहणयं वा, कालाइक्कमं वा, परववएसं वा, मच्छरियं वा, अन्ने य एवजाइए गुणव्वयसिक्खावयाइयारे नायरइ। तओ णं से एमेयाणुरूवेणं कप्पेणं विहरिऊण तीसे कम्मट्ठिईए परिणामविसेसेणं तम्मि वा जम्मे, अणेगेसु वा जम्मेसु संखेज्जेसु सागरोवमेसु खविएसु सव्वाविरइलक्खण खमा-मद्दव-ज्जव-मुत्ती-तव-संजम-सच्च-सोया-ऽऽकिञ्चण-वम्भचेररूव जइधम्मं पाउणइ। तओ एव चेव उवसमसेढी, एवं चेव

प्रतिदिनप्रमाणकरणदेशावकाशिकशिक्षाव्रत वा, तथा आहार-शरीरसत्कार-ब्रह्मचर्य-अव्यापारनक्षरणपौषधशिक्षाव्रत वा, तथा न्यायागतानाम्, कल्प-नीयानाम्, अन्नपानदीना द्रव्याणां देश-काल-श्रद्धा-सत्कारक्रमयुत परया भक्त्या आत्मानुग्रहार्थाय संयताना दानमिति, इतिलक्षणाऽतिथिसंविभाग-शिक्षाव्रत वा । स चैवं कुशलपरिणामयुक्त प्रतिपन्नगुणव्रत-शिक्षाव्रतः भावत अपरिपतितपरिणाम नो खलु समाचरति इमान् अतिचारान् । तद्यथा-ऊर्ध्वदिक्प्रमाणातिक्रम वा, अधोदिक्प्रमाणाति क्रम वा, तिर्यग्दि-क्प्रमाणातिक्रम वा, क्षेत्रवृद्धि वा, स्मृत्यन्तर्द्धि वा, तथा सचित्ताहार वा, सचित्तप्रतिवद्धाहार वा, अपक्वौपधिभक्षणं वा, दुष्पक्वौषधिभक्षण वा, तुच्छौपधिभक्षण वा; तथा अगारकर्म वा, वनकर्म वा, शकटकर्म वा, भाटककर्म वा, स्फोटककर्म वा, दन्तवाणिज्य वा, केशवाणिज्य वा, रसवाणिज्य वा, विषवाणिज्य वा, यन्त्रपीडनकर्म वा, निर्लाञ्छनकर्म वा, दवाग्निदापन वा, असतीपोषण वा, सरो-द्रह-तडा गशोषणक वा, तथा कान्दर्प्य वा, कौत्कुच्यं वा, मौखर्यं वा, सयुक्ताधिकरण वा, उपभोग-परिभोगाऽतिरेकं वा, तथा मनोदुष्प्रणिधान वा, वचोदुष्प्रणिधानं वा, कायदुष्प्रणिधानं वा, सामायिकस्य स्मृत्यकरण वा, सामायिकस्य अनव-स्थितस्य करण वा, तथा आनयनप्रयोगं वा, प्रेषणप्रयोग वा, शब्दानु-पातित्वं वा, रूपानुपातित्व वा, वहिष्पुद्गलप्रक्षेपणं वा; तथा अप्रतिलि-खित-दुष्प्रतिलिखितशय्यासस्तारारोहण वा, अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जितशय्या-संस्तारारोहणं वा, अप्रतिलिखित-दुष्प्रतिलिखितउच्चार-प्रस्रवणपरिष्ठापन वा, अप्रमार्जित-दुष्प्रमार्जितउच्चार-प्रस्रवणपरिष्ठापन वा, पौषधोपवासस्य सम्यग् अननुपालनक वा, तथा सचित्तनिक्षेपणक वा, सचित्तपिधानक वा, कालातिक्रम वा, परव्यपदेश वा, मात्सर्यं वा, अन्यांश्च एवजातिकान् गुणव्रत-शिक्षाव्रतातिचारान् नाचरति । तत स एवमेतदनुरूपेण कल्पेन विहृत्य तस्या कर्मस्थिते परिणामविशेषेण तस्मिन् वा जन्मनि, अने-केषु वा जन्मसु सख्येयेषु सागरोपमेषु क्षपितेषु सर्वविरतिलक्षण क्षमा-मार्दवा ऽऽर्जव-मुक्ति-तप -सयम-सत्य--शौचा ऽऽकिञ्चन्य—ब्रह्मचर्यरूप यतिधर्मं प्राप्नोति । तत एवमेव उपशमश्रेणी, एवमेव

खवगसेढि त्ति । भणियं च—

सम्मत्तम्मि उ लद्धे पलियपहुत्तेण सावओ होज्जा ।
चरणोवसमखयाण सागरसखन्तरा होन्ति ॥
एवं अप्पडिवडिए सम्मत्ते देव-मणुयजम्मेसु ।
अन्नयरसेढिवज्जं एगभवेण च सव्वाइ ॥

तओ खवगसेढिपरिसमत्तीए सासय, अणन्तं, केवलवरनाणदसणं पाउणइ । तओ कमेण खवियसेसभवोवग्गाहिकम्मसे, सव्वकम्मविप्पमुक्के पाउणइ सासय थामं ति ॥ एत्थन्तरम्मि य गुरुवयणायण्णणजणियसुहपरिणामाणलदड्ढबहुकम्मेन्धणेण भावओ पवन्नसम्मत्ता-ऽणुव्वय-गुणव्वय-सिक्खावयगुणट्ठाणेण भणियं गुणसेणेण—भयव ! धन्नोऽहं, जेण मए पावमलपक्खालण, रागाइविसघायण, पसमाइगुणकारण, भवचारयनिस्सारणं सुय ते वयण ति । ता आइसह सपय, ज मए कायव्व ति । अहवा आइट्ठ चेव भयवया । ता देहि मे ताव गिहिधम्मसारभूए अणुव्वयाइए गुणट्ठाणे । गुरुणा भणियं—'किच्चमेय तएयारिसाण भव्वसत्ताण' ति विहिपुव्वय दिन्नाणि से अणुव्वयाणि, अणुसासिओ य बहुविहं । तओ वन्दिऊण परमभत्तीए सपरिवार गुरु पविट्ठो नयर । कयभोयणोवयारो य परिणयप्पाए दियहे पुणो वि निग्गओ त्ति । वन्दिया य णेण देवगुरवो । कालोइयमणुसासिओ य गुरुणा । तओ य कचि वेल पज्जुवासिऊण विहिणा पुणो नयर पविट्ठो त्ति । एव उभयकाल गुरुदसणतव्वयणसुणणसोक्खमणुहवन्तस्स अईओ मासो, परिणओ से धम्मो । कप्पसमत्तीए य गयो अन्नत्थ भयव विजयसेणायरिओ त्ति । तओ अइक्कन्तेसु कइवयदिणेसु राइणो गुणसेणस्स पासायतलसंठियस्स कहवि सोऊण हाहारवगब्भिण मरणनरवइणो विव पयाणढक्क, ससाररक्खसस्स विव अट्टट्टहास, जीवलोयस्स विव पमायचरियं मयगडिण्डिमसद्द, पेच्छिऊण त कयन्तवसवत्तिण, चउपुरिसवरियकाय, कन्दन्तबन्धुजणपरिवारियं सवं, परमसवेगभावियमइस्स, इन्दयालसरिसजीवलोयमवगच्छिऊण धम्मज्झाणजलपक्खालियपावलेवस्स समुप्पन्ना चिन्ता—अम्हे वि एव चेव

क्षपकश्रेणी इति । भणित च—

सम्यक्त्वे तु लब्धे पल्यपृथक्त्वेन श्रावको भवेत् ।
चरणोपशमक्षयाणा सागरसख्यान्तराणि भवन्ति ।।
एवम्-अप्रतिपतिते सम्यक्त्वे देव-मनुजजन्मसु ।
अन्यतरश्रेणिवर्जम्-एकभवेन च सर्वाणि ।।

तत क्षपकश्रेणिपरिसमाप्तौ शाश्वतम्, अनन्तम्, केवलवरज्ञानदर्शन प्राप्नोति । तत. क्रमेण क्षपितशेषभवोपग्राहिकर्माश , सर्वकर्मविप्रमुक्त प्राप्नोति शाश्वत स्थानमिति ।। अत्रान्तरे च गुरुवचनाऽऽकर्णनजनितशुभपरिणामानलदग्धवहुकर्मेन्धनेन, भावतः प्रपन्नसम्यक्त्वा-ऽणुव्रत-गुणव्रत-शिक्षाव्रतगुणस्थानेन भणित गुणसेनेन—भगवन् ! धन्योऽहम्, येन मया पापमलप्रक्षालनम्, रागादिविषघातनम्, प्रशमादिगुणकारणम्, भवचारकनिस्सारणं श्रुतं तव वचनम्-इति । तत आदिशत सांप्रतम्, यद् मया कर्तव्यमिति । अथवा आदिष्टमेव भगवता । ततो देहि मम तावद् गृहिधर्मसारभूतानि अणुव्रतादिकानि गुणस्थानानि । गुरुणा भणितम्—'कृत्यमेतत् त्वादृशानां भव्यसत्त्वानाम्' इति विधिपूर्वकं दत्तानि तस्य अणुव्रतानि, अनुशासितश्च वहुविधम् । ततो वन्दित्वा परमभक्त्या सपरिवारं गुरुं प्रविष्टो नगरम् । कृतभोजनोपचारश्च परिणतप्राये दिवसे पुनरपि निर्गत इति । वन्दिताश्च अनेन देवगुरव. । कालोचितमनुशासितश्च गुरुणा । ततश्च कांचिद् वेला पर्युपास्य विधिना पुनर्नगर प्रविष्ट इति । एवम्-उभयकालं गुरुदर्शन-तद्वचनश्रवणसौख्यमनुभवत अतीतो मास., परिणतस्तस्य धर्म. । कल्पसमाप्तौ च गतोऽन्यत्र भगवान् विजयसेनाचार्य इति । ततोऽतिक्रान्तेषु कतिपयदिनेषु राज्ञो गुणसेनस्य प्रासादतलसस्थितस्य कथमपि श्रुत्वा हाहारवगर्भितां मरणनरपतेरिव प्रयाणढक्काम्, ससारराक्षसस्य इव अट्टाट्टहासम्, जीवलोकस्य इव प्रमादचरित मृतकडिण्डिमशब्दम्, प्रेक्ष्य तत् कृतान्तवशवर्ति, चतुष्पुरुषधृतकायम्, क्रन्दद्वन्धुजनपरिवारित शवम्, परमसवेगभावितमते, इन्द्रजालसदृशजीवलोकम्-अवगम्य धर्मध्यानजलप्रक्षालितपापलेपस्य समुत्पन्ना चिन्ता-वयमपि एवमेव

मरणधम्माणो त्ति । अहो ! ण खलु एव विरसावसाणे जीवलोए ते धन्ना, जे तेलोक्कवन्धुभूए, अचिन्तचिन्तामणिसन्निहे, परमरिसिसव्वन्नुदेसिए धम्मे कयाणुराया अगारवासाओ अणगारिय पव्वयन्ति । तओ य पाणवह-मुसावाय-अदत्तादाण-मेहुण-परिग्गहविरया, वायालीसेसणादोसपरिसुद्धपिण्डग्गहिणो, सजोयणाइपञ्चदोसरहियमियकालभोइणो, पञ्चसमिया, तिगुत्ता, निरइयारवयपरिपालणत्थमेव इरियासमियाइपणवीसभावणोववेया, अणसण-मूणोयरियाइ-पायच्छित्त-विणयाइसवाहिरब्भिन्तरतवोगुणप्पहाणा, मासाइयाणेगपडिमाधारिणो, विचित्तदव्वाभिग्गहरया, अण्हाण-लोय-लद्धावलद्धवित्तिणो, निप्पडिकम्मसरीरा, समतणमणि-मुत्त-लेट्ठु-कञ्चणा, किं वहुणा, अट्ठारससीलङ्गसहस्सधारिणो, उवसाईयविवुहजणपसंसियपसमसुहसमेया, अणेगगामाऽऽयर-नगर-पट्टणमडम्व-द्रोणमुह-सनिवेससयसकुल विहरिऊण मेइणिं, मिच्छत्तपङ्कमग्गपडिवद्धे य सद्धम्मकहणदिवायरोदसण वोहिऊण भव्वकमलायरे, महातवच्चरणपरिकम्मियसरीरा जिणोवइट्ठेण मग्गेण कालमासे कालं काऊण पाओवगमणेण देहं परिच्चयन्ति । तओ अहं पि इयाणिं इमेण चेव विहिणा देहं परिच्चइस्सं ति । पत्तो य मए भवसयसहस्सदुल्लहो, सयललोयालोयदिवायरो, सासयसुहप्पयाणेक्ककप्पपायवो, सयलतेलोक्कनिरुवमचिन्तामणी, वियडससारजलहिपोयभूओ, धम्मसारही, भयव विजयसेणायरिओ त्ति । अओ पवज्जामो धीरपुरिससेवियं कम्मवणदावाणल एयस्स समीवे महापव्वज्ज ति चिन्तिऊण सद्दाविया णेण सुवुद्धिपमुहा मन्तिणो । कहिओ य तेसिं निययाहिप्पाओ । तओ तप्पसङ्गओ चेवोवलद्धजिणवयणसारेहिं भणियं च तेहिं-अहो ! महापुरिससहावाणुरूवं देवेण मन्तियं । खरपवणचालियनलिणजलमज्झगयचन्दविम्वचञ्चलम्मि जीवलोए किच्चमेयं भवियाण, अहासुह, मा करेह पडिवन्धं ति । अन्नं च—देव ! को नाम कस्सइ सुहित्तण पवज्जिऊण तं पलित्तजालावलीपरिगयाओ गेहाओ निसरन्तं वारेइ ? पलित्तं च सव्वदुक्खजलणेण ससारगेहं ति । ता वहुमयं नाम अम्हाणमेयं देवस्स ववसियं । असमत्था य अम्हे वुद्धिविहवेण भवओ मरणं निवारेउं ति । तओ राइणा

मरणधर्माण इति । अहो ! नु खलु एव विरसावसाने जीवलोके ते धन्याः, ये त्रैलोक्यबन्धुभूते, अचिन्त्यचिन्तामणिसन्निभे, परमर्षिसर्वज्ञदेशिते धर्मे कृतानुरागा अगारवासाद् अनगारिता प्रव्रजन्ति । ततश्च प्राणवध–मृषावाद–अदत्ताऽऽदान–मैथुन–परिग्रहविरता, द्विचत्वारिंशदेषणादोषपरिशुद्धपिण्डग्राहिण, सयोजनादिपञ्चदोषरहितमितकालभोजिन, पञ्चसमिता, त्रिगुप्ता, निरतिचारव्रतपरिपालनार्थमेव ईर्यासमितादिपञ्चविशतिभावनोपपेताः, अनशन–ऊनोदरिकादि–प्रायश्चित्त–विनयादिसबाह्याऽभ्यन्तरतपोगुणप्रधाना., मासादिकानेकप्रतिमाधारिण., विचित्रद्रव्याभिग्रहरता., अस्नान–लोच–लब्धाऽपलब्धवृत्तय, निष्प्रतिकर्मशरीरा, समतृण–मणि–मुक्ता–लेष्टु–काञ्चना, किं बहुना, अष्टादशशीलाङ्गसहस्रधारिण., उपमातीतविबुधजनप्रशंसितप्रशमसुखसमेता., अनेकग्रामा–ऽऽकर–नगर–पट्टन–मडम्ब–द्रोणमुख–सन्निवेशशतसकुला विहृत्य मेदिनीम्, मिथ्यात्वपङ्कमग्नप्रतिबद्धाश्च सद्धर्मकथनदिवाकरोदयेन बोधयित्वा भव्यकमलाकरान्, महातपश्चरणपरिकर्मितशरीरा जिनोपदिष्टेन मार्गेण कालमासे काल कृत्वा पादपोपगमनेन देह परित्यजन्ति। ततोऽहमपि इदानीम्–अनेन एव विधिना देह परित्यक्ष्यामि इति । प्राप्तश्च मया भवशतसहस्रदुर्लभ, सकललोकालोकदिवाकर, शाश्वतसुखप्रदानैककल्पपादप, सकलत्रैलोक्यनिरुपमचिन्तामणिः, विकटससारजलधिपोतभूत, धर्मसारथि, भगवान् विजयसेनाचार्य इति । अत प्रव्रजाम. धीरपुरुषसेविता कर्मवनदावानलम् (कर्मवनदावानलरूपाम) एतस्य समीपे महाप्रव्रज्याम्–इति चिन्तयित्वा शब्दायिताः तेन सुबुद्धिप्रमुखा मन्त्रिण. । कथितश्च तेपा निजकाभिप्राय । ततः तत्प्रसङ्गत एव उपलब्धजिनवचनसारैः भणित च तैः—अहो ! महापुरुषस्वभावानुरूप देवेन मन्त्रितम् । खरपवनचालितनलिनजलमध्यगतचन्द्रबिम्बचञ्चले जीवलोके कृत्यमेतद् भव्यानाम्, यथासुखम्, मा कुरुत प्रतिबन्धम्–इति । अन्यश्च—देव ! को नाम कस्यचित् सुधीत्व प्रव्रज्य त प्रदीप्तज्वालावलीपरिगताद् गेहाद् निस्सरन्त वारयति? प्रदीप्त च सर्वदु.खज्वलनेन ससारगेहम्-इति। ततो बहुमत नाम अस्माकम्-एतद् देवस्य व्यवसितम् । असमर्थाश्च वयं बुद्धिविभवेन भवतो मरणं निवारयितुम्- इति। ततो राज्ञा

एयमायण्णिऊण 'एवमेय' ति, 'को तुब्भे मोत्तूण मम अन्नो हिओ' अहिणन्दिऊण सवहुमाणं पहट्ठमुहकमलेण दवाविय आघोसणापुव्वयं महादान, काराविया भत्तिविहवाणुरूवा जिणाययणाईसु अट्ठाहिया महिमा, सम्माणिओ य पणइवग्गो, वहुमाणिया पउरजणवया, दिन्नं चन्दसेणाभिहाणस्स जेट्ठपुत्तस्स रज्ज, पडिवन्ना भावओ पव्वज्जा। 'सुए य इओ गमिस्सामि, जत्थ भयवं विजयसेणायरिओ' त्ति चिन्तिऊण ठिओ विवित्तदेसम्मि सव्वराइय पडिम । इओ य सो अग्गिसम्मतावसो अपडिक्कन्तो चेव तन्नियाणाओ कालं काऊण विज्जुकुमारेसु दिवड्ढपलिओवमट्ठिई देवो जाओ त्ति । दिन्नो य तेण उवओगो 'किं मए हुय वा, जट्ठं वा, दाण वा दिन्न, जेण मए एसा दिव्वा देवड्ढी पत्त' त्ति । आभोइओ णेण पुव्वजम्मवुत्तन्तो, कुविओ य उवरिं गुणसेणस्स । विहङ्गेणाहोइऊण आगओ तस्स समीवं । दिट्ठो य णेण पडिमं ठिओ गुणसेणो । तओ य—

पडिम ठियस्स तेणं विउव्विया कोहमूढहियएण ।
निरयाणलजलियसिहा अइघोरा पसुवुट्ठि त्ति ।।
तीए य डज्झमाणो अणाउलं गरुयसत्तसपन्नो ।
चिन्तेइ भावियमणो धम्मम्मि जिणप्पणीयम्मि ।।
सारीर-माणसेहिं दुक्खेहि अभिद्दुयम्मि ससारे ।
सुलहमिण ज दुक्खं दुलहा सद्धम्मपडिवत्ती ।।
धन्नोऽहं जेण मए अणोरपारम्मि भवसमुद्दम्मि ।
भवसयसहस्सदुलहं लद्धं सद्धम्मरयणमिणं ।।
एयस्स पभावेण पालिज्जन्तस्स सइ पयत्तेणं ।
जम्मन्तरम्मि जीवा पावन्ति न दुक्खदोगच्चं ।।
ता एसो च्चिय सफलो मज्झमरणायरणदोसपरिहीणो ।
सद्धम्मलाभगरुओ जम्मो नाइम्मि संसारे ।।
विन्हिइय मज्झ हिययम्मि जो कओ तस्स अग्गिसम्मस्स ।
परिभवकोवुप्पाओ 'तवइ अकज्जं कयं पच्छा ।।

एतद् आकर्ण्य 'एवमेतद्' इति, 'को युष्मान् मुक्त्वा मम अन्यो हित' अभिनन्द्यसवहुमान प्रहृष्टमुखकमलेन दापितम्-आघोषणापूर्वकं महादानम्, कारिता भक्तिविभवानुरूपा जिनायतनादिषु अष्टाह्निका महिमा, सम्मानितश्च प्रणयिवर्ग., वहुमानिताः पौरजानपदा, दत्त चन्द्रसेनाभिधानस्य ज्येष्ठपुत्रस्य राज्यम्, प्रतिपन्ना भावत प्रव्रज्या। 'श्वश्च इतो गमिष्यामि, यत्र भगवान् विजयसेनाचार्य:,' इति चिन्तयित्वा स्थितो विविक्तदेशे सर्वरात्रिकी प्रतिमाम्। इतश्च सः अग्निशर्मतापस अप्रतिक्रान्त एव तन्निदानात् काल कृत्वा विद्युत्कुमारेषु द्व्यर्धपल्योपमस्थितिर्देवो जात इति। दत्तश्च तेन उपयोगः 'किं मया हुत वा, इष्ट वा, दान वा दत्तम्, येन मया एषा दिव्या देवर्धिः प्राप्ता' इति। आभोगितश्च तेन पूर्वजन्मवृत्तान्तः, कुपितश्च उपरि गुणसेनस्य। विभङ्गेन आभोग्य आगतस्तस्य समीपम्। दृष्टश्च तेन प्रतिमा स्थित. गुणसेनः। ततश्च—

प्रतिमा स्थितस्य तेन विकुर्विता क्रोधमूढहृदयेन।
निरयानलज्वलितशिखा अतिघोरा पाशुवृष्टिरिति॥
तया च दह्यमानोऽनाकुल गुरुकसत्त्वसंपन्नः।
चिन्तयति भावितमना धर्मे जिनप्रणीते॥
शरीर—मानसैर्दुःखै अभिद्रुते संसारे।
सुलभमिद यद् दुःखं दुर्लभा सद्धर्मप्रतिपत्तिः॥
धन्योऽहं येन मया अनादि–अनन्ते भवसमुद्रे।
भवशतसहस्रदुर्लभं लब्धं सद्धर्मरत्नमिदम्॥
एतस्य प्रभावेण पाल्यमानस्य सदा प्रयत्नेन।
जन्मान्तरे जीवाः प्राप्नुवन्ति न दुःखदौर्गत्यम्॥
तत एतद् एव सफल मम अनाचरणदोषपरिहीनम्।
सद्धर्मलाभगुरुक जन्म अनादौ ससारे॥
विलिखति च मम हृदये यः कृतस्तस्य अग्निशर्मणः।
परिभवकोपोत्पादः 'तपति अकार्यं कृत पश्चात्'॥

एण्हि पुण पडिवन्नो मेत्ति सव्वेसु चेव जीवेसु ।
जणवयणाओ अहय विसेसओ अग्गिसम्मम्मि ॥
इय सो सुहपरिणामो तेण विणिवाइओ उ पावेण ।
मरिऊण उववन्नो देवो सोहम्मकप्पम्मि ॥
अह सागरोवमाऊ जाओ चन्दाणणे विमाणम्मि ।
देवाणुप्पत्तिविहिं समासओ एत्थ वुच्छामि ॥
ओहेण चिय जह ते हवन्ति जं च ऽच्छरादओ तेसिं ।
निव्वत्तन्तियरे जह परम देवस्स करणिज्ज ॥
जह मेहा-ऽसणि-तियसिन्दचाव-विज्जूण सभवो होइ ।
गयणम्मि खणेण तहा देवाण वि होइ उप्पत्ती ॥
सो पुण मोत्तूण इम देह विमलम्मि देवसयणिज्जे ।
निव्वत्तेइ सरीरं दिव्वं अन्तोमुहुत्तेण ॥
तम्मि समयम्मि तत्थ य गायन्ति मणोहराइ गेयाइं ।
कुसुमपयर मुयन्ति य सभमरय तियसविलयाओ ॥
नच्चन्ति दिव्वविब्भमसंपाइतियसकोउहल्लाओ ।
वज्जन्तविविहमणहरतिसरीवीणासणाहाओ ॥
देवा य हरिसियमणा करेन्ति उक्किट्ठसीहणायं च ।
मुणिऊण तस्स जम्मं सुदुल्लहं सयलभुवणम्मि ॥
इयरो वि य कामगुणे सद्द-प्फास-रस-रूव-गन्धे य ।
दिव्वे समणुहवन्तो हिट्ठो उट्ठेइ सयराह ॥
सुरयणनयणाणन्दो दिव्व देवसुयं अहिखिवन्तो ।
भासुरवरबोन्दिधरो संपुण्णो सारयससि व्व ॥
तियसविलयाउ तत्थ य तेहि य लडहाउ महुरवयणेहिं ।
जय जय जय त्ति नन्दा! थुणन्ति हिट्ठाउ एएहिं ॥
तियसा वि परमहिट्ठा गण्डयलावडियकुण्डलुज्जोया ।
सुरतरुकुसमाहरणा नमन्ति जयसद्दहलवोलं ॥
अह त दिव्वपरियण दट्ठूणं लोयणेण संभन्तो ।
दिन्नं हुयं व किं मे इम फलं जस्स दिव्व ति ॥

इदानी पुनः प्रतिपन्नो मैत्री सर्वेषु एव जीवेषु ।
जिनवचनाद् अहं विशेषतः अग्निशर्मणि ।।
इतः स शुभपरिणामः तेन विनिपातितस्तु पापेन ।
मृत्वा उपपन्नो देव सौधर्मकल्पे ।।
अथ सागरोपमायुः जातः चन्द्रानने विमाने ।
देवानाम् – उत्पत्तिविधि समासतोऽत्र वक्ष्यामि ।।
ओघेन एव यथा ते भवन्ति यश्च अप्सरआदयस्तेषाम् ।
निर्वर्तयन्ति इतरे यथा परम देवस्य करणीयम् ।।
यथा मेघा-ऽशनि-त्रिदशेन्द्रचाप-विद्युतां सभवो भवति ।
गगने क्षणेन तथा देवानामपि भवति उत्पत्तिः ।।
स पुन मुक्त्वा इम देहं विमले देवशयनीये ।
निर्वर्तयति शरीर दिव्यम्—अन्तर्मुहूर्तेन ।।
तस्मिन् समये तत्र च गायन्ति मनोहरणि गेयानि ।
कुसुमप्रकर मुञ्चन्ति च सभ्रमरकं त्रिदशवनिताः ।।
नृत्यन्ति दिव्यविभ्रमसपादितत्रिदशकुतूहलाः ।
वाद्यमानविविधमनोहरत्रिस्वरीवीणासनाथाः ।।
देवाश्च हृष्टमनसः कुर्वन्ति उत्कृष्टसिंहनादं च ।
ज्ञात्वा तस्य जन्म सुदुर्लभं सकलभुवने ।।
इतरोऽपि च कामगुणान् शब्द-स्पर्श-रस-रूप-गन्धान् च ।
दिव्यान् समनुभवन् हृष्ट उत्तिष्ठति शीघ्रन् ।।
सुरजननयनानन्दः दिव्यं देवांशुकम्–अधिक्षिपन् ।
भावसुरवरशरीरधरः संपूर्णः शारदशशीव ।।
त्रिदशवनितास्तत्र च तैश्च लालिता (रम्याः) मधुरवचनैः ।
जय जय जय इति नन्द ! स्तुवन्ति हृष्टा एतै ।।
त्रिदशा अपि परमहृष्टा गण्डतलपतितकुण्डलोद्द्योता ।
सुरतरुकुसुमाभरणा नमन्ति जयशब्दकलकलम् ।।
अथ त दिव्यपरिजन हष्टवा लोचनेन सभ्रान्तः ।
दत्त हुत वा किं मया इद फलं यस्य दिव्यमिति ।।

काऊण य उवओग दिव्वेण ओहिणा विसुद्धेण ।
मुणिऊण सुचरियं तो करेइ अह देवकरणिज्ज ॥
सासयजिणपडिमाण पूय पूयारुहो महारम्मं ।
पोत्थयरयण च तहा वाएइ मुहुत्तमेत्त तु ॥
अह तियससुन्दरीओ निज्जियमुहयन्दचन्दबिम्बाओ ।
पीणुन्नयसुपसाहियवरथणहरबन्धुरङ्गीओ ॥
तिवलीतरङ्गभङ्ग रमज्झविरायन्तहाररम्माओ ।
मुहलरसणाहिणन्दियवित्थिण्णनियम्वबिम्बाओ ॥
तत्ततवणिज्जसन्निहमणहरथोरोरुजुयलकलियाओ ।
नहयन्दसमुज्जोवियकुम्मुन्नयचलणसोहाओ ॥
गाढपरिओसपसरियविलाससिङ्गारभावरम्माओ ।
पेच्छइ समूसियाओ वम्महसरसल्लियमणाओ ॥
किंकरगणे य घणिय अणुरत्ते दिव्वविहवसपन्ने ।
तियसभवणाइ पेच्छह सामिय ! इय जपिरे लडहे ॥
तियसविलयाहि समय जयसद्दपणामियप्पभावाहिं ।
मोहणवियक्खणाहिं पेच्छइ तो तियसभवणाइ ॥
वित्थिण्णमरगयमिलासचयसजणियवियडपीढाइ ।
मणिरयणखडयमणहरफलिहामणिभित्तिजुत्ताइ ॥
वेरुलियखम्भविरइयविचित्तवरसालभञ्जियसयाइ ।
तह दिव्वखग्गचामरपज्जुत्तकुडन्तरालाइ ॥
वरविविहदेवच्छन्दयविरइयपल्लङ्कसनाहाइं ।
परिलम्बियपट्ट सुयमुत्तावलिझणियसोहाइ ॥
तियसतरुकुसुममण्डियकुट्टिमसंकन्तभमरवन्द्राइ ।
धूवघटियाउलाइं परिलम्बियरयणदामाइ ॥
अह तेसु तियससुन्दरिनिवहेण सम पुरा सुकयपुण्णो ।
चिट्ठइ परितुट्ठमणो भुञ्जन्तो दिव्ववरभोए ॥
भुञ्जिसु सो वि दिव्वे भोए चन्दाणणे विमाणम्मि ।
सुरसुन्दरीहि सद्धि जहिच्छिए सागरमणूण ॥

कृत्वा च उपयोग दिव्येन अवधिना विशुद्धेन ।
ज्ञात्वा सुचरित ततः करोति अथ देवकरणीयम् ।।
शाश्वतजिनप्रतिमाना पूजां पूजार्ह. महारम्याम् ।
पुस्तकरत्न च तथा वाचयति मूहूर्तमात्र तु ।।
अथ त्रिदशसुन्दरीः निर्जितमुखचन्द्रचन्द्रविम्वा. ।
पीनोन्नतसुप्रसाधितवरस्तनभरवन्धुराङ्गी ।।
त्रिवलीतरङ्गभङ्गुरमध्यविराजद्धाररम्याः ।
मुखररसना (मेखला) ऽभिनन्दितविस्तीर्णनितम्बबिम्बाः ।
तप्ततपनीयसन्निभमनोहरस्थूलोरुयुगलकलिताः ।।
नखचन्द्रसमुद्द्योतितकूर्मोन्नतचरणशोभाः ।।
गाढपरितोषप्रसृतविलासशृङ्गारभावरम्याः ।
प्रेक्षते समुच्छ्रिता मन्मथशरशल्यितमनसः ।।
किंकरगणाश्च गाढम्-अनुरक्तान् दिव्यविभवसपन्नान् ।
त्रिदशभवनानि प्रेक्षस्व स्वामिक! इति जल्पाकान् लालितान्(सुन्दरान्)।।
त्रिदशवनिताभि. समक जयशब्दप्रणामितप्रभावाभि ।
मोहनविचक्षणाभि प्रेक्षते ततः त्रिदशभवनानि ।।
विस्तीर्णमरकतशिलासंचयसंजनितविकटपीठानि ।
मणिरत्नखचितमनोहरस्फटिकमणिभित्तियुक्तानि ।।
वैदूर्यस्तम्भविरचितविचित्रवरशालभञ्जिकाशतानि ।
तथा दिव्यखड्गचामरप्रयुक्तकुड्यान्तरालानि ।।
वरविविधदेवच्छन्दकविरचितपल्यङ्कसनाथानि ।
परिलम्बितपट्टांशुकमुक्तावलिजनितशोभानि ।।
त्रिदशतरुकुसुममण्डितकुट्टिमसक्रान्तभ्रमरवृन्दानि ।
धूपघटिकाकुलानि परिलम्बितरत्नदामानि ।।
अथ तेषु त्रिदशसुन्दरीनिवहेन सम पुरा सुकृतपूर्ण (पुण्य) ।
तिष्ठति परितुष्टमना भुञ्जानो दिव्यवरभोगान् ।।
अभुक्त सोऽपि दिव्यान् भोगान् चन्द्रानने विमाने ।
सुरसुरन्दरीभि. सार्वं यथेच्छितान् सागरमनूनम् ।।

बीओ भवो

गुणसेन-अग्गिसम्मा जं भणियमिहासि त गयमियाणि ।
सीहा-णन्दा य तहा जं भणियं न निसामेह ।।

अत्थि इहेव जम्बुद्दीवे दीवे अवरविदेहे खेत्ते अपरिमियगुणनिहाण तियसपुरवराणुगारि उज्जाणारामभूसिय समत्थमेइणितिलयभूयं जयउर नाम नयर ति । जत्थ सुरूवो उज्जलनेवत्थो कलावियक्खणो लज्जालुओ महिलायणो, जत्थ य परदारपरिभोयम्मि किलीवो, परच्छिद्दावलोयणम्मि अन्धो, परावावायभासणम्मि मूओ, परदव्वावहरणम्मि सकुचियहत्थो, परोवयारकरणेक्कतल्लिच्छो पुरिसवग्गो । तत्थ य निसियनिक्कड्ढियासिनिद्दलियदरियरिउहत्थिमत्थउच्छलियवहलरुहिरारत्तमुत्ताहलकुसुमपयरञ्चियसमरभूमिभाओ राया नामेण पुरिसदत्तो त्ति । देवी य से सयलन्तेउरप्पहाणा सिरिकन्ता नाम । सो इमाए सह निरुवमे भोए भुञ्जिमु । इओ य सो चन्दाणणविमाणाहिवई देवो अहाउय पालिऊण तओ चुओ सिरिकन्ताए गब्भे उववन्नो त्ति । दिट्ठो य णाए सुविणयम्मि तीए चेव रयणीए निद्धूमसिहिसिहाजालसरिसकेसरसडाभारभासुरो विमलफलिह-मणिसिला-निहस-हंस-हारधवलो आपिङ्गलवट्टसुपसन्तलोयणो मियङ्कलेहासरिसनिग्गयदाढो पिहुलमणहरवच्छत्थलो अइतणुयमज्झभाओ सुवट्टियकढिणकडियडो आवलियदीहलङ्गूलो सुपइट्ठिओरुसंठाणो किं बहुणा, सव्वङ्गसुन्दराहिरामो सीहकिसोरगो वयणेणमुयर पविसमाणो त्ति । पासिऊण य त सुहविउद्धाए जहाविहिणा सिट्ठो दइयस्स । तेण भणियं-अणेयमामन्तपणिवइयचलणजुयलो महारायसद्दस्स निवासट्ठाणं पुत्तो ते भविस्सइ । तो सा तं पडिसुणेऊण जहासुहं चिट्ठइ । पत्ते

द्वितीयो भवः

गुणसेना-ऽग्निशर्माणौ यद् भणितमिहासीत् तद् गतमिदानीम् ।
सिंहा-ऽऽनन्दौ च तथा यद् भणित तद् निशम्यताम् ॥

अस्ति इहैव जबुद्वीपे द्वीपे अपरविदेहे क्षेत्रे अपरिमितगुणनिधानं त्रिदशपुरवरानुकारि उद्यानारामभूषित समस्तमेदिनीतिलकभूतं जयपुरं नाम नगरमिति । यत्र सुरूप उज्ज्वलनेपथ्यः कलाविचक्षणो लज्जालुर्महिलाजनः, यत्र च परदारपरिभोगे क्लीबः, परच्छिद्रावलोकने अन्धः, परापवादभाषणे मूकः, परद्रव्यापहरणे सकुचितहस्त, परोपकारकरणैकतल्लिप्सः पुरुषवर्गः । तत्र च निशितनिष्कासितासिनिर्दलितदृप्तरिपुहस्तिमस्तकोच्छलितबहलरुधिरारक्तमुक्ताफलकुसुमप्रकारार्चितसमरभूमिभागो राजा नाम्ना पुरुषदत्त इति । देवी च तस्य सकलान्तःपुरप्रधाना श्रीकान्ता नाम । सोऽनया सह निरुपमान् भोगानभुङ्क्त । इतश्च स चन्द्राननविमानाधिपतिर्देवो यथायुः पालयित्वा ततश्च्युतः श्रीकान्ताया गर्भे उत्पन्न इति । दृष्टश्चानया (तया) स्वप्ने तस्यामेव रजन्या निर्धूमशिखिशिखाजालसदृशकेसरसटाभारभासुरो विमलस्फटिक-मणिशिला-निकष-हस-हारधवल आपिङ्गलवृत्तसुप्रशान्तलोचनो मृगाङ्कलेखासदृशनिर्गतदाढ. पृथुलमनोहरवक्ष स्थलो अतितनुकमध्यभागः सुवर्तितकठिनकटितट आवलितदीर्घलाङ्गूलः सुप्रतिष्ठितोरुसस्थानः, किं वहुना, सर्वाङ्गसुन्दराभिरामः सिंहकिशोरको वदनेनोदर प्रविशन्निति । दृष्ट्वा च त सुखविवुद्धया यथाविधिना शिष्टो दयितस्य । तेन भणितम्-अनेकसामन्तप्रणिपतितचरणयुगलो महाराजशब्दस्य निवासस्थान पुत्रस्ते भविष्यति । ततः सा त प्रतिश्रुत्य यथासुख तिष्ठति । प्राप्ते

य उचियकाले महापुरिसगब्भाणुभावेण जाओ से दोहलो । जहा-देमि सव्वसत्ताणमभयदाणं, दीणाणाहकिवणाण च इस्सरियसपयं, जइजणाणं च उवट्टम्भदाणं, सव्वाययणाणं च करेमि पूयं ति । निवेइओ य इमो तीए भत्तारस्स । अब्भहियजायहरिसेण सपाडिओ य तेण । तस्स सपायणेण जाओ महापमोओ जणवयाण । अवि य—

सव्व च्चिय धन्नाण होइ अवत्था परोवयाराए ।
वालससिस्स व उदओ जणस्स भुवण पयासेइ ॥

तओ जहासुहेण धम्मनिरयाए पयोवयारसपायणेण सुलद्धजम्माए अइकन्ता नव मासा अद्धट्ठमराइन्दिया । तओ पसत्थे तिहिकरण-मुहुत्त-जोए सुकुमालपाणि-पाय सयलजणमणोरहेहि देवी सिरिकन्ता दारयं पसूय त्ति । निवेइओ रन्नो सुहंकरियाभिहाणाए दासियाए पुत्तजम्मो । परितुट्ठो राया, दिन्न च तीए पारिओसिय । कारावियं च वन्धणमोयणाइय करणिज्ज, पवत्तो य नयरे महाणन्दो, सोहाविया नयरिमग्गा, पसमाविओ रयो कुङ्कुमजलेणं, विप्पइण्णाइ रुण्टन्तमहुयरसणाहाइं विचित्तकुसुमाइं, कयाओ हट्टभवणसोहाओ, पहभवणेसु समाहयाइ मङ्गलतूराइं, सहरिसं च नच्चियं रायजणनागरेहिं ति । एवं च पइदिण महामहन्तमाणन्दमोक्खमणुहवन्ताण अइक्कन्तो पढममासो । पइट्ठाविय च से नाम वालस्स सुविणयदसणनिमित्तेणं सीहो त्ति । सो य विसिट्ठ पुण्णफलमणुहवन्तो अभग्ग (ज्ज) माणपसर पणइण मणोरहेहिं पयाण पुण्णेण—

जोव्वणमणुवममोह कलाकलावपरिवड्ढियच्छायं ।
जणमणनयणाणन्द चन्दो व्व कमेण संपत्तो ॥

अन्नया य संपत्तजोव्वणस्स कुसुमचावस्स वि हिययाणुकूलो तरुणजणहिययाणन्दयारी आगओ वसन्तसमओ । जत्थ सविसेसं कुसुममयकोदण्डमण्डलीसंधियसिलीमुहो रइं दंमिऊण जणहिययाइं विंधिउ पयत्तो मयणो । अणन्तरं च तस्स चेव जयजयसद्दो व्व कोइलाहि कओ

चोचितकाले महापुरुषगर्भानुभावेन जात तस्या दोहद । यथा-ददामि सर्वसत्त्वानामभयदानम्, दीनानाथकृपणाना च ऐश्वर्यसपदम्, यतिजनाना च उपष्टम्भदानम्, सर्वायतनानां च करोमि पूजामिति । निवेदितश्चाय तया भर्त्रे । अभ्यधिकजातहर्षेण सपादितस्तेन । तस्य सपादनेन जातो महाप्रमोदो जनपदानाम् । अपि च—

सर्व्वा एव धन्याना भवति अवस्था परोपकाराय ।
वालशशिन इवोदयो जनस्य भुवन प्रकाशयति ।।

ततो यथासुखं धर्मनिरतया परोपकारसपादनेन सुलब्धजन्मकया अतिक्रान्ता नव मासा अर्द्धाष्टमरात्रिदिवा । ततः प्रशस्ते तिथि-करण-मुहूर्त-योगे सुकुमारपाणि-पाद सकलजनमनोरथै देवी श्रीकान्ता दारक प्रसूतेति । निवेदित राज्ञः शुभकरिकाभिधानया दास्या पुत्रजन्म । परि-तुष्टो राजा, दत्त च तस्यै पारितोषिकम् । कारित च बन्धनमोचनादिक करणीयम्, प्रवृत्तश्च नगरे महानन्द, शोभिता नगरीमार्गा., प्रशमित रजः कुङ्कुमजलेन, विप्रकीर्णानि रवन्मधुकरसनाथानि विचित्रकुसुमानि, कृताः हट्टभवनशोभाः, पथभवनेषु समाहतानि मङ्गलतूर्याणि, सहर्षं च नर्तितं राजजननागरैरिति । एवं च प्रतिदिन महामहद् आनन्दसौख्यम-नुभवतोरतिक्रान्तः प्रथममास । प्रतिष्ठापित च तस्य नाम बालस्य स्वप्नकदर्शननिमित्तेन सिंह इति । स च विशिष्ट पुण्यफलमनुभवन् अभ-ज्यमानप्रसर प्रणयिनां मनोरथै. प्रजाना पुण्येन—

यौवनमनुपमशोभ कलाकलापपरिवर्धितच्छायम् ।
जनमनोनयनानन्द चन्द्र इव क्रमेण सप्राप्त ।।

अन्यदा च संप्राप्तयौवनस्य कुसुमचापस्यापि हृदयानुकूल., तरु-णजनहृदयानन्दकारी आगतो वसन्तसमयः । यत्र सविशेष कुसुममयको-दण्डमण्डलीसघितशिलीमुखो रतिं दर्शयित्वा जनहृदयानि वेद्धुं प्रवृत्तो मदन. । अनन्तर च तस्यैव जयजयशब्द इव कोकिलाभिः कृतः

कोलाहलो, विरहग्गिडज्झन्तपहियसंघायधूमपडलं व वियम्भियं सहयारेसु भमरजालं, गयवइयामसाणजलणेहिं विव पलित्तं दिसामण्डलं किंसुयकुसुमेहिं ति। तओ एवंविहे वसन्तसमए सो सीहकुमारो अणेयतरुणजणवेढिओ महाविभूईए केलिनिमित्तं गओ पमुइयपरहुयासद्दजणियतरुणीजणचित्तविब्भमुल्लोलं सुरहिमलयपवणपणच्चावियकुसुमभरभज्जमाणलयाविडविजालं मयमुइयमुहलमहुयरकुलोवगीयमाणग्गसोहं वासहरं पिव वसन्तलच्छीए कीलासुन्दरं नाम उज्जाणं, पवत्तो य कीलिउं विचित्तकीलाहिं ति। दिट्ठा य तेण तत्थ उज्जाणे नाइदूरदेससंठिया कुसुमपरिमलसुयन्धवेणिमहुयरावली विद्दुमलयायम्बहेत्थपल्लवा उव्वेल्लन्तकोमलतणुबाहुलया रम्भाखम्भमणहरोरुजुयला थलकमलारत्तकोमलचलणजुयला उज्जाणदेवय व्व उउलच्छिपरियरिया नियमाउलगस्स चेव महासामन्तस्स लच्छिकन्ताभिहाणस्स धूया सहियणमहिया वसन्तकीलमणुहवन्ती कुसुमावली नाम कन्नगा। तओ तं दट्ठूणमणन्तभवब्भत्थरागदोसेण साहिलासं पुलोइया। दिट्ठो य एसो वि तीए तओ विभागाओ तस्स भमेण चेव तुरियतुरियमोसरन्तीए कुसुमावलीए। चिन्तियमिमीए-कहं कीलासुन्दरुज्जाणस्स रम्मयाए भयवं मयरद्धओ वि एत्थेव कीलासुहमणुहवइ त्ति। एत्थन्तरम्मि भणिया पियकराभिहाणाए चेडीए। सामिणि! अलं अलमोसक्कणेण; एसो खु राइणो पुरिसदत्तस्स पुत्तो तुह चेव पिउच्छागब्भसंभवो सीहो नाम कुमारो त्ति। पढमागमणकयपरिग्गहं च सामिणिं एवमोसक्कमाणिं पेच्छिय मा अदक्खिण्णं ति संभाविस्सइ। ता चिट्ठियउ इहं, कीरउ इमस्स महाणुभावस्स रायकन्नोचिओ उवयारो। तओ हरिसवसपुलइयङ्गीए सविब्भमं साहिलासं च अवलोइऊण कुमारं भणियं इमीए। हला! पियंकरिए! तुमं चेवऽत्थ कुसला; ता निवेएहि, किं मए एयस्स कायव्वं ति। तीए भणियं-सामिणि! पढमागयाओ अम्हे; ता अलंकरावीयउ आसणपरिग्गहेण इमं पएसं एसो, कीरउ से सज्जणजणाणं सम्बन्धपायववीयभूयं सागयं, दिज्जउ से सहत्थेण कालोचियं वसन्तकुसुमाभरणसणाहं तम्बोलं ति। कुसुमावलीए भणियं-हला! न सक्कुणोमि अइसज्झसेण इमं एयस्स काउं; ता तुमं चेव एत्थ

कोलाहल:, विरहाग्निदह्यमानपथिकसघातधूमपटलमिव विजृम्भितं सहकारेषुभ्रमरजालम्, गतपतिकाश्मशानज्वलनैरिव प्रदीप्तं दिग्मण्डल किंशुककुसुमैरिति । तत एवविधे वसन्तसमये स सिंहकुमारोऽनेकतरुणजनवेष्टितो महाविभूत्या केलिनिमित्तं गत प्रमुदितपरभृताशब्दजनिततरुणीजनचित्तविभ्रमोल्लोलं सुरभिमलयपवनप्रनर्तितकुसुमभरभज्यमानलताविटपिजाल मदमुदितमुखरमधुकरकुलोपगीयमानाग्रशोभ वासगृहमिव वसन्तलक्ष्म्या: क्रीडासुन्दर नामोद्यानम्, प्रवृत्तश्च क्रीडितु विचित्रक्रीडाभिरिति । दृष्टा च तेन तत्रोद्याने नातिदूरदेशसस्थिता कुसुमपरिमलसुगन्धवेणीमधुकरावली विद्रुमलताताम्रहस्तपल्लवा उद्वेल्लत्कोमलतनुवाहुलता रम्भास्तम्भमनोहरोरुयुगला स्थलकमलारक्तकोमलचरणयुगला उद्यानदेवता इव ऋतुलक्ष्मीपरिचरिता निजमातुलकस्यैव महासामन्तस्य लक्ष्मीकान्ताभिधानस्य दुहिता सखीजनसहिता वसन्तक्रीडामनुभवती कुसुमावली नाम कन्यका । ततस्तां दृष्ट्वा अनन्तभवाभ्यस्तरागदोषेण साभिलाष प्रलोकिता । दृष्टश्च एषोऽपि तया ततो विभागात् तस्य भ्रमेणैव त्वरितत्वरितमपसरन्त्या कुसुमावल्या । चिन्तितमनया-कथ क्रीडासुन्दरोद्यानस्य रम्यतया भगवान् मकरध्वजोऽपि अत्रैव क्रीडासुखमनुभवतीति । अत्रान्तरे भणिता प्रियङ्कराभिधानया चेटचा । स्वामिनि ! अल अलमवक्रमणेन (अपसरणेन); एष. खलु राज्ञ पुरुपदत्तस्य पुत्र. तवैव पितृस्वसृगर्भसभव: सिंहो नाम कुमार इति । प्रथमागमनकृतपरिग्रहा च स्व मिनी एवमवक्रामन्ती (अपसरन्ती) दृष्ट्वा मा अदाक्षिण्यामिति सभावयिष्यति । तावत् तिष्टतु इह, क्रियतामस्य महानुभावस्य राजकन्योचितोपचार । ततो हर्षवशपुलकिताङ्गचा सविभ्रमं साभिलाष च अवलोक्य कुमार भणितमनया । सखि! प्रियङ्करिके ! त्वमेवात्र कुशला, तावत् निवेदय, किं मया एतस्य कर्तव्यमिति । तया भणितम्—स्वामिनि ! प्रथमागता वय, तस्माद् अलकार्यतामासनपरिग्रहेण इमं प्रदेश एष , क्रियता तस्य सज्जनजनाना सवन्धपादपवीजभूत स्वागतम्, दीयता तस्य स्वहस्तेन कालोचित वसन्तकुसुमाभरणसनाथ ताम्बूलमिति । कुसुमावल्या भणितम्—सखि ! न शक्नोमि अतिसाध्वसेनेदमेतस्य कर्तुम्; तस्मात् त्वमेवात्र

कालोचियं करेहि त्ति । एत्थन्तरम्मि य पत्तो तुमद्देसं कुमारो । तओ सज्जिऊणासण भणिओ पियकरीए—'सागयं रइविरहियस्स कुसुमचावस्स, इह उवविसउ महाणुभावो' । तओ सो सपरिओस ईसि विहसिऊण 'आसि य अह एत्तिय काल रइविरहिओ, न उण सपय' ति भणिऊणमुवविट्ठो । उवणीय च पियकरियाए माहवीकुसुममालासणाह कलधोयमयतलियाए तम्बोल, गहिय च तेण । एत्थन्तरम्मि य आगओ कुसुमावलीजणणीए आहवणनिमित्त पेसिओ संभरायणो नाम कन्नन्तेउरमहल्लगो । दिट्ठा य तेण साणुरायं अपेच्छन्तमद्धच्छिपेच्छिएहिं कुमारमवलोएन्ती कुसुमावली । चिन्तिय च णेण । समागओ मयणो रईए, जइ विही अणुवत्तिस्सइ । तओ पच्चासन्नमागन्तूण कुमारमहिणन्दिय भणिय सभरायणेण । वच्छे ! कुसुमावलि ! देवी मुत्तावली आणवेइ 'अइचिर कलिय, मा सरीरखेदो ते भविस्सइ, ता लहु आगन्तव्व' ति । तओ सा 'ज अम्मा आणवेइ' त्ति भणिऊण ससभम कुमारमवलोएन्ती निग्गया उज्जाणाओ, पत्ता य कुमार चेव चिन्तयन्ती निययगेहं । तओ देविं पणमिऊणमारूढा दन्तवलहिय । तओ कुमार चेव अणुसरन्ती विमुक्कदीहनीसासा समुवविट्ठा पल्लङ्कसयणिज्जे, विसज्जिओ य तीए समाणिउ सहीसत्थो ।

अह सेविउ पयत्ता सेज्जं अणवरयमुक्कनीसासा ।
मयणसरसल्लियमणा नियकज्जनियत्तवावारा ॥
नालिहइ चित्तयम्म न यऽङ्गरायं करेइ करणिज्ज ।
नाहिलसइ आहार अहिणन्दइ नेय नियभवण ॥
चिरपरिचिय पि पाढेइ नेय सुय-सारियाण सघाय ।
कीलावेइ मणहरे चडुले न य भवणकलहसे ॥
विहरइ न हम्मियतले मज्जइ न य गेहदीहियाए उ ।
सारेइ नेय वीण पत्तच्छेज्जं पि न करेइ ॥
न य कन्दुएण कीलइ वहु मन्नइ नेय भूसणकलावं ।
हरिणि व्व जूहभट्ठा अणुसरमाणी तयं चेव ॥

कालोचितं कुरु इति । अत्रान्तरे च प्राप्तस्तमुद्देश कुमार: । तत: सज्जित्वाऽऽसन भणित: प्रियङ्कर्या–'स्वागत' रतिविरहितस्य कुसुमचापस्य, इह उपविशतु महानुभाव.' । तत स सपरितोषं ईषद् विहस्य 'आसं चाह एतावन्त काल रतिविरहितो, न पुन. साम्प्रतम्' इति भणित्वोपविष्ट· । उपनीतं च प्रियङ्कर्या माधवीकुसुममालासनाथ कलधौतमयतलिकाया (सुवर्णमयभाजनविशेषे) ताम्बूलम्, गृहीत च तेन । अत्रान्तरे च आगत: कुसमावलीजनन्या आह्वाननिमित्त प्रेषित: संभरायणो नाम कन्यान्त:पुरमहत्क· (कञ्चुकी) । दृष्टा च तेन सानुरागमपश्यन्तमर्द्धाक्षिप्रेक्षितै. कुमारमवलोकयन्ती कुसुमावली । चिन्तित च तेन । समागतो मदनो रत्या, यदि विधिरनुवर्तिष्यते । तत: प्रत्यासन्नमागत्य कुमारमभिनन्द्य भणित सभरायणेन । वत्से ! कुसुमावलि ! देवीमुक्तावली आज्ञापयति 'अतिचिर क्रीडित, मा शरीरखेदो ते भविष्यति; तस्माद् लघु आगन्तव्यम्' इति । तत. सा 'यदम्वा आज्ञापयति' इति भणित्वा ससाभ्रम कुमारमवलोकयन्ती निर्गता उद्यानात्, प्राप्ता च कुमारमेव चिन्तयन्ती निजकगेहम् । ततो देवी प्रणम्यारूढा दन्तवलभिकाम् । तत: कुमारमेवानुस्मरन्ती विमुक्तदीर्घनिश्वासा समुपविष्टा पल्यङ्कशयनीये, विसर्ज्जितश्च तया समान्य सखीसार्थ: ।

अथ सेवितु प्रवृत्ता शय्या अनवरतमुक्तनिश्वासा ।
मदनशरशल्यितमना. निजकार्यनिवृत्तव्यापारा ।।
नालिखति चित्रकर्म न चाङ्गराग करोति करणीयम् ।
नाभिलषति आहारम् अभिनन्दति नैव निजभवनम् ।।
चिरपरिचितमपि पाठयति नैव शुक–सारिकाना सघातम् ।
क्रीडयति मनोहरान् चटुलान् न च भवनकलहसान् ।।
विहरति न हर्म्यतले मज्जति न च गेहदीर्घिकायां तु ।
सारयति नैव वीणा पत्रच्छेद्यमपि न करोति ।।
न च कन्दुकेन क्रीडति वहु मन्यते नैव भूषणकलापम् ।
हरिणीव यूथभ्रष्टा अनुस्मरन्ती त चैव ।।

खणरुद्धनयणपसरा अवसा खणधरियदीहनीसासा ।
खणरुद्धदेहचेट्ठा खणजपिरवाय (मिलाण) मुहकमला ॥
एत्थन्तरम्मि तीसे धावीए नियसुया समाणत्ता ।
नामेण मयणलेहा वीय हियय व जा तीए ॥

जहा—कीलासुन्दरुज्जाणगमणकीलाए दढं परिस्सन्ता कुसुमावली, लहु च तीए अज्ज विसज्जियाओ सहीओ, ता गिण्हिऊण पविरलजल-सित्त तालियण्टं वन्धेऊण कइवयकप्पूरवीडगाणि उवसप्पाहि एय ति । समाएसाणन्तरं च सपाडयजणणिवयणा रसन्तमणिनेउरा पत्ता कुसुमा-वलीसमीव सहरिसा मयणलेहा । दिट्ठा य तीए वरसणीयमज्झगया गुरु-चिन्ताभरनीसह अङ्गं वहन्ती कुसुमावलि त्ति । तओ अणालवणमुणिय-सुन्नभावाए विन्नत्ता मयणलेहाए । सामिणि ! किमेवमुव्विग्गा विय लक्खीयसि, किन्न सपन्ना ते गुरुदेवयाण पूया ? किन्न मम्माणियाओ सहीओ ? किन्न कया अतिथजणपडिवत्ती ? किन्न गहिओ कलाकलावो? किन्न परितुट्ठो ते गुरुयणो ? किन्न विणीओ ते परिवारो ? किन्नाणुरत्तो सहीसत्थो ? किन्न सजायइ ते समीहिय ति ? आणवेउ सामिणी जइ अकहणीय न होइ । तओ कुसुमावलीए ससभम सहत्थेण अलए सजमे-ऊण भणिय । अत्थि पियसहीए वि नाम अकहणीय । ता सुण—कुसुमा-वचयपरिस्समेण मे जरकला विय संवुत्ता, तज्जणिओ य परिपीडेइ म परियावाणलो, तन्निमित्ता य वियम्भइ अङ्गेसु अरई, न उण किंचि अन्नं उव्वेयकारण लक्खेमि त्ति । मयणलेहाए भणियं—जइ एव, ता गेण्ह कप्पूरवीडगाणि, परिवीएमि ते कीलाखेयनीसह अङ्गं । कुसुमाव-लीए भणिय—किं मे एयावत्थ गयाए कप्पूरवीडएहिं, अल च परिवीइ-एण । एहि गच्छामो वालकयलीहरय । तत्थ सज्जीकरेहि मे अत्थुरण, जेण तहि गयाए अवेइ एसो परियावाणलो त्ति । तओ मयणलेहाए भणियं । जं सामिणी आणवेइ । गयाओ य सभवणुज्जाणतिलयभूय वालकयलीहरय । सज्जीकयं च से मयणलेहाए सुन्दरमत्थुरण । निवन्ना य तत्थ कुसुमावली । समप्पियाणि से कप्पूरवीडयाणि ।

क्षणरुद्धनयनप्रसरा अवशा क्षणधृतदीर्घनि·श्वासा ।
क्षणरुद्धदेहचेष्टा क्षणजल्पद्वान (म्लान) मुखकमला ॥
अत्रान्तरे तस्या धात्र्या निजसुता समाज्ञप्ता ।
नाम्ना मदनलेखा द्वितीयं हृदयं वा या तस्या· ॥

यथा–क्रीडासुन्दरोद्यानगमनक्रीडया दृढं परिश्रान्ता कुसुमावली, लघु च तयाऽद्य विसर्जिताः सख्य, तस्मात् गृहीत्वा प्रविरलजलसिक्त तालवृन्त वद्ध्वा कतिपयकर्पूरवीटकानि उपसर्प एतामिति । समादेशानन्तर च सपादितजननीवचना रसन्मणिनूपुरा प्राप्ता कुसुमावलीसमीपं सहर्षा मदनलेखा । दृष्टा च तया वरशयनीयमध्यगता गुरुचिन्ताभरनिःसहमङ्गं वहन्ती कुसुमावली इति । ततोऽनालपनज्ञातशून्यभावया विज्ञप्ता मदनलेखया । स्वामिनि ! किमेव उद्विग्ना इव लक्ष्यसे, किं न सपन्ना ते गुरुदेवताना पूजा ? किं न सम्मानिता सख्यः ? किं न कृता अर्थिजनप्रतिपत्ति ? किं न गृहीत. कलाकलाप· ? किं न परितुष्टस्ते गुरुजन. ? किं न विनीतस्ते परिवार: ? कि नानुरक्त· सखीसार्थं ? किं न संजायते ते समीहितम्–इति । आज्ञापयतु स्वामिनी, यद्यकथनीयं न भवति । तत कुसुमावल्या ससंभ्रमं स्वहस्तेनालकान् संयम्य भणितम् । अस्ति प्रियसख्या अपि नाम अकथनीयम्। तावत् श्रृणु–कुसुमावचायपरिश्रमेण मे ज्वरकला इव सवृत्ता, तज्जनितश्च परिपीडयति मां परितापानल:, तन्निमित्ता च विजृम्भते अङ्गेषु अरतिः, न पुनः किञ्चिद् अन्यद् उद्वेगकारण लक्षयामि इति । मदनलेखया भणितम्—यद्येवं, तस्माद् गृहाण कर्पूरवीटकानि, परिवीजयामि ते क्रीडाखेदनि सहमङ्गम् । कुसुमावल्या भणितम्–किं मे एतदवस्था गताया. कर्पूरवीटकैः, अल च परिवीजितेन । एहि गच्छामो वालकदलीगृहकम् । तत्र सज्जीकुरु मे आस्तरणम्, येन तस्मिन् गताया अपैति एष परितापानल इति । ततो मदनलेखया भणितम्–यत् स्वामिनी आज्ञापयति । गते च स्वभवनोद्यानतिलकभूतं वालकदलीगृहकम् । सज्जीकृत च तस्या मदनलेखया सुन्दरमास्तरणम् । निषण्णा च तत्र कुसुमावली । समर्पितानि च तस्याः कर्पूरवीटकानि ।

वीसम्भकहालावजणियपरिओस च तालियण्टेण वीइउमारद्धा मयणलेहा। कुसुमावली पुण अयण्डदिन्नसुन्नहुकारा निहुयमुक्कनीसास त चेव हियय-सल्लभूय पुणो पुणो अणुसरन्ती चिट्ठइ। तओ मयणलेहाए चिन्तिय— किं पुण इमीए इमस्स अन्नहावियारभावस्स कारण ति। पुच्छिया य तीए। सामिणि! पत्ते इमम्मि तरुणजणविब्भमुल्लोलसागरे वसन्तसमए किं तुमए अज्ज कीलासुन्दर गच्छन्तीए गयाए वा तत्थ अच्छरिय दिट्ठं ति। तओ मयणावत्थासहावओ चेव वामत्तणेण मयणस्स अणभिप्पेय पि भणियं कुसुमावलीए—सहि! दिट्ठो मए कीलासुन्दरुज्जाणम्मि रइवि-रहिओ विव कुसुमाउहो, रोहिणीविओइओ विव मयलञ्छणो, परिचत्त-मइरो विव कामपालो, सचीविउत्तो विव पुरन्दरो, तवियतवणिज्जसरि-सवण्णो नहमऊहमञ्जरियचलणङ्गुलिविभाओ, सूनिगूढसिरासधाणो अणुवद्धपिण्डियाभाओ, मणहरमऊरजङ्घो, अन्तोनिगूढजाणुसधाणो, मयरवयणागारजाणुमत्थओ अइसुन्दरसुसगयोरुजुयलो, विउलकडियडा-भोओ, मणहरतणुमज्झभाओ, पीणवित्थिण्णवच्छत्थलो, उन्नयसिहरपरि-वट्टुलवाहुजुयलो, अणुव्वणकोप्परविभाओ, पीणपकोट्ठदेसो, आजाणुल-म्बियपसत्थलेहाविभूसियकरयलो, आयम्बतलिणकररुहो, सुसमाउत्ताहर-पुडो, समसुसंगयधवलदसणो, आरत्ततिभागदीहविसाललोयणो, उत्तुङ्गना-सियावसो, विउलनिडालवट्टो, सुसमाउत्तकण्णपासो, कसिणसुसिणिद्धकुडि-लकुन्तलभारो, चन्दणकयङ्गराओ, विमलदुगुल्लनियंसणो, महल्लमुत्ताहल-मालाविहूसियसिरोहरो, विमलचूडारयणपसाहियउत्तिमङ्गो, किं वहुणा जंपिएण—रूव पिव रूवस्स, लावण्ण पिव लायण्णस्स, सुन्देर पिव सुन्देर-स्स, जोव्वण पिव जोव्वणस्स, मणोरहो विय मणोरहाणं महारायस्स पुत्तो सीहकुमारो त्ति। तओ मुणियअन्नहावियारभावनिवन्धणाए चिन्तियं मयणलेहए। ठाणे खु सामिणीए अणुराओ। अहवा न कमलायरं वज्जिय लच्छी अन्नत्थ अहिरमइ। तस्स वि य भगवओ अणङ्गस्स विय रई न एयं वज्जिय अन्ना उचिय त्ति। चिन्तिऊण जपियमिमीए। सामिणि! सुन्दरो खु सो कुमारो नियगुणेहिं। जहा उण अज्जसुवुद्धी मए देवीपेसणगयाए राइणा सह मन्तयन्तो सुओ, जइ त तहा भविस्सइ,

विश्रम्भकयाऽऽलापजनितपरितोषां च तालवृन्तेन वोजितुमारब्धा मदनलेखा। कुसुमावली पुनरकाण्डदत्तशून्यहुकारा निभृतमुक्तनि·श्वासं त चैव हृदयशल्यभूत पुन. पुनरनुस्मरन्ती तिष्ठति । ततो मदनलेखया चिन्तितम्-किं पुनरस्या अस्य अन्यथाविकारभावस्य कारणम्-इति । पृष्टा च तया । स्वामिनि ! प्राप्तेऽस्मिन् तरुणजनविभ्रमोल्लोलसागरे वसन्तसमये किं त्वया अद्य क्रीडासुन्दर गच्छन्त्या गतया वा तत्राश्चर्यं दृष्टम्-इति । ततो मदनावस्थास्वभावत एव वामत्वेन मदनस्य अनभिप्रेतमपि भणित कुसुमावल्या-सखि ! दृष्टो मया क्रीडासुन्दरोद्याने रतिविरहित इव कुसुमायुध., रोहिणीवियोजित इव मृगलाञ्छन , परित्यक्तमदिर इव कामपाल , शचीवियुक्त इव पुरन्दर , तप्ततपनीयसदृशवर्णो नखमयूखमञ्जरितचरणाङ्गुलीविभाग·,सुनिगूढशिरासन्धान· अनुवद्धपिण्डिकाभाग·, मनोहरमयूरजङ्घः, अन्तर्निगूढजानुसन्धानः, मकरवदनाकारजानुमस्तक·, अतिसुन्दरसुसङ्गतोरुयुगलः, विपुलकटीतटाभोग·, मनोहरतनुमध्यभाग·, पीनविस्तीर्णवक्ष स्थलः, उन्नतशिखरपरिवर्तुलबाहुयुगल , अनुल्बणकुर्परविभाग , पीनप्रकोष्ठदेश , आजानुलम्बितप्रशस्तलेखाविभूषितकरतल·, आताम्रतलिनकररुहः, सुसमायुक्ताधरपुट , समसुसगतधवलदशनः, आरक्तत्रिभागदीर्घविशाललोचन , उत्तुङ्ग नासिकावंश., विपुलललाटपट्ट , सुसमायुक्तकर्णपाश , कृष्णसुस्निग्धकुटिलकुन्तलभारः, चन्दनकृताङ्गराग·, विमलदुकूलनिवसन·, महामुक्ताफलमालाविभूषितशिरोधरः, विमलचूडारत्नप्रसाधितोत्तमाङ्ग , किं बहुना जल्पितेन रूपमिव रूपस्य, लावण्यमिव लावण्यस्स, सौन्दर्यमिव सौन्दर्यस्य, यौवनमिव यौवनस्य, मनोरथ इव मनोरथाना महाराजस्य पुत्र· सिंहकुमार इति । ततो ज्ञातान्यथाविकारभावनिबन्धनया चिन्तित्त मदनलेखया । स्थाने खलु स्वामिन्या अनुराग. । अथवा न कमलाकर वर्जयित्वा लक्ष्मी अन्यत्राभिरमते। तस्यापि च भगवतोऽनङ्गस्येव रति नैता वर्जयित्वाऽन्या उचितेति । चिन्तयित्वा जल्पितमनया । स्वामिनि ! सुन्दर खलु स कुमारो निजगुणैः । यथा पुनरार्यसुबुद्धिर्मया देवीप्रेषणगतया राज्ञा सह मन्त्रयन् श्रुत·, यदि तद् तथा भविष्यति,

तओ रइसणाहोविय पञ्चबाणो सयलसुन्दरो भविस्सइ त्ति । कुसुमावलीए भणिय—'किं सुओ ?' त्ति । तीए भणियं–एवं सुओ । अज्जसुबुद्धिणा भणियं—देव ! महारायपुरिसदत्तस्स सीहकुमारस्स कए कुसुमावलि मग्गमाणस्स गरुओ अणुबन्धो । दढ च तेण एत्थ वुत्तन्ते अहं भणिओ म्हि 'तहा तुमए कायव्वं, जहा एसा कुसुमावली सरिसगुणेण कुमारसीहेण सजुज्जइ' त्ति । अन्नं च, देव ! न त वज्जिय कुसुमावलीए अन्नो उचिओ त्ति । एत्थन्तरम्मि लज्जा-हरिसनिब्भराए किंपि अभणणीयं अवत्थन्तर पाविऊण अलियकोवकलङ्कसपायणेण चन्दसरिसवयणाए भणियं कुसुमावलीए । हला ! असंबद्धपलाविणि ! किमेयमेव पलवसि ?। मयणलेहाए भणिय—सामिणि ! किं वा एत्थ असबद्ध ति । किं अणुचिया माणससरनिवासिणो रायहसी वरहसस्स । तओ देवेण भणियं—भो सुबुद्धि ! पहवइ महाराओ मम पणाण पि । तओ सुबुद्धिणा भणिय—देव ! जुत्तमेयं ति । एव च जाव वीसत्थमन्तिएणं चिट्ठन्ति, ताव आगया उज्जाणवाली पल्लविया नाम चेडी । विन्नत्ता य तीए कुसुमावली । सामिणि ! देवी आणवेइ । गच्छ तुम दन्तवलहिय, जओ आणत्तं देवेण 'अज्ज सविसेससोहारसपायणाभिराम सज्जेयव्वं भवणुज्जाणं, एत्थ किल महारायपुत्तेण सीहकुमारेण आगन्तव्व' ति । तओ एयमायण्णिय 'ज देवी आणवेइ' त्ति सहरिसं गया दन्तवलहियं । इओ य सज्जिय भवणुज्जाणं । तओ य सायर उवणिमन्तिऊण कुसुमावलीदसणूसुययाए अभिप्पेयागमणो चेव आणीओ सीहकुमारो । कओ से भोयणसंपायणाइओ उवयारो । पच्छा पविट्ठो भवणुज्जाणं । दिट्ठो य तेण गिहसारियारावमुहलो दक्खालयामण्डवो नववरो विव आरत्तपल्लवनिवसणोवसोहिओ असोयनिवहो, चडुलकलहसचालियकमलो य भवणदीहियानलिणिवणसण्डो, महुयरपरहुयारावमुहलो य सहयारनिकुरुम्बो, कुसुममहुपाणमुइयभमिरभमरालिपरियरिओ य माहवीलयामण्डवो, नागवल्लीनिवहसमालिङ्गिओ य पूगफलीपयरो सुयन्धपरिमलावासियदिसामण्डलो य कुट्कुमगोच्छनियरो, महुरमारुयन्दोलिरो य लोयणसुहओ कयलीहरओ त्ति । ठिओ य माहवीलयामण्डवम्मि ।

ततो रतिसनाथ इव पञ्चबाण. सकलसुन्दरो भविष्यति इति । कुसुमावल्या भणितं—'किं श्रुत इति । तया भणितम्-एव श्रुतः-आर्यसुबुद्धिना भणितम् देव ! महाराजपुरुषदत्तस्य सिहकुमारस्य कृते कुसुमावली मार्गयतो गुरुकोऽनुबन्ध. । दृढ च तेन अत्र वृत्तान्तेऽह भणितोऽस्मि 'तथा त्वया कर्तव्यं, यथा एषा कुसुमावली सदृशगुणेन कुमारसिंहेन सयुज्यते' इति । अन्यश्च, देव ! न त वर्जयित्वा कुसुमावल्या अन्य उचित इति । अत्रान्तरे लज्जा-हर्षनिर्भरया किमप्यभणनीयमवस्थान्तर प्राप्य अलीककोपकलङ्कसंपादनेन चन्द्रसदृशवदनया भणित कुसुमावल्या । सखि ! असंबद्धप्रलापिनि ! किमेतदेव प्रलपसि ?। मदनलेखया भणितम्—स्वामिनि ! किं वाऽत्रासबद्धमिति । किमनुचिता मानससरोनिवासिनो राजहसी वरहंसस्य । ततो देवेन भणितम्—भो सुबुद्धे ! प्रभवति महाराजो मम प्राणानामपि । ततः सुबुद्धिना भणितम्—देव ! युक्तमेतद् इति । एव-च यावद् विश्वस्तमन्त्रितेन तिष्ठत., तावदागता उद्यानपाली पल्लविका नाम चेटी । विज्ञप्ता च तया कुसुमावली । स्वामिनि ! देवी आज्ञापयति । गच्छ त्व दन्तवलभिका, यत. आज्ञप्त देवेन 'अद्य सविशेपशोभासपादनाभिरामं मज्जितव्य भवनोद्यानम्, अत्र किल महाराजपुत्रेण सिहकुमारेण आगन्तव्यम्' इति । तत एतमाकर्ण्य 'यद् देवी आज्ञापयति' इति सहर्षं गता दन्तवलभिकाम् । इतश्च सज्जित भवनोद्यानम् । ततः सादरमुपनिमन्त्र्य कुसुमावलीदर्शनोत्सुकतयाऽभिप्रेतागमन एव आनीतः सिंहकुमार. । कृत तस्य भोजनसपादनादिक उपचारः । पश्चात् प्रविष्टो भवनोद्यानम् । दृष्टश्च तेन गृहसारिकारावमुखरो द्राक्षालतामण्डपो नववर इव आरक्तपल्लवनिवसनोपशोभितोऽशोकनिवहः, चटुलकलहसचालितकमलश्च भवनदीर्घिकानलिनीवनखण्ड, मधुतरपरभृतारावमुखरश्च सहकारनिकुरम्बः, कुसुममधुपानमुदितभ्रमितृभ्रमरालिपरिचरितश्च माधवीतलामण्डप, नागवल्लीनिवहसमालिङ्गितश्च पूगफलीप्रकार', सुगन्धपरिमलावासितदिग्मण्डलश्च कुङ्कुमगुच्छनिकर., मधुरमारुतान्दोलितं च लोचनसुभगं कदलीगृहकम्-इति । स्थितश्च माधवीलतामण्डपे ॥

एत्थन्तरम्मि य मयणलेहाए भणिया कुसुमावली । सामिणि ! महाणुभावाण सुयणभावोओ पुव्वनिव्वत्तिओ चेव सम्बन्धो होइ । सो चेव उचियसभासण-फुल्ल-तम्बोलप्पयाणाइणा पयासिज्जइ त्ति । ता पेसेहि से सरीरपउत्तिपुच्छणापुव्वय एयम्मि काले असभावणिज्जभावं सहत्थारोवियपियङ्गुमञ्जरीकण्णावयस कोमलनागवल्लीदलसणाह च तम्बोल अहिणवुप्पन्नाणि य कक्कोलयफलाइ नियकलाकोसल्लपिसुणग च किंचि तहारूव अच्छेरयभूय ति । तओ कुसुमावलीए भणियं--ज पिय-सहि ! ते पडिहायइ, त सय चेव अणुचिट्ठउ पियसही । तओ मयणलेहाए वण्णियासमुग्गयं चित्तवट्टिय च ऊवणेऊण भणिया कुसुमावली । सामिणि! चित्ताणुराई खु सो जणो, ता आलिहउ एत्थ सामिणी समाणवरहसय-विउत्त तद्दसणूसुय च रायहसिय ति । तओ मुणियमयणलेहाभिप्पायाए ईसि विहसिऊण आलिहिया तीए जहोवइट्ठा रायहसिया । मयणलेहाए वि य अवत्थासूयग से लिहियं इम उवरि दुवइखण्ड । जहा--

अहिणवनेहनिब्भरुक्कण्ठियनिरुपच्छायवयणिया ।
सरसमुणालवलयगासम्मि वि सइ मन्दाहिलासिया ।।
दाहिणपवणविहुयकमलायरए वि अदिन्नदिट्ठिया ।
पियसगमकए न उत्तम्मइ कह वररायहसिया ।।

तओ घेत्तूण एयं चित्तवट्टिय पुव्ववण्णिय च पाहुड गया माह-वीलयामण्डव मयणलेहा । 'कुसुमावलीपियसहि' त्ति परियणाओ मुणि-ऊण सायरमभिणन्दिया कुमारेण । तओ ससभमं तस्स चलणजुयल पणमिऊण भणियं मयणलेहाए--महारायपुत्त ! 'चित्ताणुराई तुमं' ति तओ चित्ताणुराइणीए अहं तुह पउत्तिनिमित्त पेसिया रायधूयाए कुसुमा-वलीए, तहा सहत्यारोवियाणुराएण य एसा अहिणवुप्पन्ना पियङ्गु-मञ्जरी नियनागवल्लीसमुप्पन्नदलमहग्घं च तम्बोल अहिणवुप्पन्नाणि य कक्कोलयफलाइं 'एयाइ च किल इट्ठविसिट्ठाण दिज्जन्ति, ता तुम चेवं जोग्गो' त्ति कलिऊण पेसियाइं सामिणीए, एसा वि चित्तगया रायहसिया पावउ ते दसणसुहेल्लि ति, भणिउमुवणीयाइ च तीए । तओ कुमारेण

अत्रान्तरे च मदनलेखया भणिता कुसुमावली । स्वामिनि ! महानुभावाना सुजनभावात् पूर्वनिर्वर्तित एव संवन्धो भवति । स एव उचितसंभाषण–पुष्प-ताम्बूलप्रदानादिना प्रकाश्यते इति । तस्मात् प्रेषय तस्य शरीरप्रवृत्तिपृच्छनापूर्वकमेतस्मिन् कालेऽसभावनीयभावं स्वहस्तारोपितप्रियङ्गुमञ्जरीकर्णावतंसं कोमलनागवल्लीदलसनाथं च ताम्बूलमभिनवोत्पन्नानि च कक्कोलकफलानि निजकलाकौशल्यपिशुनक किञ्चित् तथारूपमाश्चर्यभूतमिति । तत कुसुमावल्या भणितम्-यत् प्रियसखि ! तव प्रतिभाति, तत् स्वयमेवानुतिष्ठतु प्रियसखी । ततो मदनलेखया वर्णिकासमुद्रक चित्रवर्तिकां चोपनीय भणिता कुसुमावली । स्वामिनि ! चित्रानुरागी खलु स जनः, तत आलिखतु अत्र स्वामिनो समानवरहसवियुक्ता तद्दर्शनोत्सुकां च राजहसिकामिति । ततो ज्ञातमदनलेखाभिप्रायया ईषद् विहस्य आलिखिता तया यथोपदिष्टा राजहंसिका । मदनलेखयाऽपि चावस्थासूचक तस्य लिखितमिदमुपरि द्विपदीखण्डम् । यथा—

अभिनवस्नेहनिर्भरोत्कण्ठितनिरुपच्छायवदनीया ।
सरसमृणालवलयग्रासेऽपि सदा मन्दाभिलाषिका ।।
दक्षिणपवनविधूतकमलाकरेऽपि अदत्तदृष्टिका ।
प्रियसङ्गमकृते नोत्ताम्यति कथ वरराजहसिका ? ।।

ततो गृहीत्वा एता चित्रवर्तिकां पूर्ववर्णित च प्राभृत गता माधवीलतामण्डप मदनलेखा । 'कुसुमावलीप्रियसखी' इति परिजनात् ज्ञात्वा सादरमभिनन्दिता कुमारेण । तत ससभ्रमं तस्य चरणयुगलं प्रणम्य भणितं मदनलेखया–महाराजपुत्र ! 'चित्रानुरागी त्वम्' इति तत. चित्रानुरागिण्याऽह तव प्रवृत्तिनिमित्त प्रेषिता राजदुहित्रा कुसुमावल्या, तथा स्वहस्तारोपितानुरागेण च एषाऽभिनवोत्पन्ना प्रियङ्गुमञ्जरी निजनागवल्लीसमुत्पन्नदलमहार्घं च ताम्बूलमभिनवोत्पन्नानि च कक्कोलफलानि 'एतानि च किल इष्टविशिष्टेभ्यो दीयन्ते, ततस्त्वमेव योग्यः' इति कलयित्वा प्रेषितानि स्वामिन्या, एषाऽपि चित्रगता राजहसिका प्राप्नोतु ते दर्शनसुखकेलिमिति भणित्वोपनीतानि च तया । तत. कुमारेण

सहरिसयं गिण्हिऊण कया कण्णे पियङ्गुमञ्जरी आवील मोत्तूण, समाणिय च तम्बोल, अब्भहियजायहरिसेण पलोइया रायहसिया, वाइय च से अवत्थासूयग उवरि लिहिय दुवईखण्ड । तओ तम्वोलसमाणणपज्जाउलवयणयाए मयणवियारओ य परिखलन्तविसयमहुरक्खरं भणियं च णेण—अहो ! से चित्तकोसल्लं । अह कि पुण दसणाओ चेव मुणिज्जमाणा वि अवत्था इमेण पुणरुत्तोवन्नासमेत्तेण दुवईखण्डेण सूइया । मयणलेहाए भणिय—महारायउत्त ! न एसा सामिणीए सूइया, किं तु एयमालिहिय पेच्छिऊण मए कय इमं दुवईखण्ड ति । कुमारेण भणिय—जुज्जइ पढमलिहिय दट्ठूण सहियाण अवत्थाणुवायकरण ति । मग्गिया णेण पत्तछेज्जकत्तरी । कप्पिओ य नागवल्लीदले रायहंसियावत्थाणुरूवो वररायहसओ, फुडक्खरा य एसा हिययसवायणनिमित्त गाह त्ति जहा—

मरिऊण न संपत्ती पियाए कालिऊण एस वरहंसो ।
धारेइ कह वि पाणे अणुकूलनिमित्तजोएण ॥

तओ नियसिरोहरायो ओसारिऊण दिन्ना इमीए तिसमुद्दसारभूया पारिओसियं मुत्तावली, समप्पिय च नागवल्लीदलं । ईसि विहसिऊण भणिया य एसा, वत्तव्वा तुमए कुसुमावली । जहा—अत्थि अम्हाणं दढ चित्ताणुराओ, मुणियं तुमए इम, विन्नायं च अम्हेहिं पि ते चित्तकोसल्ल, ता पुणो एव चेव चित्ताणुराइणो जणस्स नियचित्तकोसल्लाइसएण आणन्द करिज्जासि त्ति । तओ 'जं महारायउत्तो आणवेइ' त्ति भणिऊण पणामपुव्वय निग्गया मयणलेहा, पत्ता य कुसुमावलीसमीव । आइक्खिओ तीए जहावत्तो वुत्तन्तो, समप्पिय नागवल्लीदल, दिट्ठो य कुसुमावलीए वरहसओ, वाइया य गाहा, परितुट्ठा हियएण ॥

एव च पइदिण मयणसरगोयरावडियजणमणाणन्दयारेहिं विज्जाहरी-चक्कवाय-महुयरपमुहचित्तपओयपेसणेहिं पवड्ढमाणाणुरायाणं जाव वोलेन्ति थेवदियहा, ताव राइणो पुरिसदत्तस्स पत्थणामहग्घं दिन्ना लच्छिकन्तनरवइणा कुमारसीहस्स कुसुमावलि त्ति । निवेइयं च एयं पियकारियाए कुसुमावलीए । जहा—

सहर्षं गृहीत्वा कृता कर्णे प्रियङ्गुमञ्जरी आव्रीडा(ईषद् व्रीडां) मुक्त्वा, समानीत च ताम्बूलम्, अभ्यधिकजातहर्षेण प्रलोकिता राजहंसिका, वाचितं च तस्या अवस्थासूचकमुपरि लिखितं द्विपदीखण्डम् । तत ताम्बूलसमानयनपर्याकुलवदनतया मदनविकारतश्च परिस्खलद्विषममधुराक्षर भणितं चानेन—अहो ! तस्याश्चित्रकौशल्यम् । अथ किं पुनर्दर्शनादेव ज्ञायमानापि अवस्था अनेन पुनरुक्तोपन्यासमात्रेण द्विपदीखण्डेन सूचिता । मदनलेखया भणितम्–महाराजपुत्र ! न एषा स्वामिण्या सूचिता, किं तु एतदालिखितं दृष्ट्वा मया कृतमिदं द्विपदीखण्डमिति । कुमारेण भणितम्–युज्यते प्रथमलिखितं दृष्ट्वा सहृदयानामवस्थानुवादकरणमिति । मार्गिता तेन पत्रच्छेद्यकर्तरी । कल्पितश्च नागवल्लीदले राजहंसिकाऽवस्थानुरूपो वरराजहंस , स्फुटाक्षरा चैषा हृदयसवादननिमित्तं गाथेति । यथा–

मृत्वा न सप्राप्ति प्रियाया· कलयित्वा एष वरहंस· ।
धारयति कथमपि प्राणान् अनुकूलनिमित्तयोगेन ।।

ततो निजशिरोधराद् अपसार्य दत्ताऽस्यास्त्रिसमुद्रसारभूता पारितोषिक मुक्तावली, समर्पितं च नागवल्लीदलम् । ईषद् विहस्य भणिता चैषा, वक्तव्या त्वया कुसुमावली । यथा–अस्ति अस्माक दृढं चित्रानुरागः, ज्ञातं त्वयेदम्, विज्ञात चास्माभिरपि ते चित्रकौशल्यम् । तस्मात् पुनरेवमेव चित्रानुरागिणो जनस्य निजचित्रकौशल्यातिशयेन आनन्द करिष्यति । ततो 'यद् महाराजपुत्र आज्ञायपति' इति भणित्वा प्रणामपूर्वक निर्गता मदनलेखा, प्राप्ता च कुसुमावलीसमीपम् । आख्यातस्तया यथावृत्तो वृत्तान्त·, समर्पित नागवल्लीदलम् । दृष्टश्च कुसुमावल्या वरहस , वाचिता च गाथा, परितुष्टा हृदयेन ।।

एव च प्रतिदिन मदनशरगोचरापतितजनमनआनन्दकारैर्विद्याधरी-चक्रवाक-मधुकरप्रमुखचित्रप्रयोगप्रेषणैः प्रवर्द्धमानानुरागयोर्यावद्व्यतिक्रामन्ति स्तोकदिवसाः, तावद् राज्ञः पुरुषदत्तस्य प्रार्थनामहार्घ दत्ता लक्ष्मीकान्तनरपतिना कुमारसिंहस्य कुसुमावलीति । निवेदितं चैतत् प्रियङ्कर्या कुसुमावल्याः । यथा—

दिन्ना सीहकुमारस्स सुयणु सिट्ठे य बहलपुलयाए ।
अङ्गेसु परिओसो मयणो व्व वियम्भिओ तिस्सा ॥

एत्थन्तरम्मि य अत्थिनिवहसमीहियब्भहियदिन्नदविणजायं वज्जन्तमङ्गलतूररवापूरियदिसामण्डल नच्चन्तवेसविलयायणुप्पकबद्धसोह सयलजणमणाणन्दयारय दोहि च नरिन्देहिं कय वद्धावयण ति ।

काऊण य तेहि तओ वारिज्जसुहो गणाविओ दियहो ।
घोसाविय पुणो वि य जहिच्छियादाणमच्चत्थ ॥
पत्तम्मि य तम्मि दिणे तत्तो कुसुमावली पसत्थम्मि ।
वन्धुजुवईहि सहिया पमक्खणकए मुहुत्तम्मि ॥
आसन्दियाए मणहरधवलदुगुल्लोत्थयाए रम्माए ।
ठविया पुव्वाभिमुही रङ्गावलिचाउरन्तम्मि ॥
मणिपट्टयम्मि निमिया चलणा सकन्तरायसोहिल्ले ।
तप्फससुहासायणरसपल्लविए व्व विमलम्मि ॥
वच्छीउत्तेण य नहमऊहपडिवन्नसलिलसङ्केण ।
पक्खालिउमणवज्जं निम्मवियं तीए नहयम्मं ॥
रत्तंसुयपरिहाणा अहियं वियसन्तवयणसयवत्ता ।
आसन्नरविसमागमपुव्वदिसिवहु व्व आरत्ता ॥
दुव्वङ्कुर-दहि-अक्खयवावडहत्थाहिं रत्तवसणाहिं ।
जुवईहि अविहवाहि विहिणा य पमक्खिया ताहि ॥
पुप्फ-फलोदयभरिएहि कणयकलसेहि ण्हाविया नवर ।
ऊमिणिया सुपसत्थं सव्वङ्गं पुण्णवत्तेण ॥
दिन्ना य अक्खया से गुरूहि परिओसवहलपुलएहिं ।
सव्वोसहिगन्धड्ढे घणकेसे उत्तिमङ्गम्मि ॥
तत्तो वि य ससिवयणा नवर पसाहिज्जिउं समाढत्ता ।
जावयरसेण पढमं मणहरचलणा कया तीसे ॥
नियकन्तिसच्छहेण य कुङ्कुमराएण जङ्घियाओ से ।
पीणे थणकलसजुए अभिलिहिया पत्तलेहाओ ॥

दत्ता सिंहकुमारस्य सुतनो ! शिष्टे च बहलपुलकायाः ।
अङ्गेषु परितोषो मदन इव विजृम्भितस्तस्याः ॥

अत्रान्तरे च अर्थिनिवहसमीहिताभ्यधिकदत्तद्रविणजात वाद्यमा–नमङ्गलतूर्यरवापूरितदिग्मण्डल नृत्यद्वेश्यावनिताजनबहुबद्धशोभ सकलज–नमनआनन्दकारक द्वाभ्या च नरेन्द्राभ्या कृत वर्द्धापनकमिति ।

कृत्वा च ताभ्या ततो विवाहशुभो गणितो दिवस ।
घोषित पुनरपि च यथेप्सितदानमत्यर्थम् ॥
प्राप्ते च तस्मिन् दिने तत कुसुमावली प्रशस्ते ।
बन्धुयुवतिभि सहिता प्रम्रक्षणकृते मुहूर्ते ॥
आसन्दिकाया मनोहरधवलदुकूलावस्तृताया रम्यायाम् ।
स्थापिता पूर्वाभिमुखी रङ्गावलीचातुरन्ते ॥
मणिपट्टके न्यस्तौ चरणौ सक्रान्तरागशोभावति ।
तत्स्पर्शसुखास्वादनरसपल्लविते इव विमले ॥
वात्सीपुत्रेण च नखमयूखप्रतिपन्नसलिलशङ्केन ।
प्रक्षाल्यानवद्यं निर्मित तस्या नखकर्म ॥
रक्ताशुकपरिधाना अधिक विकसद्वदनशतपत्रा ।
आसन्नरविसमागमपूर्वदिग्वधूरिवारक्ता ॥
दूर्वाङ्कुर–दध्यक्षतव्यापृतहस्ताभि रक्तवसनाभि ।
युवतिभिरविधवाभिर्विधिना च प्रम्रक्षिता ताभि ॥
पुण्य–फलोदयभूतैं कनककलशैं स्नापिता नवरम् ।
प्रोञ्छिता सुप्रशस्त सर्वाङ्ग पुण्यवस्त्रेण ॥
दत्ता चाक्षतास्तस्या गुरुभि परितोषबहलपुलकैः ।
सर्वौषधिगन्धाढ्ये घनकेशे उत्तमाङ्गे ॥
ततोऽपि च शशिवदना नवरं प्रसाधयितुं समारब्धा ।
यावकरसेन प्रथमं मनोहरचरणौ कृतौ तस्याः ॥
निजकान्तिसच्छायेन च कुङ्कुमरागेण जङ्घिकयो. तस्या. ।
पीने स्तनकलशयुगेऽभिलिखिताः पत्रलेखा. ॥

कालेयमीसचन्दणरसेण निम्मज्जिय च मुहकमलं ।
दइओ व्व साणुराओ कओ य से समयणो अहरो ॥
नवसरयकालवियसियकुवलयदलकन्तिरायसोहिल्लं ।
कयमुज्जलं पि कज्जलयरञ्जियं लोयणाण जुयं ॥
महुमासलच्छिया इव उम्मिल्लो से मुहम्मि वरतिलओ ।
उवरिरइयालयावलिअलिउलवलएहि परियरिओ ॥
अह कलसद्दायड्डियसभवणवाविरयरायहंसाइं ।
चलणेसु पिणद्धाइं मणहरमणिनेउराइं से ॥
नहससिमऊहसंवलियरयणसंजणियविउणसोहाहिं ।
पडिवन्नाओ मणिविढियाहिं तह अङ्गुलीओ त्ति ॥
वद्धं च दइयहियय व तीए वियडे नियम्बविम्बम्मि ।
सुरऊसववरतूरं निम्मलमणिमेहलादामं ॥
वाहुलयामूलेसुं रइयाओ जणमणक्कणाओ उ ।
वाहुसरियाउ तीसे मयरद्धयवागुराओ व्व ॥
वद्धो य थणहरोवरि मणहरवरपउमरायदलघडिओ ।
पवरो पवगवन्धो नियम्वसंसत्तओ तह य ॥
मुत्ताहारो थणवद्धसंगसंजायकामराओ व्व ।
कण्ठमवलम्विऊण नीविं से फुसिउमाढत्तो ॥
कण्ठम्मि विमलमणहरमोत्तियदुसुरुल्लय पिणद्ध से ।
कुङ्कुमकयराएसु य सवणेसुं रयणचक्कलयाओ ॥
उज्जोइयं च घणिय तिस्सा वयणं मियङ्कलेहाए ।
धवलकुडिलाए पवरं पओसलच्छीए व सुहाए ॥
घणकसिणकुडिलमणहरसिरोरुहुग्घायकलियसोहिल्ले ।
विमलं चूडारयणं निमियं से उत्तिमङ्गम्मि ॥
पढम दीसिहिइ इमा मोत्तूण ममं ति रयणछायाए ।
पडिवन्नमच्छराए व्व ओत्थयं तीए सव्वङ्गं ॥

एवं च जाव कुसुमावली पसाहिज्जइ, ताव

कालेयमिश्रचन्दनरसेन निर्मार्जितं च मुखकमलम् ।
दयित इव सानुराग कृतश्च तस्याः समदनोऽधर. ॥
नवशरत्कालविकसितकुवलयदलकान्तिरागशोभावत् ।
कृतमुज्ज्वलमपि कज्जलरञ्जितं लोचनयोर्युगम् ॥
मधुमासलक्ष्मीरिवोन्मिलितस्तस्या मुखे वरतिलक ।
उपरिरचितालकावल्यलिकुलवलयैः परिचरितः ॥
अथ कलशब्दाकृष्टस्वभवनवापीरत्तराजहंसे ।
चरणयो पिनद्धे मनोहरमणिनूपुरे तस्या ॥
नखशशिमयूखसवलितरत्नसंजनितद्विगुणशोभाभिः ।
प्रतिपन्ना मणिवेष्टिकाभि. (मणियुक्ताङ्गुलीयकैः)तथाऽङ्गुल्य इति ॥
बद्ध च दयितहृदयमिव तया विकटे नितम्बबिम्बे ।
सुरतोत्सववरतूर्यं निर्मलमणिमेखलादाम ॥
बाहुलतामूलयो रचिता जनमनश्चोरास्तु ।
बाहुमालाः तस्या मकरध्वजवागुरा इव ॥
बद्धश्च स्तनभरोपरि मनोहरवरपद्मरागदलघटित. ।
प्रवर प्लवङ्गबन्धो नितम्बसंसक्तः तथा च ॥
मुक्ताहार स्तनबद्धसङ्गसंजातकामराग इव ।
कण्ठमवलम्ब्य नीवो तस्या स्प्रष्टुमारब्धः ॥
कण्ठे विमलमनोहरमौक्तिकदुसुरुल्लक पिनद्धं तस्याः ।
कुङ्कुमकृतरागयोः श्रवणयोः रत्नचक्रल्ते ॥
उद्द्योतित च धन्य तस्या वदनं मृगाङ्कलेखया ।
धवलकुटिलया प्रवरं प्रदोषलक्ष्म्या इव शुभया ॥
घनकृष्णकुटिलमनोहरशिरोरुहसमूहकलितशोभावति ।
विमलं चूडारत्नं न्यस्तं तस्या उत्तमाङ्गे ॥
प्रथमं द्रक्ष्यते इयं मुक्त्वा मामिति रत्नच्छायया ।
प्रतिपन्नमत्सरया इव अवस्तृतं तया, सर्वाङ्गम् ॥

एवं च यावत् कुसुमावली प्रसाध्यते, तावत्

पसाहणनिउणवारविलयाहिं पसाहियम्मि सीहकुमारे निवेइयं राइणो पुरिसदत्तस्स गहियसंकुच्छाएहिं मुणियजोइससत्थसारेहिं जोइसिएहिं 'आसन्नं पसत्थ हत्थग्गहणमुहुत्त' ति । तओ य सीहकुमारो नरवइसमाणत्तपरियणपवत्तिओ वज्जन्तमङ्गलतूररवावूरियसयलदिसामण्डलो पवणपणच्चन्तधयवडुग्घायसुन्दररहवरारूढरायलोयपरियरिओ मणहरनट्टोवयारकुसलावरोहसुन्दरीवन्द्रेणऽच्चन्तरुद्धरायमग्गो धवलपसाहियकरिवरारूढो मियङ्कसेणामरसेणकुमारपरियरिओ महुसरयसंगओ व्व कुसुमाउहो साहिलासमवलोइज्जमाणो पासायमालातलगयाहिं पुरसुन्दरीहिं पत्तो सलील विवाहमण्डव ति । धरिओ य तस्स दारे विसेसुज्जलनेवच्छेण गहियग्घसक्कारेणं अम्मयाजणेणं मग्गिओ 'आयारिमय' ति । तओ हरिसवसुप्फुल्ललोयणो जाइयब्भहियं दाऊण ओइण्णो करिवराओ । भग्गा य से रयणकञ्चीसणाहेण सोवण्णमुसलेण भिउडि त्ति । तओ मण्डवतलम्मि जणनिवह निरुम्भिय नीओ समागयसुन्दरीहिं वरो ।

चिट्ठइ य जत्थ सियवरदुगुल्लपच्छाइयाणणा वहुया ।
सरयब्भचन्दमण्डलसछाइयकोमुइनिसि व्व ॥
काराविओ सलीलं अविरुब्भन्ताइ कोउयाइ च ।
ता जाइओ मुहच्छविफेडावणिय च सहियाहिं ॥

तओ ईसि विहसिऊण 'ममं चेव एयं सकज्ज' ति भणिय दिन्नमायारिमयं । फेडिया मुहच्छवी । दिट्ठा य तेण असोयपल्लवकयावयसा ईसिवियसन्तवयणकमला सज्झसहरिसनिब्भरा मणोहरस्स वि मणहारिणं किंपि तहाविह दिव्वं विलासविब्भममणुहवन्ति कुसुमावलि त्ति ।

पाणिग्गहणं च तओ पारद्धं गीयमङ्गलुग्घायं ।
वन्धवहिययाणन्दं अन्नोन्नवद्धरायाणं ॥
हत्था पढमं चियकालवित्थरं विसहिउ अचाएन्ता ।
तीए वरस्स य घडिया निम्मलनहयन्दकिरणेहिं ॥

प्रसाधननिपुणवारवनिताभिः प्रसाधिते सिंहकुमारे निवेदित राज्ञः पुरुष-दत्तस्य गृहीतशङ्कुच्छायैः ज्ञातज्योतिःशास्त्रसारैः, ज्योतिषिकैः 'आसन्न प्रशस्तं हस्तग्रहणमुहूर्तम्' इति । ततश्च सिंहकुमारो नरपतिसमाज्ञप्तपरि-जनप्रवर्तितो वाद्यमानमङ्गलतूर्यरवापूरितसकलदिग्मण्डलः पवनप्रनृत्यमान-ध्वजपटसमूहसुन्दररथवरारूढराजलोकपरिचरितो मनोहरनाट्योपचारकुश-लावरोधसुन्दरीवृन्देन अत्यन्तरुद्धराजमार्गो धवलप्रसाधितकरिवरारूढो मृगाङ्कसेनाऽमरसेनकुमारपरिचरितो मधु-शरत्सगत इव कुसुमायुधः साभि-लाषमवलोक्यमानः प्रासादमालातलगताभिः पुरसुन्दरीभिः प्राप्तो सलीलं विवाहमण्डपमिति । धृतश्च तस्य द्वारे विशेषोज्ज्वलनेपथ्येन गृहीतार्घस-त्कारेणाम्बाजनेन मार्गितः 'आचारिमकम्' इति । ततो हर्षवशोत्फुल्ललो-चनो याचिताभ्यधिक दत्त्वा अवतीर्णः करिवरात् । भग्ना च तस्य रत्न-काञ्चीसनाथेन सौवर्णमुशलेन भृकुटिरिति । ततो मण्डपतले जननिवह निरुध्य नीतः समागतसुन्दरीभिर्वरः ।

तिष्ठति च यत्र सितवरदुकूलप्रच्छादितानना वधुका ।
शरदभ्रसच्छादितचन्द्रमण्डलकौमुदी निशेव ॥
कारितः सलीलमवरुध्यमानानि कौतुकानि च ।
ततो याचितो मुखच्छविस्फेटनिका च सखीभिः ॥

तत ईषद् विहस्य 'ममैवैतत्स्वकार्यम्' इति भणित्वा दत्तमाच-रिमकम् । स्फेटिता मुखच्छवि । दृष्टा च तेनाशोकपल्लवकृतावतंसा ईषद्विकसद्वदनकमला साध्वसहर्षनिर्भरा मनोहरस्यापि मनोहारिण किमपि तथाविध दिव्यं विलासविभ्रममनुभवन्ती कुसुमावलीति ।

पाणिग्रहणं च ततः प्रारब्धं गीतमङ्गलसमूहम् ।
बान्धवहृदयानन्दमन्योन्यबद्धरागयोः ॥
हस्तौ प्रथममेव कालविस्तरं विसोढुमशक्नुवन्तौ ।
तस्या वरस्य च घटितौ निर्मलनखचन्द्रकिरणैः ॥

घेत्तूण तेण पढमं मउए हिययम्मि साणुरायम्मि ।
गहिया तओ करम्मि य पवियम्भियसेयसलिलम्मि ॥
घेत्तूण य तेण करे मणहरकच्छन्तराउ आणीया ।
पवरमहचाउरन्तं तियसवहू सुरविमाणं व ॥
कणयमउज्जलवरपउमरायपज्जत्तदण्डियारइयं ।
रइयदुगुल्लवियाणयपरिलम्बियमोत्तिओऊल ॥
ओऊललग्गमरगयमऊहहरियायमाणसियचमरं ।
सियचमरदण्डचामीयरप्पहापिञ्जरद्दाय ॥
अद्दायगयविरायन्तरम्मवरपक्खसुन्दरीवयणं ।
वरपक्खसुन्दरीवयणजणियबहुपक्खपरिओसं ॥
परिओसपयडरोमञ्चवन्दिसंघायकलियपेरन्त ।
पेरन्तविरइयामलविचित्तमणितारयानिवहं ॥
तारयनिवहपसाहियतोरणमुहनिमियसुद्धससिलेहं ।
ससिलेहाविज्जोइयवित्थरसियमण्डवनह तु ॥
अवलग्गो य सहरिसं मणिभूसणकिरणभासुरसरीरो ।
उदयगिरिं पिव सो चाउरन्तय दियसनाहो व्व ॥
कुसुमावलीए रायन्तविमलसियवरदुगुल्लवसणाए ।
पवियसियवयणकमलाए दिवसलच्छीए व समेओ ॥
वहुयाए तत्थ वूमेण वरमुह पेच्छसु त्ति व भणन्ता ।
वाहत्थेवा ओणयमुहीए पाएसु से पडिया ॥

एत्थन्तरम्मि य पारद्धो जणाणमुवयारो । दिज्जन्ति महमहेन्तगन्धाइं विलेवणाइं, रुण्टन्तमहुयरसणाहाइं कुसुमदामाइं अइसुरहिगन्धगन्धिणो पडवासा, कप्पूरवीडयपहाणाइं तम्बोलाइं, दुगुल्ल-देवङ्गपट्ट-चीण-द्धचीणाइं पवरवत्थाइं, केऊर-हार-कुण्डल-तुडियप्पमुहा आहरणविसेसा, तुरक्क-वल्हीय-कम्बोय-वज्जराइआसकलियाइं घोडयवन्द्राइं, भद्द-मन्दवंसप्पमुहा य गयविसेसा ॥

गृहीत्वा तेन प्रथम मृदुनि हृदये सानुरागे ।
गृहीता ततः करे च प्रविजृम्भितस्वेदसलिले ॥
गृहीत्वा च तेन करे मनोहरकक्षान्तरादानीता ।
प्रवरमहच्चातुरन्तं त्रिदशवधूः सुरविमानमिव ॥
कनकमयोज्ज्वलवरपद्मरागपर्याप्तदण्डिकारचितम् ।
रचितदुकूलवितानकपरिलम्बितमौक्तिकावचूडम् ॥
अवचूडलग्नमरकतमयूखहरितायमानसितचामरम् ।
सितचामरदण्डचामीकरप्रभापिञ्जरादर्शम् ॥
आदर्शागतविराजद्रम्यवरपक्षसुन्दरीवदनम् ।
वरपक्षसुन्दरीवदनजनितवधूपक्षपरितोषम् ॥
परितोषप्रकटरोमाञ्चवन्दिसंघातकलितपर्यन्तम् ।
पर्यन्तविरचितामलविचित्रमणितारकानिवहम् ॥
तारकानिवहप्रसाधिततोरणमुखन्यस्तशुद्धशशिलेखम् ।
शशिलेखाविद्योतितविस्तारसितमण्डपनभस्तु ॥
अवलग्नश्च सहर्षं मणिभूषणकिरणभासुरशरीरः ।
उदयगिरिमिव स चातुरन्तं दिवसनाथ इव ॥
कुसुमावल्या राजमानविमलसितवरदुकूलवसनया ।
प्रविकसितवदनकमलया दिवसलक्ष्म्येव समेतः ॥
वव्वास्तत्र धूमेन वरमुख प्रेक्षस्वेतीव भणन्तः ।
बाष्पबिन्दवोऽवनतमुख्याः पादयोस्तस्याः पतिताः ॥

अत्रान्तरे च प्रारब्धो जनानामुपचारः । दीयन्ते च प्रसरद्गन्धानि विलेपनानि, रवन्मधुकरसनाथानि कुसुमदामानि, अतिसुरभिगन्धगन्धीनि पट्टवासांसि, कर्पूरवीटकप्रधानानि ताम्बूलानि, दुकूल-देवाङ्गपट्ट-चीनार्द्धचीनानि प्रवरवस्त्राणि केयूर-हार-कुण्डल-त्रुटितप्रमुखा आभरणविशेषाः, तुरुष्क-वाल्हीक-काम्बोज-वज्जराद्यश्वकलितानि घोटकवृन्दानि, भद्र-मन्दवंशप्रमुखाश्च गजविशेषाः ॥

एत्थन्तरम्मि जलणे घय-महु-लायाहि अह हुणिज्जन्ते ।
पारद्धं च वहु-वर भमिउं तो मण्डलाइ तु ॥
पढमम्मि वहूपिउणा दिन्नं हिट्ठेण मण्डलवरम्मि ।
भाराण सयसहस्स अघडियरूव सुवण्णस्स ॥
बीयम्मि हार-कुण्डल-कडिसुत्तयतुडियसारमाहरणं ।
तइयम्मि थाल-कच्चोलमाइय रुप्पभण्ड तु ॥
दिन्नं च चउत्थम्मि वहूए परिओसपयडपुलएण ।
पिउणा सुट्ठु महग्घ चेल नाणापयार ति ॥

पुरिसदत्तेण वि य रन्ना सविहवाणुरूवो अच्चन्तपसायमहग्घो कओ जणाणमुवयारो, दिन्न च विमलमणि-रयण-मुत्ताहलसणाह वहु-याए अणग्घेयमाहरण ॥

एवं वित्ते विवाहमहूसवे कालक्कमेण पवड्ढमाणाणुरायं सयल-जणसलाहणिज्ज विसयसुहमणुहवन्ताण अइक्कन्ता अणेगे वरिसलक्खा । अन्नया य आसपरिवाहणनिमित्तं गएण कुमारसीहेण दिट्ठो नागदेवुज्जाणे वहुफासुए पएसे अणेयसमणपरिवारिओ खमा-मद्दव-ज्जव-मुत्ति-तव-सजम-सच्च-सोया-किञ्चण-वम्भचेरगुणनिही पढमजोव्वणत्थो रूवाइगुण-जुत्तो संपुण्णदुवालसङ्गी ससिस्साण सुत्तस्स अत्थ कहेमाणो धम्मघोसो नाम आयरिओ त्ति । तओ त दट्ठूण त पइ अईव वहुमाणो जाओ । चिन्तियं च णेण । धन्नो खु एसो, जो ससारविरत्तभावो सयलसङ्गचाई परमपरोवयारनिरओ एवं वट्टइ त्ति । ता गन्तूण एयस्स समीव पुच्छामि एयं—किं पुण इमस्स मणोहवललियसमयवत्तिणो निव्वेयकारण जहट्ठियं च दुक्खसकुलं च संसार ति । तओ दूराओ चेव ओयरिऊण जच्चवो-ल्लाहकिसोराओ गओ तस्स समीव । पणमिओ य धम्मघोसो । अहि-णन्दिओ य भगवया धम्मलाहेण । तओ वन्दिऊण सेससाहुणो भत्ति-निब्भरमुवविट्ठो सहावसुन्दरे गुरुणो पायमूले । निव्वडियसवेगसारं पुच्छिओ य णेण भयव धम्मघोसो । भयव ! किं ते सयलगुणसंपयाकुलहरस्स वि ईइसो निव्वेओ, जेण इमं अयाले चेव समणत्तण पडिवन्नो सि ? ।

अत्रान्तरे ज्वलने घृत-मधु-लाजाभिरथ हवनीये ।
प्रारब्ध च वधू-वर भ्रमितु ततो मण्डलानि तु ॥
प्रथमे वधूपित्रा दत्त हृष्टेन मण्डलवरे ।
भाराणां शतसहस्रमघटितरूप सुवर्णस्य ॥
द्वितीये हार-कुण्डल कटिसूत्रक-त्रुटितसारमाभरणम् ।
तृतीये स्थाल-कच्चोलादिकं रौप्यभाण्ड तु ॥
दत्त च चतुर्थे वध्वाः परितोषप्रकटपुलकेन ।
पित्रा सुष्ठु महार्घं चेलं नानाप्रकारमिति ॥

पुरुषदत्तेनापि च राज्ञा स्वविभवानुरूपोऽत्यन्तप्रसादमहार्घ कृतो जनानामुपचार, दत्त च विमलमणि-रत्न-मुक्ताफलसनाथ वध्वै अनर्घ्यमाभरणम् ॥

एवं वृत्ते विवाहमहोत्सवे कालक्रमेण प्रवर्धमानानुराग सकलजनश्लाघनीय विषयसुखमनुभवतोरतिक्रान्ता अनेके वर्षलक्षाः । अन्यदा चाश्वपरिवाहननिमित्त गतेन कुमारसिंहेन दृष्टो नागदेवोद्याने बहुप्रासुके प्रदेशेऽनेकश्रमणपरिवारितः क्षमा-मार्दवा-ऽऽर्जव-मुक्ति-तप-सयम-सत्य-शौचा-ऽऽकिञ्चन्य-ब्रह्मचर्यगुणनिधि प्रथमयौवनस्थो रूपादिगुणयुक्त संपूर्णद्वादशाङ्गी स्वशिष्येभ्य सूत्रस्यार्थं कथयन् धर्मघोषो नामाचार्य इति । ततस्तं दृष्ट्वा त प्रति अतीव बहुमानो जात । चिन्तित तेन-धन्यः खल्वेषः, यः ससारविरक्तभाव सकलसङ्गत्यागी परमपरोपकारनिरत एवं वर्तते इति । तस्माद् गत्वा एतस्य समीप पृच्छामि एतत् किं पुनरस्य मनोभवललितसमय वर्तिनो निर्वेदकारण यथास्थित च दुःखसकुल च संसारमिति । ततो दूरादेव अवतीर्य जात्यवोल्लाहकिशोराद् गत. तस्य समीपम् । प्रणतश्च धर्मघोषः । अभिनन्दितश्च भगवता धर्मलाभेन । ततो वन्दित्वा शेषसाधून् भक्तिनिर्भरमुपविष्ट स्वभावसुन्दरे गुरो पादमूले । निर्वर्तितसवेगसारं पृष्टश्च तेन भगवान् धर्मघोष । भगवन् ! किं ते सकलगुणसपत्कुलगृहस्यापि ईदृशो निर्वेद., येनेदमकाले एव श्रमणत्वं प्रतिपन्नोऽसि ? ।

तओ भयवया भणियं—भो महासावय ! नत्थि इदाणिमगालो सामण्णस्स । किं न पहवइ अयाले निज्जियसुरासुरो सयलमणोरहसेलवज्जासणी पियजणविओएक्कपरमहेऊ विवुहजणसवेगड्ढणो मच्चु त्ति । अन्नं च—महासावय ! सोहणभावाओ चरमकाले वि जइ सेविज्जइ धम्मो, सो च्चिय पडम किमजुत्तो ?। राइणा भणियं—भयव ! नो अजुत्तो, किं तु नानिमित्तो निव्वेओ त्ति निव्वेयकारणं पुच्छामि । भयवया भणिय-संसारो चेव निव्वेयकारण, तहवि पुणो विसेसओ ओहिनाणिनियचरिय-कहण ति । राइणा भणियं—भयव ! केरिस ओहिनाणिनीयचरियकहणं ति ?। भयवया भणियं । सुण —

अत्थि इहेव विजए रायउरं नाम नयरं । तन्निवासी अहं भवसरूवओ चेव तव्विरत्तमणो चिट्ठामि जाव, आगओ अणेयसमणसामी थेवदियहुप्पन्नोहिनाणोवलद्धपुण्णपावो अमरगुत्तो नाम आयरिओ त्ति । जाओ य लोए लोयवाओ 'अहो अयं महातवस्सी खीणासवदारो समुप्पन्नओहिनाणनयणो जहट्ठियधम्मदेसणालद्धिसपन्नो' त्ति । तओ तन्नयरसामी अरिमद्दणो नाम राया, अन्नो य नयरजणवओ निग्गओ तस्स दंसणवडियाए, सपत्तो से पायमूलं । वन्दिओ भयवं नरवइणा नयरजणवएण य । अहिणन्दिओ य धम्मलाहेण भयवया नरवई नयरजणवओ य । उवविट्ठो य गुरुवयणावहुमाणमहग्घो अहाफासुए धरणिवट्ठे राया नयरजणवओ य । पुच्छिओ य भयवं अहाविहार राइणा । अणुसासिओ य तेण । राइणा भणिय—भयव ! सपन्न ते भूयभविस्सवत्तमाणत्थगाहगं ओहिनाण । ता करेहि मे अनुग्गह । आइक्ख निययचरिय, कया कह वा भयवया सपत्तं सासयसिवसोक्खपायवेक्कवीयं सम्मत्त, देसविरई वा, इह अन्नभवेसु वा सामण्ण त्ति । भयवया भणियं सुण—

अत्थि इहेव विजए चम्पावासं नाम नयरं । तत्थाईयसमयम्मि सुधणू नाम गाहावई होत्था, तस्स घरिणी धणसिरी नाम, ताण य सोमाभिहाणा अहं सुया आसि । सपत्तजोव्वणा य दिन्ना तन्नयरनिवासिणो नन्दसत्थवाहपुत्तस्स रुद्ददेवस्स । कओ य णेण विवाहो ।

ततो भगवता भणितम्—भो महाश्रावक ! नास्ति इदानीमकालः श्रामण्यस्य । किं न प्रभवति अकाले निर्जितसुरासुरः सकलमनोरथशैलवज्राशनिः प्रियजनवियोगैकपरमहेतुर्विबुधजनसंवेगवर्धनो मृत्युरिति । अन्यच्च-महाश्रावक ! शोभनभावात् चरमकालेऽपि यदि सेव्यते धर्मः, स एव प्रथमं किमयुक्त ?। राज्ञा भणित-भगवन् ! नायुक्तः, किंतु नाऽनिमित्तो निर्वेद इति निर्वेदकारणं पृच्छामि । भगवता भणितम्-संसार एव निर्वेदकारणम्, तथाऽपि पुनर्विशेषत अवधिज्ञानिनिजचरित्रकथनमिति । राज्ञा भणितम्—भगवन् ! कीदृशमवधिज्ञानिनिजचरित्रकथनम् ? । भगवता भणितम् । शृणु—

अस्ति इहैव विजये राजपुरं नाम नगरम् । तन्निवास्यहं भवस्वरूपत एव तद्विरक्तमनाः तिष्ठामि यावत्, आगतोऽनेकश्रमणस्वामी स्तोकदिवसोत्पन्नावधिज्ञानोपलब्धपुण्यपापः अमरगुप्तो नाम आचार्य इति । जातश्च लोके लोकवादः 'अहो अयं महातपस्वी क्षीणास्रवद्वारः समुत्पन्नावधिज्ञाननयनो यथास्थितधर्मदेशनालब्धिसंपन्न.' इति । ततस्तन्नगरस्वामी अरिमर्दनो नाम राजा, अन्यश्च नगरजनपदो निर्गत तस्य दर्शनवृत्तितया, संप्राप्तस्तस्य पादमूलम् । वन्दितो भगवान् नरपतिना नगरजनपदेन च । अभिनन्दितश्च धर्मलाभेन भगवता नरपति, नगरजनपदश्च । उपविष्टश्च गुरुवचनबहुमानमहार्घो यथाप्रासुके धरणीपृष्ठे राजा नगरजनपदश्च । पृष्टश्च भगवान् यथा विहार राज्ञा । अनुशिष्टश्च तेन । राज्ञा भणितम्—भगवन् ! संपन्न ते भूतभविष्यद्वर्तमानार्थग्राहकमवधिज्ञानम् । ततः कुरु मे अनुग्रहम् । आचक्ष्व निजकचरितम्, कदा कथं वा भगवता संप्राप्तं शाश्वतशिवसौख्यपादपैकबीजं सम्यक्त्वम्, देशविरतिर्वा, इहान्यभवेषु वा श्रामण्यम्-इति ?। भगवता भणितम् । शृणु—

अस्ति इहैव विजये चम्पावासं नाम नगरम् । तत्रातीतसमये सुधन्वा नाम गाथापतिरासीत्, गस्य गृहिणी धनश्रीर्नाम, तयोश्च सोमाभिधानाऽहं सुताऽऽसम् । संप्राप्तयौवना च दत्ता तन्नगरनिवासिने नन्दसार्थवाहपुत्राय रुद्रदेवाय । कृतश्च तेन विवाह. ।

जहाणुरूवं विसयसुहमणुहवामो त्ति । जाव तत्थ अहाकप्पविहारेण विहं-रमाणा विविहतवखवियदेहा सुयरयणपसाहिया रूवि व्व सासणदेवया समागया वालचन्दा नाम गणिणि त्ति । दिट्ठा य सा मए ससुरकुलाओ माइकुलमहिगच्छन्तीए विहारनिग्गमपएसे । त च मे दट्ठूण समुप्पन्नो पमोओ, वियसिय लोयणेहिं, पयट्टं पावेण, उससियमङ्गेहिं, त्रियम्भियं धम्मचित्तेण । तओ मए नाइदूरओ चेव विणयग्गइयकरयलञ्जलीए सव-हुमाणमभिवन्दिया भयवई । तीए वि य दिन्नो सयलसुहसस्सबोयभूओ धम्मलाभो त्ति । जायाओ य मे त पइ अईव भत्तिपोईओ । पुच्छिओ य मए भयवईए पडिस्सओ, साहिओ साहुणीहिं । तओ अह जहोचिएण विहिणा पज्जुवासिउं पवत्ता । साहिओ मे भयवईए कम्मवणदावाणलो दुक्खसेलवज्जासणी सिवसुहफलकप्पपायवो वीयरागदेसिओ धम्मो । तओ कम्मक्खओवसमभावओ पत्त सम्मत्त, भाविओ जिणदेसिओ धम्मो, विरत्त च मे भवचारयाओ चित्त । तओ य सो रुद्ददेवो कम्मदोसेण पओस काउमारद्धो । भणिय च तेण । परिच्चय एय विसयसुहविग्घकारिण धम्मं । तओ मए भणियं । अल विसयसुहेहिं । अइचञ्चला जीवलोय-ठिई, दारुणो य विवाओ विसयपमायस्स । तेण भणिय–वियारिया तुम, मा दिट्ठं परिच्चइय अदिट्ठे रइ करेहि । मए भणिय–किमेत्थ दिट्ठं नाम ? पसुगणसाहारणा इमे विसया, पच्चक्खोवलब्भमाणसुहफलो य कह अदिट्ठो धम्मो त्ति ?। तओ सो एवमहिलप्पमाणो अहिययर पओसमा-वन्नो । परिच्चत्तो य तेण मए सह सभोगो । वरिया य नागदेवाभिहा-णस्स सत्थवाहस्स धूया नागसिरी नाम कन्नगा, न सपाइया तायबहुमा-णेण नागदेवसत्थवाहेण । रुद्ददेवेण चिन्तियं । न एयाए जीवमाणीए अह दारियं लहामि, ता वावाएमि एयं । तओ मायाचरिएण कहिंचि घडगयमासीविस काऊण सठविओ एगदेसे घडओ । अइक्कन्ते पओसस-मए, सपत्ते य कामिणिजणसमागमकाले भणिया हं तेण । उवणेहि मे इमाओ नवघडाओ कुसुममाल ति । तओ अह तस्स मायाचरियमणव-बुज्झमाणा गया घडसमीव । अवणीयं तस्स दुवारढक्कण वरणिमाउ-लिङ्गं । तओ हत्थं छोढूण गहिओ भुयङ्गो । डक्का अह तेण ।

यथाऽनुरूपं विषयसुखमनुभवाव इति। यावत् तत्र यथाकल्पविहारेण विहरन्तो विविधतप क्षपितदेहा श्रुतरत्नप्रसाधिता रूपिणीव शासनदेवता समागता बालचन्द्रा नाम गणिनीति। दृष्टा च सा मया श्वसुरकुलाद् मातृकुलमभिगच्छन्त्या विहारनिर्गमप्रदेशे। ता च मम दृष्ट्वा समुत्पन्न प्रमोद, विकसित लोचनाभ्याम्; प्रनष्ट पापेन, उच्छ्‌वसितमङ्गैं, विजृम्भित धर्मचित्तेन। ततो मया नातिदूरत एव विनयरचितकरतलाञ्जल्या सबहुमानमभिवन्दिता भगवती। तयाऽपि च दत्तः सकलसुखसस्य–बीजभूतो धर्मलाभ इति। जाताश्च मे तां प्रति अतीवभक्तिप्रीतय:। पृष्टश्च मया भगवत्याः प्रतिश्रय.। भणित साध्वीभिः। ततोऽह यथोचितेन विधिना पर्युपासितु प्रवृत्ता। भणितश्च मह्य भगवत्या कर्मवनदावानलो दु.खशैलवज्राशनि शिवसुखफलकल्पपादपो वीतरागदेशितो धर्म। तत. कर्मक्षयोपशमभावतः प्राप्त सम्यक्त्वम्, भावितो जिनदेशितो धर्म', विरक्त च मे भवचारकात् चित्तम्। ततश्च स रुद्रदेवः कर्मदोषेण प्रद्वेष कर्तुमारब्धः। भणित च तेन–परित्यज एत विषयसुखविघ्नकारिण धर्मम्। ततो मया भणितम्–अल विषयसुखै, अतिचञ्चला जीवलोकस्थितिः, दारुणश्च विपाको विषयप्रमादस्य। तेन भणितम्–वितारिता त्वम्, मा दृष्ट परित्यज्य अदृष्टे रतिमकार्षी। मया भणितम्–किमत्र दृष्ट नाम? पशुगणसाधारणा इमे विषया, प्रत्यक्षोपलभ्यमानसुखफलश्च कथमदृष्टो धर्मः इति?। तत' स एवमभिलप्यमानोऽधिकतर प्रद्वेषमापन्नः। परित्यक्तश्च तेन मया सह संभोगः। वृता च न.गदेवाभिधानस्य सार्थवाहस्य दुहिता नागश्रीर्नाम कन्यका, न सपादिता तातबहुमानेन नागदेवसार्थवाहेन। रुद्रदेवेन चिन्तितम्–न एतस्यां जीवन्त्यामह दारिकां लभे। ततो व्यापादयामि एताम्। ततो मायाचरितेन कथचिद् घटगतमाशीविषं कृत्वा संस्थापित्त एकदेशे घटक'। अतिक्रान्ते च प्रदोषसमये संप्राप्ते च कामिनीजनसमागमकाले भणिताऽहं तेन। उपनय मामस्माद् नवघटात् कुसुममालामिति। ततोऽहं,तस्य मायाचरितमनवबुध्यमाना गता घटसमीपम्। अपनीत तस्य द्वारच्छादन घर–णीमातुलिङ्गम्। ततो हस्तं क्षिप्त्वा गृहीतो भुजङ्ग.। दष्टाऽह तेन।

तओ तं ससंभमं उज्झिऊण सज्झसभयवेविरङ्गी समल्लीणा तस्स समीवं। 'डक्का भुयङ्गमेण' त्ति सिट्ठं रुद्ददेववस्स। नियडोपहाणओ य आउलीहूओ रुद्ददेवो। पारद्धो तेण निरत्थओ चेव कोलाहलो। एत्थन्तरम्मि य सीइय मे अङ्गेहिं, वियलियं सन्धीहिं, उव्वत्तिय पिव हियएण, भमियं पिव पासयन्तरेण, परिवत्तिय पिव पुहवीए, अवसा अहं निवडिया धरणिवट्ठे। अओ परमणाचिक्खणीयमवत्थन्तरं पाविऊण पुव्वसम्मत्ताणुभावओ चइऊण देहं सोहम्मे कप्पे लीलावयंसए वरविमाणे पलिओवमट्ठिई देवत्ताए उववन्नो म्हि। तत्थ य पवरच्छरापरिगओ दिव्वे भोए उवभुञ्जामि जाव, रुद्ददेवो वि तं नागदत्तसत्थवाहधूयं परिणीय तीए सद्धिं जहाणुरूवे भोए उवभुञ्जिऊण कालमासे कालं काऊण रयणप्पभाए पुढवीए खट्टक्खडाभिहाणे नरए पलिओवमाऊ चेव नारगो उववन्नो त्ति। तओ अहं अहाउयं अणुपालिऊण चुओ समाणो इहेव विजए सुंसुमारे रण्णे सुंसुमारागिरिम्मि हत्थित्ताए उववन्नो, सपत्तो य कलभगावत्थं। एत्थन्तरम्मि य इयरो वि नरयाओ उव्वट्टिऊण तम्मि चेव गिरिवरे सुगपक्खित्ताए उववन्नो त्ति। अइक्कन्तो य सिसुभावं, दिट्ठोय अहं तेण तम्मि चेव गिरिवरे सहावरमणीएसु नलवणेसु करेणुसंघायपरिगओ सलीलं परिभमन्तो त्ति। तओ मं दट्ठूण पुव्वभवब्भासाओ उक्कडकम्मोदयाओ य समुप्पन्नो ममोवरिं वेरपरिणामो। चिन्तियं च तेण-कहं पुण एस कुञ्जरो इमाओ भोगसुहाओ वञ्चियव्वो त्ति। उवाए गवेसिउमारद्धो। अन्नया लीलारई नाम विज्जाहरो, सो मियङ्कसेणस्स विज्जाहरस्स भइणिं चन्दलेहाभिहाणिं अवहरिऊण तब्भएणेवागओ तमुद्देसं। भणिओ य तेण सो सुगो-अहं एत्थ गिरिनिगुञ्जे चिट्ठामि; आगमिस्सइ य एत्थ एगो विज्जाहरो, तओ न तुमए तस्स अहं साहियव्वो गओ य सो ममं साहियव्वो, तओ ते किंचि पडिरूवमुवयारं करिस्सामि, एवं कए सुट्ठु मे उवकयं ति जंपिऊणमोइण्णो वियडतडाभोगसंठियं गिरिनिगुञ्जं। इयरो वि तम्मि चेवुद्देसे नारङ्गपायवसाहागए नीडे चिट्ठइ, जाव आगन्तूण गओ मियङ्कसेणो। एत्थन्तरम्मि य करेणुपरिगओ अहं आगओ तमुद्देसं। तओ मं दट्ठूण चिन्तियं सुगेण-अत्थि इयाणिं अवसरो मे

ततस्त ससभ्रममुज्झित्वा साध्वसभयवेपमानाङ्गी समालीना तस्य समीपम् । 'दष्टा भुजङ्गमेन' इति शिष्ट रुद्रदेवस्य । निकृतिप्रधानकश्च आकुलीभूतो रुद्रदेव । प्रारब्धस्तेन निरर्थक एव कोलाहल. । अत्रान्तरे च सन्न मेऽङ्गै, विचलित सन्धिभि, उद्वर्तितमिव हृदयेन, भ्रान्तमिव प्रासादान्तरेण, परिवर्तितमिव पृथिव्या, अवशाऽह निपतिता धरणीपृष्ठे। अत परमना-ख्येयमवस्थान्तर प्राप्य पूर्वसम्यक्त्वानुभावतस्त्यक्त्वा देह सौधर्मे कल्पे लीलावतसके वरविमाने पल्योपमस्थितिर्देवत्वेन उपपन्नोऽस्मि । तत्र च प्रवराप्सर.परिगतो दिव्यान् भोगानुपभुञ्जे यावद्, रुद्रदेवोऽपि तां नाग-दत्तसार्थवाहदुहितर परिणीय तया सार्द्धं यथानुरूपान् भोगानुपभुज्य काल-मासे काल कृत्वा रत्नप्रभाया पृथिव्यां खट्टक्खडाभिधाने नरके पल्योपमा-युरेव नारक उपपन्न इति । ततोऽह यथायुष्कमनुपाल्य च्युत सन् इहैव विजये सुसमारे अरण्ये सुसमारगिरौ हस्तित्वेनोपपन्नः, सम्प्राप्तश्च कलभ-कावस्थाम् । अत्रान्तरे च इतरोऽपि नरकादुद्‌वृत्त्य तस्मिन्नेव गिरिवरे शुकपक्षित्वेनोपपन्न इति । अतिक्रान्तश्च शिशुभाव दृष्टश्चाह तेन तस्मि-न्नेव गिरिवरे स्वभावरमणीयेषु न(ड)लवनेषु करेणुसघातपरिगत सलील परिभ्रमन्निति । ततो मां दृष्ट्वा पूर्वभवाभ्यासाद् उत्कटकर्मोदयाच्च समु-त्पन्नो ममोपरि वैरपरिणामः । चिन्तित च तेन–कथ पुनरेष कुञ्जरो. ऽस्माद् भोगसुखाद् वञ्चयितव्य इति। उपायान् गवेशयितुमारब्धः। अन्यदा लीलारतिर्नाम विद्याधर, स मृगाङ्कसेनस्य विद्याधरस्य भगिनी चन्द्रले-खाभिधानामपहृत्य तद्भयेनैवागतस्तमुद्देशम् । भणितश्च तेन स शुकः– अहमत्र गिरिनिकुञ्जे तिष्ठामि, आगमिष्यति चात्र एको विद्याधर, ततो न त्वया तस्याह भणितव्य, गतश्च स मम भणितव्य, ततस्ते किञ्चित्प्रतिरूपमुपकार करिष्यामि, एवं कृते सुष्ठु मम उपकृतमिति कथयित्वा अवतीर्णो विकटतटाभोगसस्थित गिरिनिकुञ्जम् । इतरोऽपि तस्मिन् एव उद्देशे नारङ्गपादपशाखागते नीडे तिष्ठति, यावदागत्य गतो मृगाङ्कसेन । अत्रान्तरे च करेणुपरिगतोऽह आगतस्तमुद्देशम् । ततो मा दृष्ट्वा चिन्तित शुकेन–अस्ति इदानीमवसरो मे

समीहियस्स । तओ नियडिवहुलेण सजायाए सहाभिमन्तिऊण मम सव· णगोयरे भणियं—सुन्दरी ! सुयं मए भयवओ वसिट्ठमहरिसिस्स समीवे, जहा इहं सुंसुमारपव्वए सव्वकामियं नाम पडणमत्थि; जो ज अभिलसिऊण पडइ, सो तक्खणेण चेव तं पावइ त्ति । तओ मए पुच्छियं—भयवं ! कहिं पुण तमुद्देसं ? तेण साहियं—जहा इमस्स सालतरुवरस्स वामपासेण ति । ता अलं इमिणा तिरियभावेण, एहि, विज्जाहरपणिहाणं काऊण तहिं निवडामो । पडिस्सुयं च मे इमं जायाए । गयाइं तमुद्देसं, कओ पणिही, निवडियाइं गिरिनिगुञ्जे, साहियं लीलारइणो । समुप्पइओ य सह चन्दलेहाए गयणयलमलंकरेन्तो लीलारई । दिट्ठो य अम्हेहिं । समुप्पन्ना मे चिन्ता—अहो सव्वकामियपडणाणुभावो, जमेयं सुगमिहुणयं कयविज्जाहरपणिहाणमिह निवडिऊण तक्खणा चेव विज्जाहरमिहुणयं जायं । ता अलं अम्हाण पि इमिणा तिरियभावेण । तओ देवपणिहिं काऊण निवडामो एत्थ अम्हे वि त्ति । एवं च सपहारिऊण पणिहिं काऊण निवडिया तत्थ अम्हे । एत्थन्तरम्मि य उप्पइयं सुयमिहुणयं, न लक्खियमम्हेहिं । तओ सचुण्णियङ्गोवङ्गो अहं किलेसमणुहविऊण अकामनिज्जराए कम्मं खविऊण उववन्नो कुसुमसेहराभिहाणे वतरभोम्मनयरे देसूणपलिओवमाऊ वंतरो त्ति । तत्थ य उदारे भोए भुञ्जामि जाव, इयरो वि सुयत्ताए मरिऊण रयणप्पभाए चेव पुढवीए लोहियामुहाभिहाणे नरए समुप्पन्नो देसूणपलिओवमट्ठिई नारगो त्ति । तओ अहं अहाउयमणुपालिऊण चुओ समाणो एत्थ चेव विदेहे अन्नम्मि विजए चक्कवालउरे नयरे अप्पडिहयचक्कस्स सत्थवाहस्स सुमङ्गलाए भारियाए कुच्छिसि पुत्तत्ताए उववन्नो त्ति । जाओ य उचियसमएण, पइट्ठावियं च मे नामं चक्कदेवो, पत्तो य बालभावं । एत्थन्तरम्मि य सो सुयनारगो नरगाओ उव्वट्टिऊण तत्थ चेव नयरे सोमसम्मस्स निवपुरोहियस्स नन्दिवद्धणाभिहाणाए भारियाए कुच्छिसि पुत्तत्ताए उववन्नो त्ति, जाओ य कालक्कमेणं, पइट्टावियं च से नामं जन्नदेवो, पत्तो य कुमारभावं । एत्थन्तरम्मि य जाया मम तेण सह पीई सब्भावओ, तस्स उण कइयवेणं । तओ पुव्वभवब्भत्थकम्मदोसेणं उज्जुयस्स वि अणुरज्जुओ

समीहितस्य । ततो निकृतिबहुलेन स्वजायया सहभिमन्त्र्य मम श्रवणगोचरे भणितम् - सुन्दरि ! श्रुत मया भगवतो वशिष्ठमहर्षे समीपे, यथा इह सुसुमारपर्वते सर्वकामितं नाम पतनमस्ति, यो यदभिलष्य पतति, स तत्क्षणेनैव तत्प्राप्नोति इति । ततो मया पृष्टम्—भगवन् ! क्व पुन स उद्देश ? तेन भणितम्—यथाऽस्य शालतरुवरस्य वामपार्श्वेणेति। ततोऽलं अनेन तिर्यग्भावेन, एहि, विद्याधरप्रणिधान कृत्वा तत्र निपताव: । प्रतिश्रुतं च मे इद जायया । गतौ तमुद्देशम्, कृत प्रणिधि , निपतितौ गिरिनिकुञ्जे भणित लीलारते । समुत्पतितश्च सह चन्द्रलेखया गगनतलमलकुर्वन् लीलारतिः । दृष्टश्चावाभ्याम् । समुत्पन्ना मे चिन्ता—अहो ! सर्वकामितपतनानुभाव:, यदेक शुकमिथुन कृतविद्याधरप्रणिधानमिह निपत्य तत्क्षणादेव विद्याधरमिथुनक जातम् । ततोऽलम् आवयोरपि अनेन तिर्यग्भावेन । ततो देवप्रणिधि कृत्वा निपताव अत्र आवामपीति। एव च सप्रधार्य प्रणिधि कृत्वा निपतितौ तत्रावाम् । अत्रान्तरे च उत्पलित शुकमिथुनम्, न लक्षितमावाभ्याम् । तत· सचूर्णिताङ्गोपाङ्गोऽहं क्लेशमनुभूय अकामनिर्जरया कर्म क्षपयित्वा उपपन्न कुसुमशेखराभिधाने व्यन्तरभौमनगरे देशोनपल्योपमायुर्व्यन्तर इति । तत्र चोदारान् भोगान् भुञ्जे यावत्, इतरोऽपि शुकतया मृत्वा रत्नप्रभायामेव पृथिव्या लोहितमुखाभिधाने नरके समुत्पन्नो देशोनपल्योपमस्थितिर्नारक इति । ततोऽहं यथायुष्कमनुपाल्य च्युतः सन् अत्रैव विदेहे अन्यस्मिन् विजये चक्रवालपुरे नगरे अप्रतिहतचक्रस्य सार्थवाहस्य सुमङ्गलाया भार्यायाः कुक्षौ पुत्रतयोपपन्न इति । जातश्च उचितसमयेन, प्रतिष्ठापित च मे नाम चक्रदेवः, प्राप्तश्च बालभावम् । अत्रान्तरे च शुकनारको नरकादुद्वृत्त्य तत्रैव नगरे सोमशर्मणो नृपपुरोहितस्य नन्दिवर्धनाभिधानाया , भार्याया· कुक्षौ पुत्रत्वेनोपपन्न इति, जातश्च कालक्रमेण । प्रतिष्ठापित च तस्य नाम यज्ञदेवः । प्राप्तश्च कुमारभावम् । अत्रान्तरे च जाता मम तेन सह प्रीति. सद्भावतः, तस्य पुनः कैतवेन । तत पूर्वभवाभ्यस्तकर्मदोषेण ऋजुकस्यापि अनृजुको

मम संपयामच्छरी वञ्चणाछलेण छिद्दाइं गवेसिउमारद्धो। अलहमाणेण य परिचिन्तियमणेण-न एसो एवं छलिउं पारियइ, ता एस एत्थ उवाओ। चन्दणसत्थवाहगेहं मुसिऊण एयस्स गेहे रित्थं मुयामि, पच्छा य केणइ उवाएण निवेइऊण राइणो सपयाओ भंसइस्सं ति। अणुचिट्ठियं च णेण जहाचिन्तियं। उवणेऊण य मे गेहे रित्थं भणियमणेण—वयस! एयं पयत्तेण सगोवावेसु त्ति। मए वि य अकालाणयणजायसङ्केण अणिच्छमाणेणावि एयस्स दक्खिण्णबहुलयाए संगोवियं ति। पवत्तो य नयरे जणरवो, जहा मुट्ठं चन्दणसत्थवाहगेहं ति। तओ आसङ्कियं मे हियएण-नूणमेयं एवं भविस्सइ त्ति। गओ जन्नदेवसमीवं, पुच्छिओ य सो मए-कहमेयं ववत्थियं ति। तेण भणियं-मा अन्नहा समत्थेहि। तायभएण मए एयं भवओ समप्पियं, न पुण अन्नह त्ति। तओ अवगया मे सङ्का। एत्थन्तरम्मि य जाणावियं चन्दणसत्थवाहेण राइणो, जहा 'देव! गेहं मे मुट्ठं' ति। 'किमवहरियं' ति पुच्छियं राइणा। निवेइयं चन्दणेण, लिहावियं च राइणा, भणियं च णेण—अरे! आघोसेह डिण्डिमेण, जहा-मुट्ठं चन्दणसत्थवाहगेहं, अवहरियमेयं रित्थजायं। ता जस्स गेहे केणइ ववहारजोएण तं रित्थं रित्थदेसो वा समागओ, सो निवेएउ राइणो चण्डसासणस्स। अणिवेइओवलम्भे य राया सव्वधणा-वहारेण सरीरदण्डेण य नो खमिस्सइ त्ति। तओ पयट्टमाघोसणं। अइ-क्कन्ते य तम्मि गएसु पञ्चसु दिणेसु जाणावियं जन्नदेवेण राइणो। जहा—देव! न जुत्तं चेव मित्तदोसपयासणं, किं तु परलोयइहलोयवि-रुद्धसेविणा अहियायरणेण अत्तणो वि य अमित्तेण अलं मे मित्तेणं। न उवेक्खियव्वं जाणन्तेण रायजणाहियं। अओ ईइसं पि देवस्स निवेई-यइ। राइणा भणियं-भणाउ अज्जो। जन्नदेवेण भणियं- देव! सुण। सुयं मए चक्कदेवासन्नपरियणाओ, जहा इमं चन्दणसत्थवाहगेहं चक्क-देवेण मुट्ठं, संगोवियं रित्थं निययगेहे। एवं सोऊण देवो पमाणं ति। राइणा भणियं-अज्ज! असंभावणिज्जमेयं, कुलप्पसुओ क्खु सो, ता कहं इमं अच्चन्तविरुद्धं करिस्सइ। जन्नदेवेण भणियं—देव! नत्थि अन्नाण-लोभवसगाणमसंभावणिज्जं। को य दोसो कुलस्स, किं न हवन्ति

मम संपन्मत्सरी वञ्चनाच्छलेन छिद्राणि गवेपयितुमारब्ध । अलभमानेन च परिचिन्तितमनेन–न एष एवं छलितुं पार्यते, तत एपोऽत्र उपायः। चन्दनसार्थवाहगृह मुपित्वा एतस्य गृहे रिक्थ मुञ्चामि, पश्चात्केनचिदुपायेन निवेद्य राज्ञः सपद भ्रंशयिष्ये इति । अनुष्ठित च तेन यथाचिन्तितम् । उपनीय च मे गेहे रिक्थ भणितमनेन–वयस्य एतत् प्रयत्नेन संगोपयेति । मयाऽपि च अकालानयनजातशङ्केन अनिच्छताऽपि एतस्य दाक्षिण्यवहुलतया सगोपितमिति । प्रवृत्तश्च नगरे जनरवः, यथा मुष्ट चन्दनसार्थवाहगेहमिति । तत आशङ्कित मे हृदयेन–नूनमेतदेव भविष्यतीति । गतो यज्ञदेवसमीपम्, पृष्टश्च स मया–कथमेतद् व्यवस्थितमिति। तेन भणितम्–मा अन्यथा समर्थय तातभयेन मया एतद् भवतः समर्पितम्, न पुनरन्यथेति । ततोऽपगता मे शङ्का । अत्रान्तरे च ज्ञापितं चन्दनसार्थवाहेन राज्ञः, यथा देव ! गेहं मे मुष्टम्' इति । 'किमपहृतम्' इति पृष्ट राज्ञा । निवेदितम् चन्दनेन, लेखित च राज्ञा । भणितं च तेन – अरे ! अघोषय डिण्डिमेन, यथा–मुष्टं चन्दनसार्थवाहगेहम्, अपहृतमेतद् रिक्थजातम् । ततो यस्य गेहे केनचिद् व्यवहारयोगेन तद् रिक्थ रिक्थदेशो वा समागतः, स निवेदयतु राज्ञश्चण्डशासनस्य । अनिवेदितोपलम्भे च राजा सर्वधनापहारेण शरीरदण्डेन च नो क्षमिष्यते इति । तत प्रवृत्तमाघोषणम् । अतिक्रान्ते च तस्मिन् गतेपु पञ्चसु दिनेपु ज्ञापितं यज्ञदेवेन राज्ञ. । यथा–देव ! न युक्तमेव मित्रदोषप्रकाशनम्, किन्तु परलोकेहलोकविरुद्धसेविना अहिताचरणेन आत्मनोऽपि चामित्रेण अल मे मित्रेण । नोपेक्षितव्य जानता राजजनाऽहितम् । अत ईदृशमपि देवस्य निवेद्यते । राज्ञा भणितम्–भणतु आर्यः । यज्ञदेवेन भणितम्—देव ! शृणु । श्रुत मया चक्रदेवासन्नपरिजनाद्, यथेदं चन्दनसार्थवाहगेह चक्रदेवेन मुष्टम्, सगोपित रिक्थ निजकगेहे । एवं श्रुत्वा देव. प्रमाणमिति । राज्ञा भणितम्–आर्य ! असंभावनीयमेतद्, कुलप्रसूतः खलु स', ततः कथमिदमत्यन्तविरुद्धं करिष्यति । यज्ञदेवेन भणितम्—देव ! नास्ति अज्ञानलोभवशगानामसंभावनीयम् । कश्च दोप' कुलस्य, किं न भवन्ति

सुरभिकुसुमेसु किमिओ । ता निरुवावेहि ताव केणइ पयारेण तस्स गेह ति । तओ 'जुत्तमेय' ति चिन्तिऊण समाणत्त चण्डसासणेण करण । भणिया य कारणियानयरमहन्तगेहिं सह घेतूण चन्दणसत्थवाहभण्डारिय पलोएह चक्कदेवस्स गेहे त पणट्ठ रित्थ ति । तओ 'किमेइणा अस-भावणिज्जेण अहवा आएसगारिणो अम्हे' त्ति मन्तिऊण, मेलविय नयर-महन्तगे घेत्तूण चन्दणसत्थवाहभण्डारिय जाममेत्ते वासरे समागया मे गेह पहाणनयरजणाहिट्ठिया कारणिय त्ति । पुच्छिओ य तेहिं अह-सत्थवाहपुत्त ! न ते किंचि केणइ एवंजाइय रित्थ सववहारवडियाए उवणीय ति । तओ मए असंजायसङ्केण भणिय—'नहि नहि' त्ति । तेहिं भणियं–न तए कुप्पियव्व; रायसासणमिण, ज ते गेहमवलोइयव्व ति । मए भणियं–न एत्थ अवसरो कोवस्स, पयापरिरक्खणनिमित्त समारम्भो देवस्स । तओ पविट्ठा मे गेह सह नयरवुड्ढेहिं रायपुरिसा । अवलोइयं च तेहिं नाणापयारं दविणजायं, दिट्ठं च पयत्तट्ठावियं चन्द-णनामङ्कियं हिरण्णवासण, नीणिय बाहिं, दसिय चन्दणभण्डारियस्स । अवलोइऊण सदुक्खमिव भणिय च तेण–अणुहरइ ताव एय, न उण निस्संसयं वियाणामि त्ति । कारणिएहिं भणिय–वाएहि ताव अवहरिय-निवेयणापत्तग, किं तत्थ इम ईइस अभिलिहिय न व त्ति । वाइय पत्तग, दिट्ठमभिलिहियं सज्झसीभूया नायरकारणिया भणिय च तेहिं–सत्थवाह-पुत्त ! कुओ तुह इम ?। तओ मए वि चिन्तिय–कह सब्भावठाविय मित्तनास पयासेमि । मा नाम तेणावि कहिं चि एसो एव चेव समासा-इओ भवे । ता 'कहं नियपाणवहुमाणओ मित्तपाणे परिच्चयामि' त्ति चिन्तिऊण भणियं मए–'नियग चेव एयं' ति । तेहिं भणियं–कह चन्द-णनामङ्कियं ? मए भणिय–न याणामो, कहिंचि वासणपरावत्तो भवि-स्सइ । तेहिं भणिय–किसखियं किं वा हिरण्णजायमेत्थ ति ? मए भणिय–न सुट्ठु सुमरामि, सइं चेव जोएह । कारणिएहिं भणियं–वाएह पत्तगं, किंदविणजुत्तं किसखियं वा तं चन्दणसत्थवाहवासण ति । वाइय पत्तगं जाव दीणारदविणजुत्त दससहस्ससंखिय च । तओ छोडावियमणेहिं मिलिओ पत्तगत्थो । विम्हिया नागरकारणिया । परिचिन्तिय च

सुरभिकुसुमेपु क्रमय ?। ततो निरुपय तावत्केनचित्प्रकारेण तस्य गेहमिति । ततो 'युक्तमेतद्' इति चिन्तयित्वा समाज्ञप्तं चण्डशासनेन करणम् । भणिताश्च कारणिकाः–नगरमहद्भिः सह गृहीत्वा चन्दनसार्थवाहभाण्डागारिणं प्रलोकयत चक्रदेवस्य गृहे तत्प्रनष्टं रिक्थमिति । ततः किमेतेनासभावनीयेन, अथवा आदेशकारिणो वयम्' इति मन्त्रयित्वा मेलयित्वा नगरमहतो गृहीत्वा चन्दनसार्थवाहभाण्डागारिकं याममात्रे वासरे समागता मम गेहं प्रधाननगरजनाधिष्ठिताः कारणिका इति । पृष्टश्च तैरहम्-सार्थवाहपुत्र ! न ते किञ्चित् केनचिद् एवंजातिकं रिक्थं संव्यवहारपतितया उपनीतमिति । ततो मयाऽजातशङ्केन भणितम्–'नहि नहि' इति । तैर्भणितम्–न त्वया कुपितव्यम्; राजशासनमिदम्, यत्ते गेहमवलोकयितव्यमिति । मया भणितम्–नात्र अवसरः कोपस्य, प्रजापरिरक्षणनिमित्तं समारम्भो देवस्य । ततः प्रविष्टा मे गेहं सह नगरवृद्धै राजपुरुषाः । अवलोकितं च तैर्नानाप्रकारं द्रविणजातम्, दृष्टं च प्रयत्नस्थापितं चन्दननामाङ्कितं हिरण्यभाजनम्, नीतं वहि, दर्शितं चन्दनभाण्डागारिणः । अवलोक्य सदुःखमिव भणितं तेन–अनुहरति तावदेतत् न पुनर्निःसशयं विजानामिति । कारणिकैर्भणितम्–वाचय तावदपहृतनिवेदनापत्रकम्, किं तत्र इदमीदृशमभिलिखितं न वेति । वाचितं पत्रकम्, दृष्टमभिलिखितम् । साध्वसीभूता नागरकारणिकाः । भणितं च तैः–सार्थवाहपुत्र ! कुतः तवेदम् ?। ततो मयाऽपि चिन्तितम्–कथं सद्भावस्थापितं मित्रन्यासं प्रकाशयामि । मा नाम तेनाऽपि कथंचिद् एष एवमेव समासादितो भवेत् । ततः 'कथं निजप्राणबहुमानतो मित्रप्राणान् परित्यजामि' इति चिन्तयित्वा भणितं मया—'निजकमेवेतद्' इति । तैर्भणितम्–कथं चन्दननामाङ्कितम् ? । मया भणितम्–न जानीमः, कथंचिद् भाजनपरावर्तो भविष्यति । तैर्भणितम्–किंसख्यं किं वा हिरण्यजातमत्र इति ? । मया भणितम्–न सुष्ठु स्मरामि, स्वयमेव पश्यत । कारणिकैर्भणितम्–वाचय पत्रकम्, किंद्रविणयुक्तं वा तत् चन्दनसार्थवाहभाजनम्, इति ?। वाचितं पत्रं यावद् दीनारद्रविणयुक्तं दशसहस्रसंख्यं च । ततो मोचितं तः, मिलितं पत्रकार्थं । विस्मिता नागरकारणिकाः । परिचिन्तितं च

तेहिं । कह अप्पडिहयचक्कसत्थवाहपुत्ते चक्कदेवे एवं भविस्सइ त्ति ? पुणो वि पुच्छिओ–सत्थवाहपुत्त ! नरिन्दसासणमिण, ता कहेहि फुडत्थ, 'कुओ तुह इम' ति । तओ मए तं चेवाणुचिन्तिऊण त चेव सिट्ठं ति । तेहिं चिय 'धिरत्थु देव्वस्स' त्ति भणिऊण मन्तिय । अन्नं पि ते न किंचि परसन्तिय गेहे चिट्ठइ ? मए भणिय–न किंचि । तओ तेहिं पत्तगं वाइऊण सविसेसमवलोइय मे गेह, दिट्ठ च जहावाइय निरवसेसमेव रित्थ । एत्थन्तरम्मि य कुविया ममोवरि आरक्खिगा । नीओ तेहिं नरवइसमीव । साहिओ वुत्तन्तो चण्डसासणस्स । भणिओ म्हि राइणा । सत्थवाहपुत्त ! विन्नाउभयलोयमग्गो तुमं, ता न तुह एयमेरिसम साहुचरियमसभावणिज्जं संभावेमि त्ति । ता कहेहि ताव, को एत्थ परमत्थो त्ति ?। तओ मए त चेव चिन्तिऊण बाहजलभरियलोयणेण न किंपि जपिय नरवइपुरओ त्ति । तओ राइणा समुप्पन्नासकेणावि तायबहुमाणओ असरिसं वयणमभासिऊण कयत्थण चाकाऊण निव्विसओ समाणत्तो म्हि, नीणिओ य रायपुरिसेहिं नयराओ, मुक्को य नयरदेवयावणसमीवे । पडिनियत्ता रायपुरिसा । समुप्पन्ना य मे चिन्ता–किमेद्दहमेत्तपरिभवभायणेणं अज्ज वि जीविएण । ता एयम्मि नयरदेवयावणसमासन्ने नग्गोहपायवे उक्कलम्बेमि अप्पाण ति । चिन्तिऊण पयट्टो नग्गोहसमीवं । एत्थन्तरम्मि य कहिंचि आभोइऊण इमं वइयरमोहिणा समुप्पन्ना ममोवरि नयरदेवयाए अणुकम्पा । आवेसिऊण रायजणणिं साहियं जहट्ठियमेव एवं तीए राइणो । भणिओ य राया–इमाए मइलणाए अमुगम्मि नयरुज्जाणासन्ने नग्गोहपायवे उब्बन्धणेण अत्ताणय परिच्चइउं ववसिओ चक्कदेवो । ता लहु निवारेहि, तं सम्माणिऊण य पवेसेहि नयर ति । तओ कोहनेहाउलयाए सकिण्णं रसमणुहवन्तो राया 'अरे गेण्हह दुरायारं जन्नदेव' ति आइसिऊण पहाणवास्याख्ढो समं अहासन्निहियपरियणेणं तुरियतुरियं निग्गओ नयराओ, पत्तो य नयरुज्जाणं । दिट्ठो य अह राइणा नग्गोहपायवसाहागओ उत्तरीयनिबद्धपासम्मि ढोइयाए सिरोहराए अत्ताणयं पवाहिउकामो त्ति । तओ सो दूरओ चेव संभमाइसयनिव्वडियसारं 'भो चक्कदेव ! मा

तैः । कथमप्रतिहतचक्रसार्थवाहपुत्रे चक्रदेवे एत्र भविष्यति इति ?। पुनरपि पृष्टः—सार्थवाहपुत्र ! नरेन्द्रशासनमिदम्, तत. कथय स्फुटार्थम् 'कुतः तवैतद्' इति । ततो मया तदेवानुचिन्त्य तदेव शिष्टमिति। तैरेव 'धिगस्तु दैवस्य' इति भणित्वा मन्त्रितम् । अन्यदपि ते न किञ्चित्परसत्क गेहे तिष्ठति ?। मया भणितम्—न किञ्चित्। ततस्तै पत्रकं वाचयित्वा सविशेषमवलोकित मे गेहम्, दृष्ट च यथावाचित निरवशेषमेव रिक्थम् । अत्रान्तरे च कुपिता ममोपरि आरक्षकाः । नीतस्तैर्नरपतिसमीपम् । भणितो वृत्तान्तश्चण्डशासनस्य । भणितोऽस्मि राज्ञा । सार्थवाहपुत्र ! विज्ञातोभयलोकमार्गस्त्वम्, ततो न तवैतदीदृशमसाधुचरितमसभावनीयं सभावयामीति । तत कथय तावत्कोऽत्र परमार्थ इति ?। ततो मया तदेव चिन्तयित्वा वाष्पजलभृतलोचनेन न किमपि जल्पित नरपतिपुरत इति । ततो राज्ञा समुत्पन्नाशङ्केनापि तातवहुमानतोऽसदृश वचनमभाषित्वा कदर्थना चाऽकृत्वा निर्विषयः समाज्ञप्तोऽस्मि, नीतश्च राजपुरुषैर्नगरात्, मुक्तश्च नगरदेवतावनसमीपे । प्रतिनिवृत्ता राजपुरुषाः । समुत्पन्ना च मे चिन्ता—किमेतावन्मात्रपरिभवभाजनेन अद्यापि जीवितेन । तत एतस्मिन् नगरदेवतावनसमासन्ने न्यग्रोधपादपे उल्लम्वयामि आत्मानमिति चिन्तयित्वा प्रवृत्तो न्यग्रोधसमीपम् । अत्रान्तरे च कथचिदाभोग्येम व्यतिकरमवधिना समुत्पन्ना ममोपरि नगरदेवताया अनुकम्पा । आवेश्य राजजननी भणित यथास्थितमेव एव तया राज्ञ. । भणितश्च राजा—अनया मलिनतया अमुकस्मिन् नगरोद्यानासन्ने न्यग्रोधपादपे उद्वन्धनेनात्मान परित्यक्तु व्यवसितश्चक्रदेवः । ततो लघु निवारय, तं सन्मान्य च प्रवेशय नगरमिति । तत क्रोधस्नेहाकुलतया सकीर्णं रसमनुभवन् राजा 'अरे गृह्णीत दुराचार यज्ञदेव' इत्यादिश्य प्रधानावारण्यारूढ समं यथासन्निहितपरिजनेन त्वरितत्वरितं निर्गतो नगरात्, प्राप्तश्च नगरोद्यानम् । दृष्टश्चाहं राज्ञा न्यग्रोधपादपशाखागत उत्तरीयनिवद्धपाशे ढौकितया शिरोधरया आत्मान प्रवाधितुकाम इति । तत स दूरत एव सम्भ्रमातिशयनिर्वर्तितसार 'भोश्चक्रदेव ! मा

साहसं मा साहस' ति भणमाणो सिग्घयरतज्जियाए वारुयाए समल्लीणो पायवसमीवं। सयमेव अवणीओ पासओ, गेण्हिऊण य करम्मि ठाविओ अह तेण वारुयापट्टियाए। भणिओ य सबहुमाण—भो सत्थवाहपुत्त! जुत्तं नाम भवओ मए वि पुच्छियस्स सब्भावासाहण? तओ मए चिन्तिय—हन्त किमेयं ति, पयासियं भविस्सइ केणइ मित्तगुज्झं। एत्थन्तरम्मि य भणिय राइणा—भो सत्थवाहपुत्त! साहिओ मम एस वइयरो अम्बं पविसिऊण भयवईए नयरदेवयाए, जहा निद्दोसो तुम, दोसयारी य एत्थ दुरायरो जन्नदेवो। ता खमियव्वं तुमए, जं मए अमुणियपरमत्थेणं कयत्थिओ सि त्ति। तओ मए 'हन्त संपत्तो वसणं जन्नदेवो' त्ति चिन्तिऊण भणिओ राया—देव! रायधम्मोऽयं, पयापरिरक्खणसमुज्जयस्स नत्थि दोसो देवस्स। जन्नदेवमूलसुद्धि पि गवेसेउ देवो, न तम्मि महाणुभावे अणायरणं संभावीयइ। राइणा भणियं—गविट्ठा मूलसुद्धी, साहियं भयवईए—'सव्वमिणं तेण पावेण ववसिय' ति। साहिय देवयाकहियं राइणा। ठिय च मे चित्ते तुह दोसपयासणेण ति भणिऊण साहिओ जन्नदेवकहियवुत्तन्तो। तओ मए चिन्तियं—हन्त किमेयं असभावणिज्ज। एत्थन्तरम्मि य आणिओ रायपुरिसेहिं बन्धेऊण जन्नदेवो, निवेइओ राइणो। भणिय च तेण—अरे एयस्स जिब्भ छिन्दिऊण उप्पाडेह लोयणाइं। विसण्णो जन्नदेवो। तओ मए चलणेसु निवडिऊण विन्नत्तो राया—देव! मम एस अवराहो खमीयउ, मुच्चउ जन्नदेवो। राइणा भणियं—सत्थवाहपुत्त! न जुत्तमेय, दुरायारो खु एसो, ता अन्नं विन्नवेहि त्ति। मए भणिय—देव! अलमन्नेण ति, जइ ममोवरि वहुमाणो देवस्स, ता इमं चेव सपाडेउ देवो। राइणा भणिय अलङ्घणीयवयणो तुमं ति, तुमं चेव जाणासि। तओ मए 'देवपसाओ' त्ति भणिऊण निवडिअ चलणेसु मोयाविओ जन्नदेवो, पेसिओ य अहं राइणा निययभवणं तओ सम्माणिऊण महया विभूईए गओ स भवणं ति। जाओ य लोयवाओ, अहो! जन्नदेवस्स जहन्नत्तं। समुप्पन्नो य मे निव्वेओ। पेच्छ, ईइसाणं पि मित्ताणं ईइसो परिणामो ति। अहो! असारया संसारस्स, विचित्तया कम्मपरिणईए, दुल्लक्खाणि

साहसं मा साहसम्' इति भणन् शीघ्रतरतर्जितया वारण्या समालीनः पादपसमीपम् । स्वयमेवापनीत पाशकः, गृहीत्वा च करे स्थापितोऽह वारणीपृष्ठे । भणितश्च सबहुमानम्–भोः सार्थवाहपुत्र ! युक्त नाम भवतो मयाऽपि पृष्टस्य सद्भावाऽभणनम् ? ततो मया चिन्तितम्–हन्त किमेतदिति, प्रकाशितं भविष्यति केनचिद् मित्रगुह्यम् । अत्रान्तरे च भणित राज्ञा–भो सार्थवाहपुत्र ! भणितो मम एष व्यतिकरोऽम्बा प्रविश्य भगवत्या नगरदेवतया, यथा निर्दोपस्त्वम्, दोषकारी च अत्र दुराचारो यज्ञदेव । तत क्षमितव्य त्वया, यन्मया अज्ञातपरमार्थेन कदर्थितोऽसीति । ततो मया 'हन्त सप्राप्तो व्यसन यज्ञदेव.' इति चिन्तयित्वा भणितो राजा—देव ! राजधर्मोऽयम्, प्रजापरिरक्षणसमुद्यतस्य नास्ति दोषो देवस्य । यज्ञदेवमूलशुद्धिमपि गवेषयतु देव, न तस्मिन् महानुभावे अनाचरण सभाव्यते । राज्ञा भणितम्-गवेषिता मूलशुद्धि', भणित भगवत्या–'सर्वमिद तेन पापेन व्यवसितम्' इति । भणित देवताकथित राज्ञा । स्थित च मे चित्ते तव दोपप्रकाशनेन इति भणित्वा कथितो यज्ञदेवकथितवृत्तान्त' । ततो मया चिन्तितम्–हन्त किमेतदसंभावनीयम् । अत्रान्तरे चानीतो राजपुरुपैर्बध्वा यज्ञदेवः, निवेदितश्च राज्ञ । भणित च तेन–अरे एतस्य जिह्वा छित्त्वा उत्पाटयत लोचने । विषण्णो यज्ञदेव. । ततो मया चरणयोर्निपत्य विज्ञप्तो राजा—देव ! ममैषोऽपराधः क्षम्यताम्, मुच्यता यज्ञदेव. । राज्ञा भणितम्—सार्थवाहपुत्र ! न युक्तमेतद्, दुराचार. खल्वेष, ततोऽन्यद् विज्ञापयेति । मया भणितम्– देव ! अलमन्येनेति, यदि ममोपरि बहुमानो देवस्य, तत इदमेव सपादयतु देवः । राज्ञा भणितम्–अलङ्घनीयवचानस्त्वमिति, त्वमेव जानासि । ततो मया 'देवप्रसाद ' इति भणित्वा, निपत्य चरणयो., मोचितो यज्ञदेव, प्रेषितश्चाहं राज्ञा निजभवन तत. सन्मान्य महत्या विभूत्या गत' स्वभवनमिति । जातश्च लोकवाद, अहो यज्ञदेवस्य जघन्यत्वम् । समुत्पन्नश्च मे निर्वेदः । पश्य, ईदृशानामपि मित्राणामीदृशः परिणाम इति । अहो ! असारता ससारस्य, विचित्रता कर्मपरिणत्या, दुर्लक्ष्याणि

पाणिचित्ताणि । ता न याणामो किमेत्थ जुत्त त्ति ।

एत्थन्तरम्मि य समागओ तत्थ सुगिहियनामो अग्गिभूई नाम गणहरो । ठिओ य नयरुज्जाणे । दिट्ठो मए बाहिरियागएण । जाओ य मे त पइ बहुमाणो, पणमिओ य सो मए, धम्मलाभिओ य तेण उवविट्ठो तस्स पायमूले । पुच्छिओ भयव सव्वदुक्खविउडणसमत्थ धम्म ! साहिओ भगवया खमाइगो साहुधम्मो । त च सुणमाणस्स समुप्पन्ना देसविरइपरिणई, पवड्ढमाणसवेगस्स जाओ भवविरागो । चिन्तियं च मए-अल ससारपवड्ढणामेत्तफलेण इमिणा परिकिलेसेणं, पवज्जामो पव्वज्ज ति ॥

एत्थन्तरम्मि य गलिओ कम्मसघाओ, पयलिया बन्धणाट्ठिई, विहाविय अत्तविरिएण, समुप्पन्ना सव्वविरइपरिणइ त्ति । कहावसाणे य विन्नत्तो मए भयव गुरु । अणुग्गिहीओ अह भयवया, विरत्त च मे चित्त भवपवञ्चाओ, ता आइसउ भयव किं मए कायव्व ति । तओ तेण सुयासयनाणिणा मम भाव वियाणिऊण भणिय-जुज्जइ भवओ महापुरिससेवियं समणत्तणं काउ ति । तओ मए तस्स समीवम्मि चेव पवन्न समणत्तण, परिवालियं च विहिणा । तओ अहाउय पालिऊण कालमासे काल किच्चा देह चइऊण नवसागरोवमाऊ वेमाणियत्ताए उववन्नो म्हि बम्भलोए, इयरो वि य जन्नदेवो तिसागरोवमठिई सक्करप्पभाए नारगो त्ति । तओ अहमहाउय पालिऊण देवलोगाओ चुओ समाणो इहेव विदेहे गन्धिलावईविजए रयणपुरे नयरे रयणसागरस्स सत्थवाहस्स सिरिमईए भारियाए कुच्छिसि पुत्तत्ताए उववन्नो त्ति । इयरो वि य तओ नरगाओ उव्वट्टिऊण आहेडगसुणओ भविय मरिऊण तिसागरोवमाऊ तत्थेव उववज्जिऊण तओ य उव्वट्टो नाणातिरिएसु आहिण्डिऊण तत्थेव रयणपुरे तायघरदासीए नम्मयाभिहाणाए सुयत्ताए उववन्नो त्ति । उचियसमयम्मि जाया य अम्हे, पत्ता य बालभाव । पइट्ठावियाइ नामाइ, मज्झ चन्दसारो, इयरस्स अणहगो त्ति । पत्ता य जोव्वण । कओ मए दारसंगहो । एवं च विसयासत्ता चिट्ठामो । पुव्वभवब्भासओ य न इमस्स

प्राणिचित्तानि । ततो न जानीम कित्रम युक्तमिति ।

अत्रान्तरे च समागतस्तत्र सुगृहीतनामा अग्निभूतिर्नाम गणधर । स्थितश्च नगरोद्याने । दृष्टश्च मया वहिरागतेन । जातश्च मे त प्रति वहुमान., प्रणतश्च स मया, धर्मलाभितश्च तेन, उपविष्टस्तस्य पाद-मूले । पृष्टो भगवान् सर्वदु:खविकुटनसमर्थ धर्मम् । कथितो भगवता क्षमादिकः साधुधर्म. । त च शृण्वत. समुत्पन्ना देशविरतिपरिणतिः, प्रवर्धमानसवेगस्य जातो भवविरागः । चिन्तित च मया-अल ससार-प्रवर्धनामात्रफलेन अनेन परिक्लेशेन, प्रपद्यामहे प्रव्रज्यामिति ।

अत्रान्तरे च गलितः कर्मसघातः, प्रचलिता वन्धनस्थितिः, विभावितमात्मवीर्येण, समुत्पन्ना सर्वविरतिपरिणतिरिति । कथाऽवसाने च विज्ञप्तो मया भगवान् गुरु । अनुगृहीतोऽह भगवता, विरक्तं च मे चित्तं भवप्रपञ्चात्, तत आदिशतु भगवान् कि मया कर्तव्यमिति । ततस्तेन श्रुताशयज्ञानिना मम भाव विज्ञाय भणितम्-युज्यते भवतो महापुरुषशेवितं श्रमणत्वं कर्तुमिति । ततो मया तस्य समीपे एव प्रपन्नं श्रमणत्वम्, परिपालितं च विधिना । ततो यथाऽऽयुष्क पालयित्वा काल-मासे कालं कृत्वा देह त्यक्त्वा नवसागरोपमायुर्वैमानिकतयोपपन्नोऽस्मि ब्रह्मलोके, इतरोऽपि च यज्ञदेवो त्रिसागरोपमस्थिति. शर्कराप्रभाया नारक इति । ततोऽह यथाऽऽयु पालयित्वा देवलोकात् च्युत सन् इहैव विदेहे गन्धिलावतीविजये रत्नपुरे नगरे रत्नसागरस्य सार्थवाहस्य श्रीमत्या भार्यायाः कुक्षौ पुत्रत्वेनोपपन्न इति । इतरोऽपि च ततो नारकादुद्वृत्त्य आखेटकशुनको भूत्वा मृत्वा त्रिसागरोपमायुस्तत्रैवोपपद्य ततश्चोद्वृत्तो नानातिर्यक्षु आहिण्डच तत्रैव रत्नपुरे तातगृहदास्या नर्मदाऽभिधानाया सुतत्वेनोपपन्न इति । उचितसमये जातौ च आवाम्, प्राप्तौ च बालभा-वम् । प्रतिण्ठापिते नामनी, मम चन्द्रसार, इतरस्य अणहक इति । प्राप्तौ च यौवनम् । कृतो मया दारसंग्रहः, एव च विषयासक्तौ तिष्ठाव. । पूर्वभवाभ्यासतश्च नास्य

ममोवरि वञ्चणापरिणामो अवेइ । अन्नया य आगओ तत्थ मासकप्प-विहारी भयवं विजयवद्धणायरिओ। पवन्नो य मए इमस्स पायमूले साव-गधम्मो । अन्नया य तं पुरं दीहदण्डजत्तागए नरवइम्मि, गामन्तरगएसु अम्हेसु विञ्झकेउनामेण सवरसेणावइणा हयविहयं काऊण अवणीओ कोइ लोओ । सुयं च अम्हेहिं । समागया तं पुरं । दिट्ठं च मसाणा-गारमणुगरिन्तं, गवेसाविय माणुसं जाव सव्वमेव घरइ, नवरं चन्दकन्ता मे भारिया अवहड त्ति । तओ समुप्पन्ना मे अरई, जाया य चिन्ता—हा ! कहं सा तवस्सिणी ममादिट्ठविओगा पाणे धारिस्सइ त्ति । एत्थ-न्तरम्मि य भणिओ देवसम्माभिहाणेण वुड्ढ माहणेण-सत्थवाहपुत्त ! मा सतप्प । पुणो वि एयम्मि चेव विसए सिरित्थलाभिहाणाओ सन्नि-वेसाओ एवं चेव सवरेहिं अवणीओ जणो आसि । सो निरवसेसो अख-ण्डियचरित्तसव्वस्सो महया दविणजाएण मुक्को त्ति । तओ अहं एयमा-यण्णिऊण अइक्कन्तेसु कइवयदिणेसु सभूमिमुवगएसु सवरेसु अणहगदु-इओ घेत्तूण सव्वसारं दविणजायं सुसणिद्धसभियं च पाहेयं पयट्टो चन्द-कन्ताविमोक्खणनिमित्तं ति ॥

इओ य तीए मम विओगविहुराए चारित्तखण्डणासङ्किणीए य कहिंचि मुण्णगामासन्नकूवयडावासियाए सवरवाहिणीए निसाचरमसमय-म्मि, पवत्ते य पयाणगकोलाहले पेरन्तरक्खणावावडेसु सवरसंघाएसु जीवियनिरवेक्खाए तम्मि चेव जिण्णकूवम्मि पहाविओ अप्पा । पडिया य जलमज्झे, न मया य जलप्पभावेणं । तओ तग्गय चेव पडिकूवगम-हिट्ठिऊण चिट्ठिउमारद्धा । किच्छपाणा य जीवियसेसेण चेव जाव पाणे धारेइ, ताव पत्ता अम्हे तमुद्देसं । अणहगस्स वि य पुव्वभवनिमित्तओ तयत्थसदरिसणओ य समुप्पन्नो ममोवरि वञ्चणापरिणामो । चिन्तियं च णेण—'कहमेसो वञ्चियव्वो' त्ति । तओ सो अणेयवियप्पसमाउ-लियहियओ अहं च मुद्धमहावो त्ति एवं वच्चामो । पाहेयदविणजायाणि य पत्तेयं हत्थगोयराणि हवन्ति । अन्नया य मम हत्थे पाहेयं तस्स दवि-णजायं ति । एवमणुगच्छमाणा पत्ता तमुद्देसं, जत्थ सा चन्दकन्ता

ममोपरि वञ्चनापरिणामोऽपैति । अन्यदा च आगतस्तत्र मासकल्पविहारो भगवान् विजयवर्द्धनाचार्यः । प्रपन्नश्च मया अस्य पादमूले श्रावकधर्म । अन्यदा च तत्पुर दीर्घदण्डयात्रागते नरपतौ, ग्रामान्तरगतेषु अस्मासु विन्ध्यकेतुनाम्ना शबरसेनापतिना हतविहत कृत्वाऽपनीत. कोऽपि लोकः । श्रुत चास्माभिः । समागता तत् पुरम्, दृष्ट च श्मशानाकारमनुकुर्वत्, गवेषित मानुष यावत्सर्वमेव धरति, नवर चन्द्रकान्ता मे भार्या अपहृतेति । तत समुत्पन्ना मेऽरति, जाता च चिन्ता—हा ! कथ सा तपस्विनी ममादृष्टवियोगा प्राणान् धारयिष्यतीति । अत्रान्तरे च भणितो देवशर्माभिधानेन वृद्धब्राह्मणेन—सार्थवाहपुत्र ! मा सतप्यस्व । पुनरपि एतस्मिन्नेव विषये श्रीस्थलाभिधानात् सनिवेशात् एवमेव शबरैरपनीतो जन आसीत्, स निरवशेषोऽखण्डितचारित्रसर्वस्वो महता द्रविणजातेन मुक्त इति । ततोऽह एतदाकर्ण्यातिक्रान्तेषु कतिपयदिनेषु स्वभूमिमुपगतेषु शबरेषु अणहकद्वितीयो गृहीत्वा सर्वसार द्रविणजात सुस्निग्धसभृत च पाथेय प्रवृत्तश्चन्द्रकान्ताविमोक्षणनिमित्तमिति ।।

इतश्च तया मम वियोगविधुरया चारित्रखण्डनाऽऽशङ्किन्या च कथचिच्छून्यग्रामासन्नकूपतटावासितायां शबरवाहिन्या निशाचरमसमये, प्रवृत्ते च प्रयाणककोलाहले पर्यन्तरक्षणाव्यापृतेषु शबरसघातेषु जीवितनिरपेक्षया तस्मिन्नेव जीर्णकूपे प्रवाहित आत्मा । पतिता च जलमध्ये, न मृता च जलप्रभावेण । ततस्तद्गतमेव प्रतिकूपकमधिष्ठाय स्थातुमारब्धा कृच्छ्रप्राणा च जीवितशेषेणैव यावत्प्राणान् धारयति, तावत्प्राप्तावावा तमुद्देशम् । अणहकस्यापि च पूर्वभवनिमित्तत: तदर्थसंदर्शनतश्च समुत्पन्नो ममोपरि वञ्चनापरिणाम. । चिन्तित च तेन—कथमेष वञ्चयितव्य.' इति । तत सोऽनेकविकल्पसमाकुलितहृदय, अह च शुद्धस्वभाव इति एव व्रजावः । पाथेयद्रविणजातानि च प्रत्येक हस्तगोचराणि भवन्ति । अन्यदा च मम हस्ते पाथेयं तस्य द्रविणजातमिति । एवमनुगच्छन्तौ प्राप्तौ तमुद्देशम्, यत्र सा चन्द्रकान्ता

चिट्ठइ। दिट्ठो य सो कूवो। एत्थन्तरम्मि य अत्थमिओ सहस्सरस्सी, लुलिया सञ्झा। तओ चिन्तियमणहगेण-हत्थगय मे दविणजायं, विजण च कन्तार, समासन्नो य पायालगम्भीरो कूवो, पवत्तो य अवराहविवर-समच्छायगो अन्धयारो। ता एयम्मि एयं पक्खिविऊण नियत्तामो इमस्स थाणस्स त्ति चिन्तिऊण भणिय च तेण—सत्थवाहपुत्त! धणियं पिवा-साभिभूओ म्हि। ता निहालेहि एय जिण्णकूवं 'किमेत्थ उदगं अत्थि, नत्थि' त्ति? तओ मए गहियपाहेयपोट्टलेण चेव निहालिओ कूवो। एत्थन्तरम्मि य सुविसत्थहिययस्स लोयस्स विय मच्चू आगओ मम समीवमणहगो। सहसा पक्खित्तो तम्मि अहमणहगेण, पडिओ य उदग-मज्झे। नियत्तो य सो तओ विभागाओ। अहमवि य ससभन्तो लग्गो पडिकूवगेक्कदेसे। परामुट्ठा य भयविहलङ्घला चन्दकन्ता थीसहावओ भयकायरा। भणिय च तीए 'नमो अरिहन्ताण' ति। तओ मए पच्च-भिन्नाओ सद्दो। ऊससिय मे हियएणं। भणिया य सा 'अभयमभयं जिणसासरयाण' ति। तीए वि य पञ्चभिन्नाओ मे सद्दो। रोविउ पयत्ता, समासासिया सा मए, पुच्छिया य वुत्तन्तं। साहिओ य तीए, मए वि य नियगो त्ति। भणियं चा तीए—हा! दुट्ठु कयं अणहगेण। मए भणियं—सुन्दरि! न दुट्ठु कयं, परमोवयारी खु सो महाणुभावो, जं तुम सजोइय त्ति। अप्पनिद्दाण य अइक्कन्ता रयणी, उग्गओ असु-माली। तओ मए दिन्नं चन्दकन्ताए पाहेयं। भणियं च तीए-'कहमहं तुमए अगहियम्मि गेण्हामि' त्ति। तओ मए नेहकायरं से हियय कलि-ऊणमकाले चेव गहियं पाहेयं, भुत्तं च अम्हेहि। तओ चिन्तियं मए-केण पुण उवाएण अम्हे इमाओ भवसमुद्दाओ विव कूवगाओ उत्तरि-स्सामो त्ति। एव च चिन्तयन्ताणं कइवयदिणेसु खीण पाहेय, पणट्ठा जीवियासा। जाया य मे चिन्ता—कह पाविऊण जिणमय अकाऊण पव्वज्जमकयत्थो मरिस्सामि त्ति। एत्थन्तरम्मि फुरियं से वामलोयणेणं, ममावि दाहिणेणं। जंपियं च तीए—अज्जपुत्त! वामं मे लोयण फुरिय' ति। तओ साहिओ से मए हिययसकप्पो इयरच्चवखुफुरणं च। समासासिया य एसा। सुन्दरि! इमेहि निमित्तविसेसेहि अवस्स अम्हाण न

तिष्ठति । दृष्टश्च स कूपः । अत्रान्तरे च अस्तमितः सहस्ररश्मि, लुलिता सन्ध्या । ततश्चिन्तितमरणहकेन–हस्तगत मे द्रविणजातम्, विजन च कान्तारम्, समासन्नश्च पातालगम्भीरः कूपः, प्रवृत्तश्चापराधविवर–समाच्छादकोऽन्धकारः । तत एतस्मिन् एत प्रक्षिप्य निवर्तेऽस्मात्स्थाना–दिति चिन्तयित्वा भणित च तेन—सार्थवाहपुत्र ! भृश पिपासाऽभिभूतोऽस्मि, ततो निभालय एत जीर्णकूप 'किमत्र उदकमस्ति, नास्ति' इति ? ततो मया गृहीतपाथेयपोट्टलेनैव निभालितः कूप । अत्रान्तरे च सुवि–श्वस्तहृदयस्य लोकस्येव मृत्युरागतो मम समोपमरणहकः । सहसा प्रक्षि–प्तस्तस्मिन्नहमणहकेन, पतितश्चोदकमध्ये । निवृत्तश्च स ततो विभागात् । अहमपि च ससभ्रान्तो लग्नो प्रतिकूपकैकदेशे । परामृष्टा च भयविह्व–लाङ्गी चन्द्रकान्ता, स्त्रीस्वभावतो भयकातरा । भणित च तया 'नमोऽर्हद्भ्यः' इति । तत प्रत्यभिज्ञातः शब्दः, उच्छ्वसित मे हृदयेन । भणिता च सा 'अभयमभय जिनशासनरतानाम्' इति । तयाऽपि च प्रत्यभिज्ञातो मम शब्दः । रोदितु प्रवृत्ता, समाश्वासिता सा मया, पृष्टा च वृत्तान्तम् । भणितश्च तया, मयाऽपि च निजक इति । भणित च तया—हा ! दुष्टु कृतमणहकेन । मया भणितम्—सुन्दरि ! न दुष्टु कृतम्, परमोपकारी खलु स महानुभावः, यत्त्व संयोजिता इति । अल्प–निद्रयोश्चातिक्रान्ता रजनी, उदितश्चाशुमाली । ततो मया दत्त चन्द्रका–न्तायाः पाथेयम् । भणित च तया–'कथमह त्वय्यगृहीते गृह्णामि' इति । ततो मया स्नेहकातर तस्या हृदयं कलयित्वा अकाले एव गृहीत पाथे–यम्, भुक्तं चावाभ्याम् । ततश्चिन्तित मया–केन पुनरुपायेन वयमस्माद् भवसमुद्रादिव कूपकादुत्तरिष्याव इति । एव च चिन्तयतो कतिपयदिनेषु क्षीणं पाथेयम्, प्रनष्टा जीविताशा । जाता च मे चिन्ता–कथ प्राप्य जिनमतमकृत्वा प्रव्रज्यामकृतार्थो मरिष्यामि इति । अत्रान्तरे स्फुरित तस्या वामलोचनेन, ममापि दक्षिणेन । जल्पित च तया—'आर्यपुत्र ! वाम मे लोचन स्फुरितम्' इति । ततः भणित. तस्या मया हृदयसकल्प इतरचक्षु स्फुरण च । समाश्वासिता च एषा । सुन्दरि ! एभिर्निमित्त–विशेषैरवश्यमावयोर्न

चिरकालाणुसारी एस किलेसो, ता न तुमए संतप्पियव त्ति। पडिस्सुयमिमीए। एवं च जाव अहोरत्त निवसामो ताव समागओ सवररायहाणीओ रयणपुर-निवासिणो नन्दिवद्धणाभिहाणस्स सत्थवाहस्स सन्तिओ रयणपुरगामी चेव सत्थो त्ति। उयगनिमित्त च समागया पुरिसा गहिऊण लम्बणा। दिट्ठाइ अम्हे इमेहिं। निवेइयं सत्थवाहस्स। कयमञ्चियापओएण समुत्तारावियाइ तेण, पञ्चभिन्नायाणि य। पुच्छियाइ वुत्तन्त, साहिओ वित्थरेणं, विम्हिओ एसो, तओ पत्थियाइ रयणउर जाव अइक्कन्तेसु पञ्चसु पयाणएसु परिवहन्ते सत्थे रायवत्तणीओ नाइदूरदेसभाए दिट्ठो कङ्कालमेत्तसेसो वामपासावडियदविणजाओ केसरिणा दीहनिद्दावसमुवणीओ अणहगो त्ति। दविणोवलम्भेण पच्चभिन्नाओ अम्हेहिं। तओ त तहाविहविवाग पेच्छिऊण समुप्पन्नो मे विवेगो, खओवसममुवगय चारित्तमोहणीयं। सजाओ सयलजीवलोयदुल्लहो चरणपरिणामो। तओ अह तहाविहपवड्ढमाणपरिणामो चेव आगओ सनयर। पवन्नो य जहाविहीए विजयवद्धणायरियसमीवे पव्वज्ज। अहाउयमणुवालिऊण विहिणा य मोत्तूण देह, उववन्नो सोलससागरोवमाऊ वेमाणियत्ताए महासुक्ककप्पम्मि, इअरो वि य अणहगो सीहवावाइयसरीरो सत्तसागरोवमट्ठिई वालुगप्पहाए नारगो त्ति। तओ अहमहाउय पालिऊण देवलोगाओ चुओ समाणो इहेव जम्बुद्दीवे दीवे भारहे वासे रहवीरउरे नयरे नन्दिवद्धणस्स गाहावइस्स सुरसुन्दरीए भारियाए कुच्छिसि पुत्तत्ताए उववन्नो म्हि। इयरो वि तओ नरगाओ उव्वट्टिऊण विञ्झगिरिपव्वए असोगसत्तवावायणपरो सीहत्ताए उववन्नो। तओ सीहत्ताए उववज्जिऊण पुणो वि मरिऊण सत्तसागरोवमाऊ तत्थेव उववज्जिय तओ य उव्वट्टो नाणातिरिएसु आहिण्डिय तत्थेव नयरे सोमसत्थवाहस्स नन्दिमईए भारियाए पुत्तत्ताए उववन्नो त्ति। उचियसमयम्मि जाया अम्हे, पत्ता बालभावं। पइट्ठावियाइ नामाइं—मज्झं अणङ्गदेवो, इयरस्स धणदेवो त्ति। आबालभावओ जाया पिई मम सब्भावओ, इयरस्स कइवएणं। कुमारभावम्मि य पत्तो मए देवसेणगुरुसमीवे सव्वन्नुभासिओ धम्मो। पत्ता य जोव्वणं। सन्ते विय पुव्वपुरिसज्जिए दविणजाए अभिमाणओ

चिरकालानुसारी एष क्लेश, ततो न त्वया सतप्तव्यमिति । प्रतिश्रुतमनया । एवं च यावदहोरात्र निवसाव, तावत्समागत शबरराजधानीतो रत्नपुरनिवासिनो नन्दिवर्द्धनाभिधानस्य सार्थवाहस्य सत्को रत्नपुरगाम्येव सार्थं इति । उदकनिमित्तं च समागता पुरुषा गृहीत्वा लम्बनान् । दृष्टौ आवामेभिः । निवेदितं सार्थवाहस्य । कृतमञ्चिकाप्रयोगेण समुत्तारितौ तेन, प्रत्यभिज्ञातौ च । पृष्टौ वृत्तान्तम्, कथितो विस्तरेण । विस्मित एषः, तत प्रस्थितौ रत्नपुर यावदतिक्रान्तेषु पञ्चसु प्रयाणकेषु परिवहति सार्थे राजवर्तनीतो नातिदूरदेशभागे दृष्ट कङ्कालमात्रशेषो वामपार्श्वपतितद्रविणजात केसरिणा दीर्घनिद्रावशमुपनीतोऽनहक इति । द्रविणोपलम्भेन प्रत्यभिज्ञात आवाभ्याम् । ततस्त तथाविधविपाक प्रेक्ष्य समुत्पन्नो मे विवेक, क्षयोपशममुपगत चारित्रमोहनीयम्, सजातः सकलजीवलोकदुर्लभश्चरणपरिणामः । ततोऽह तथाविधप्रवर्द्धमानपरिणाम एव आगत. स्वनगरम् । प्रपन्नश्च यथाविधि विजयवर्द्धनाचार्यसमीपे प्रव्रज्याम् । यथाऽऽयुष्कमनुपाल्य विधिना च मुक्त्वा देहम्, उपपन्नः षोडशसागरोपमायुर्वैमानिकतया महाशुक्रकल्पे, इतरोऽपि चाणहक सिंहव्यापादितशरीरः सप्तसागरोपमस्थितिर्वालुकाप्रभाया नारक इति । ततोऽहं यथाऽऽयुः पालयित्वा देवलोकात् च्युतः सन् इहैव जम्बूद्वीपे द्वीपे भारते वर्षे रथवीरपुरे नगरे नन्दिवर्द्धनस्य गाथापतेः सुरसुन्दर्या भार्यायाः कुक्षौ पुत्रतयोपपन्नोऽस्मि । इतरोऽपि च ततो नरकादुद्वृत्त्य विन्ध्यगिरिपर्वते अनेकसत्त्वव्यापादनपरः सिंहतयोपपन्न । ततः सिंहतयोपपद्य पुनरपि मृत्वा सप्तसागरोपमायुस्तत्रैवोपपद्य ततश्चोद्वृत्तो नानातिर्यक्षु आहिण्ड्य तत्रैव नगरे सोमसार्थवाहस्य नन्दिमत्या भार्यायां पुत्रतयोपपन्न इति । उचितसमये जातावावाम्, प्राप्तौ वालभावम् । प्रतिष्ठापिते नाम्नी–ममानङ्गदेव., इतरस्य धनदेव इति । आवालभावात् जाता प्रीतिर्मम सद्भावतः, इतरस्य कैतवेन । कुमारभावे च प्राप्तौ मया देवसेनगुरुसमीपे सर्वज्ञभाषितो धर्म. । प्राप्तौ च यौवनम् । सत्यपि पूर्वपुरुषसमर्जिते द्रविणजाते अभिमानतः

'किमणेण पुव्वपुरिसज्जिएण' ति दव्वसगहनिमित्तं गया रयणदीवं। विढत्ताइ रयणाइं, कया सजुत्ती, पयट्टा नियदेसमागन्तुं। एत्थन्तरम्मि य पुव्वकयकम्मदोसेण चिन्तिय धणदेवेण-कह पुणो वञ्चियव्वो एस अणङ्गदेवो। वियप्पिया य तेण अणेगे मिच्छावियप्पा। ठाविओ सिद्धन्तो। अवावाइओ एस न तीरए वञ्चिउं ति, ता वावाएमि एयं। परिचिन्तिओ उवाओ 'भोयणे से विसं देमि' त्ति। अन्नया य सत्थिमईसन्निवेसमणुपत्ताण भोयणनिमित्त गओ धणदेवो हट्टमग्ग। कराविय च तेण भोयण, पक्खित्त च एगम्मि लड्डुगे विसं। चिन्तियं च तेण-एय से दाहामि' त्ति। आगच्छन्तस्स अणेगवियप्पावहरियचित्तस्स संजाओ विवज्जओ। भोयणवेलाए गहिओ तेण विसलड्डुगो, दिन्नो मम च इयरो त्ति। पभुत्ता अम्हे जाव थेववेलाए चेव थारिओ धणदेवो। तओ 'किमेय ति' आउलीहूओ अह जाव किकायव्वमूढो थेवकाल चिट्ठामि, ताव अच्चुग्गयाए विसस्स विचित्तयाए कम्मपरिणामस्स उवरओ धणदेवो। जाया मे चिन्ता-'हा केण उण एय ववसिय' त्ति। तओ अमुणियवुत्तन्तो महासोयाभिभूयमाणसो आगओ सनयर। सिट्ठो वुत्तन्तो तस्स माणुसाणं। विइण्ण च तेसिं अब्भहिययर रयणजाय। सेसरयणजाय पि य जहाणुरूव कुसुलपक्खे निउज्जिऊण तन्निव्वेएण चेव तयप्पभिइमन्नायविसयसङ्गो पवन्नो देवसेणायरियसमीवे पव्वज्जं ति। परिवालिऊण अहाउय विहिणा य मोत्तूण देह पाणयम्मि कप्पे उववन्नो एगूणवीससागरोवमाऊ देवो त्ति, इयरो वि विसमरणाणन्तर पङ्कप्पभाए पुढवीए नवसागरोवमाऊ नारगो त्ति। तओ अहमहाउयं अणुवालिऊण चुओ समाणो इहेव जम्बुद्दीवे दीवे एरवए खेत्ते हत्थिणाउरे नयरे हरिनन्दिस्स गाहावइस्स लच्छिमईए भारियाए कुच्छिसि पुत्तत्ताए उववन्नो। इयरो वि तओ नरगाओ उव्वट्टिय उरगत्तण पाविऊणमणेगसत्तवावायणपरो दावाणलदड्ढदेहो मरिऊण तीए चेव पङ्कप्पभाए पुढवीए किंचूणदमसागरोवमाऊ नारगो होऊण तओ उव्वट्टो, तिरिएसु आहिण्डिय तम्मि चेव हत्थिणाउरे इन्दनामस्स वुड्ढसेट्ठिस्स नन्दिमईए भारियाए कुच्छिसि पुत्तत्ताए उववन्नो त्ति। उचियसमयम्मि जाया अम्हे। पइट्ठावियाइं

'किमनेन पूर्वपुरुषसमर्जितेन' इति द्रव्यसग्रहनिमित्त गतौ रत्नद्वीपम् । अर्जितानि रत्नानि, कृता सयुक्ति, प्रवृत्ता निजदेशमागन्तुम् । अत्रान्तरे च पूर्वकृतकर्मदोषेण चिन्तित धनदेवेन–कथं पुनर्वञ्चयितव्य एषोऽनङ्ग–देव. । विकल्पिताश्च तेनानेके मिथ्याविकल्पा । स्थापित सिद्धान्त । अव्यापादित एष न पार्यते वञ्चयितु इति, ततो व्यापादयामि एतम् । परिचिन्तितश्चोपाय 'भोजने तस्य विष ददामि' इति । अन्यदा च स्व–स्तिमतिसन्निवेशमनुप्राप्तयोर्भोजननिमित्त गतो धनदेवो हट्टमार्गम् । कारित च तेन भोजनम्, प्रक्षिप्त चैकस्मिन् लड्डुके विषम् । चिन्तित च तेन–'एत तस्य दास्यामि' इति । आगच्छतोऽनेकविकल्पापहृतचित्तस्य सजातो विपर्यय । भोजनवेलाया तेन गृहीतो विषलड्डुक, दत्तश्च मह्यमितर इति । प्रभुक्तावावा यावत्स्तोकवेलायामेव स्तृतः धनदेव । तत. 'किमे–तद्' इति आकुलीभूतोऽह यावत्किकर्तव्यमूढ. स्तोककाल तिष्ठामि, तावदत्युग्रतया विषस्य विचित्रतया कर्मपरिणामस्योपरतो धनदेवः । जाता मे चिन्ता–हा ! केन पुनरेतद् व्यवसितम्' इति । ततोऽज्ञातवृ–त्तान्तो महाशोकाभिभूतमानस आगत स्वनगरम् । शिष्टो वृत्तान्तस्तस्य मानुषाणाम् । वितीर्णं च तेभ्योऽधिकतर रत्नजातम् । शेषरत्नजातमपि च यथानुरूपं कुशलपक्षे नियुज्य तन्निर्वेदेनैव तत्प्रभृति अज्ञातविषयसङ्ग: प्रपन्नो देवसेनाचार्यसमीपे प्रव्रज्यामिति । परिपाल्य यथाऽऽयुर्विधिना च मुक्त्वा देह प्राणते कल्पे उपपन्न एकोनविंशतिसागरोपमायुदेव इति, इतरोऽपि विषमरणानन्तर पङ्कप्रभाया पृथिव्या नवसागरोपमायुनारिक इति । ततोऽह यथाऽऽयुरनुपाल्य च्युत सन् इहैव जम्बूद्वीपे द्वीपे ऐरवते क्षेत्रे हस्तिनापुरे नगरे हरिनन्देर्गाथापतेर्लक्ष्मीमत्या भार्याया कुक्षौ पुत्र–तयोपपन्नः । इतरोऽपि ततो नरकादुद्वृत्य उरगत्व प्राप्यानेकसत्त्वव्यापा–दनपरो दावानलदग्धदेहो मृत्वा तस्यामेव पकप्रभाया पृथिव्या किञ्चिदू–नदशसागरोपमायुर्नारको भूत्वा तत उद्वृत्त, तिर्यक्षु आहिण्डच तस्मिन्नेव हस्तिनापुरे इन्द्रनाम्नो वृद्धश्रेष्ठिनो नन्दिमत्या भार्याया. कुक्षौ पुत्रतयो–पपन्न इति । उचितसमये जातावावाम् । प्रतिष्ठापिते

नामाइं-मज्झ वीरदेवो, इयरस्स दोणगो त्ति । पत्ता य कुमारभावं, समप्पिया य लेहायरियस्स । जाया य अम्हाणं पुव्ववण्णिया चेव पिई। तओ गहियकलाकलावेण मए पडिवन्नो माणभङ्गगुरुसमीवे जिणदेसिओ धम्मो, ममोवयारवञ्चणकुसलेण दव्वओ दोणएणावि । तओ य मे धम्माणुराएण तप्पभिइ त पइ समुप्पन्ना थिरयरा पिई । समप्पियं से पभूय दविणजायं । भणिओ य एसो-'ववहरह अणिन्दिएण मग्गेण ।' तओ सो ववहरिउमारद्धो । विढत्त च तेण पभूयं दविणजाय । एत्थ-न्तरम्मि पुव्वकयपम्मवासणादोसेण जाओ से ममोवरि अहिगो वञ्च-णापरिणामो । चिन्तियं च तेणं-अज्जिय पभूय दविणजायं, भागिओ य वीरदेवो एयस्स, ता केण उण उवाएण वञ्चियव्वो एसो, न य मुणइ जहट्ठिय णे कोइ ववहारं । ता किं अवलम्बामि ? अहवा एयम्मि परिपन्थगे न मे अलियवयण निव्वहइ । ता वावाएमि एय । तओ जमह भणिस्सामि, त चेव अग्घिस्सइ त्ति सपहारिऊण पारद्धो तेण समुवयारो । काराविओ महन्तो पासाओ, उवरिभूमिभाए य तस्स अणिय-मियखीलजाओ निज्जूहगो । चिन्तिय च तेण । वीरदेव पासायपवेस-निमित्तं निमन्तिऊण दसेमि से निज्जूहगं । तओ सो रम्मदसणीययाए निज्जूहगस्स सहसा आरोहइस्सइ । तओ य तन्निवडणेण निवडिओ समाणो न भविस्सइ त्ति । एव च कए समाणे लोयवाओ वि परिह-रिओ होइ । सपाडयं तेण जहासमीहिय । भुत्तुत्तरकालमि य आरूढा दुवे वि अम्हे सपरिवारा पासाय । एत्थन्तरमि य पणट्ठा से मई । मम दसणनिमित्त केवलो चेवारूढो निज्जूहग । जाव य नारोहामि अहयं, ताव निवडिओ । हाहारव करेमाणो समोइण्णो अहय जाव दिट्ठो पञ्च-त्तमुवगओ दोणगो त्ति । समुप्पन्नो मे निव्वेओ । चिन्तिय मए । धिर-त्थु जीवलोयस्स, एवमवसाण ससारचेट्ठियं । तओ अह तस्स मयकिच्चं काऊण तन्निवेएण च्चेव पडिवन्नो माणभङ्गगुरुसमीवे समणलिङ्ग । परिवालिऊण अहाउयं उववन्नो हेट्ठिमोवरिमगेवेज्जए किंचूणपणुवीससा-गरोवमाऊ देवो, इयरो वि दोणओ तहाविहरुद्दज्झाणोवगओ धूमप्पभाए पुढवीए दुवालससागरोवमाऊ नारगो त्ति ॥ तओ अह सुराउयमणुभुञ्जिऊण

नाम्नी-मम वीरदेव, इतस्य द्रोणक इति । प्राप्तौ च कुमारभावम्, समर्पितौ च लेखाचार्यस्य । जाता चावयोः पूर्ववर्णिता एव प्रीतिः । ततो गृहीतकलाकलापेन मया प्रतिपन्नो मानभङ्गगुरुसमीपे जिनदेशितो धर्मः, ममोपचारवञ्चनाकुशलेन द्रव्यतो द्रोणकेनापि । ततश्च मे धर्मानुरागेण तत्प्रभृति तं प्रति समुत्पन्ना स्थिरतरा प्रीतिः । समर्पित तस्य प्रभूतं द्रविणजातम् । भणितश्च एषः-व्यवहरत अनिन्दितेन मार्गेण । तत स व्यवहर्तु मारब्धः । अर्जित च तेन प्रभूत द्रविणजातम् । अत्रान्तरे पूर्वकृतकर्मवासनादोषेण जातस्तस्य ममोपरि अधिको वञ्चनापरिणाम । चिन्तित तेन-अर्जितं प्रभूत द्रविणजातम्, भागिकश्च वीरदेव एतस्य, तत केन पुनरुपायेन वञ्चयितव्य एष, न च जानाति यथास्थितमावयोः कोऽपि व्यवहारम् । ततः किमवलम्बे ? अथवा एतस्मिन् परिपन्थिनि न मेऽलीकवचान निवहति, ततो व्यापादयाम्येतम् । ततो 'यदहं भणिष्यामि, तदेव अहिष्यति' इति सप्रधार्य प्रारब्धस्तेन समुपचार । कारितो महान् प्रासाद, उपरि भूमिभागे च तस्य अनियमितकीलजालो निर्यूहक. । चिन्तित च तेन-वीरदेवं प्रासादप्रवेशनिमित्त निमन्त्र्य दर्शयामि तस्य निर्यूहकम् । ततः स रम्यदर्शनीयतया निर्यूहकस्य सहसा आरोक्ष्यति । ततश्च तन्निपतनेन निपतित सन् न भविष्यति (जीविष्यति) इति । एव च कृते सति लोकवादोऽपि परिहृतो भवति । सपादितं च तेन यथासमाहितम् । भुक्तोत्तरकाले चारूढौ द्वावपि आवां सपरिवारौ प्रासादम् । अत्रान्तरे च प्रनष्टा तस्य मतिः । मम दर्शननिमित्तं केवल एवारूढो निर्यूहकम् । यावच्च नारोहाम्यह तावन्निपतित । हाहारव कुर्वन् समवतीर्णोऽह यावद्दृष्टो पञ्चत्वमुपगतो द्रोणक इति। समुत्पन्नो मे निर्वेद । चिन्तित मया-धिगस्तु जीवलोकस्य, एवमवसानं ससारचेष्टितम् । ततोऽहं तस्य मृतकृत्य कृत्वा तन्निर्वेदनैव प्रतिपन्नो मानभङ्गगुरुसमीपे श्रमणलिङ्गम् । परिपाल्य यथाऽऽयुरुपपन्नोऽधस्तनोपरितनग्रैवेयके किञ्चिदूनपञ्चविंशतिसागरोपमायुर्देवः, इतरोऽपि द्रोणकस्तथाविधरौद्रध्यानोपगतो धूमप्रभाया पृथिव्यां द्वादशसागरोपमायुर्नारक इति । ततोऽह सुरायुरनुभुज्य

चुओ समाणो इहेव जम्बुद्दीवे दीवे एत्थ चेव विजए चम्पावासे नयरे माणिभद्दस्स सेट्ठिस्स धारिणीए भारियाए कुच्छिसि पुत्तत्ताए उववन्नो, जाओ य उचियसमएण। पइट्ठाविय मे नाम पुण्णभद्दो त्ति। पढम च किल मए घोसमुच्चारयन्तेण 'अमर' त्ति सलत्त। अओ दुइय पि मे नाम अमरगुत्तो त्ति। सान्नयगिहुप्पत्तीए य आ बालभावाओ चेव पवन्नो मए जिणदेसिओ धम्मो। एत्थन्तरम्मि य इयरो वि तओ नरगाओ उव्वट्टिऊण सयभुरमणे समुद्दे महामच्छो भविय अच्चन्तपावदिट्ठी मओ समाणो तीए चेव धूमप्पभाए दुवालससागरोवमाऊ चेव नारगो होऊण उव्वट्टो समाणो नाणातिरिएसु आहिण्डिय तम्मि चेव नयरे नन्दावत्तस्स सेट्ठिस्स सिरिनन्दाए भारियाए कुच्छिसि धूयत्ताए उववन्नो जाया य उचियसमएण। पइट्ठाविय च से नाम नन्दयन्ति त्ति। पत्ता य जोव्वण, विइण्णा य मज्झं। निव्वत्तिय पाणिग्गहण। समुप्पन्नो य मे त पइ सिणेहो, तीए वि य तहेव। एव च विसयसुहमणुहवन्ताण गओ कोइ कालो। पुव्वकयकम्मदोसेण य से ममोवरि वञ्चणापरिणामो नावेइ, जेण समप्पियसव्वघरसारा वि मायाए ववहरइ। साहिय च मे परियणेण, न उण पत्तियामि त्ति। अन्नया य साहियं मे तीए जहा पणट्ठ सव्वसार कुण्डलजुयल। तं पुण सय चेव अवहरिऊण समाउलीभूया। भणिया य तओ मए। सुन्दरि, थेवमेयं ति, किमेद्दहमेत्तेण सरम्भेण। अन्नं ते कुण्डलजुयल कारावेमि। कराविय कुण्डलजुयल। अइक्कन्तेसु कइयवदिणेसु अब्भङ्गणवेलाए समप्पिय से नामङ्कियमुद्दारयण, संगोविय च तीए निययाभरणकरण्डए वत्ते य ण्हाणभोयणसमए काऊणमङ्गरायं परिगेण्हिऊण तम्बोल असजायासंकेण चेव तओ करण्डगाओ सइं चेव गहियं मए मुद्दारयणं। दिट्ठं च पुव्वनट्ठं सव्वसार कुण्डलजुयल। जाया य मे चिन्ता 'किमेय पुणो लद्धं' ति। एत्थन्तरम्मि ससज्झसा विय आगया नन्दयन्ती। दिट्ठं च तीए मज्झ हत्थंमि मुद्दारयणं। विलिया सा। लक्खिओ से भावो। तओ अह सिग्घमेव निग्गओ गेहाओ। चिन्तियं च तीए-दिट्ठं इमेण कुण्डलजुयल ता किमेत्थ कायव्व। जाय मे लहुत्तं, पणट्ठो एसो वि। ता जाव सयणवग्गे वि मे लाघवं न उप्पज्जइ,

च्युत सन् इहैव जम्बूद्वीपे द्वीपे अत्रैव विजये चम्पावर्पे नगरे मणिभद्र-स्य श्रेष्ठिनो धारिण्या भार्याया: कुक्षौ पुत्रतयोपपन्न, जातश्चोचितसम-येन । प्रतिष्ठापित मे नाम पूर्णभद्र इति । प्रथम च किल मया घोष-मुच्चारयता 'अमर' इति सलपितम्, अतो द्वितीयमपि मे नाम अमरगुप्त इति । श्रावकगृहोत्पत्त्या च आबालभावादेव प्रपन्नो मया जिनदेशितो धर्म । अत्रान्तरे च इतरोऽपि ततो नरकादुद्वृत्त्य स्वयभूरमणे समुद्रे महामत्स्यो भूत्वा अत्यन्तपापदृष्टिर्मृत सन् तस्यामेव धूमप्रभायां द्वादश-सागरोपमायुरेव नारको भूत्वा उद्वृत्तः सन् नानातिर्यक्षु आहिण्ड्य तस्मि-न्नेव नगरे नन्दावर्तस्य श्रेष्ठिन श्रीनन्दाया भार्याया. कुक्षौ दुहितृतयोप-पन्नः, जाता चोचितसमयेन । प्रतिष्ठापित च तस्या नाम नन्दयन्ती इति । प्राप्ता च यौवनम्, वितीर्णा च मह्यम । निर्वर्तित पाणिग्रहणम् । समुत्पन्नश्च मे तां प्रति स्नेहः, तस्या अपि च तथैव । एव च विषय-सुखमनुभवतोर्गतः कोऽपि काल । पूर्वकृतकर्मदोषेण च तस्या ममोपरि वञ्चनापरिणामो नापैति, येन समर्पितसर्वगृहसाराऽपि मायया व्यवह-रति । भणित च मम परिजनेन, न पुनः प्रत्येमीति । अन्यदा च भणित मे तया, यथा-प्रनष्ट सर्वसार कुण्डलयुगलम्, या तत्पुनः स्वयमेवापहृत्य समाकुलीभूता । भणिता च ततो मया—सुन्दरि ! स्तोकमेतदिति, किमेतावन्मात्रेण सरम्भेण ?। अन्यत्ते कुण्डलयुगल कारयामि । कारित च कुण्डलयुगलम् । अतिक्रान्तेपु कतिपय दिनेपु अभ्यङ्गनवेलायां सम-र्पित तस्या नामाङ्कित मुद्रारत्नम्, सगोपित च तया निजकाभरणकर-ण्डके । वृत्ते च स्नानभोजनसमये कृत्वाऽङ्गराग परिगृह्य ताम्बूलसजाता-शङ्केणैव तत करण्डकात् स्वयमेव गृहीत मया मुद्रारत्नम् । दृष्ट च पूर्वनष्ट सर्वसारं कुण्डलयुगलम् । जाता च मे चिन्ता 'किमेतत्पुनर्लब्धम्' इति । अत्रान्तरे ससाध्वसा इवागता नन्दयन्ती । दृष्ट च तया मम हस्ते मुद्रारत्नम् । व्रीडिता सा लक्षितस्तस्या भाव. । ततोऽह शीघ्रमेव निर्गतो गेहात् । चिन्तित च तया-दृष्टमनेन कुण्डलयुगलम्, ततः किमत्र कर्त-व्यम् । जात मे लघुत्वम्, प्रनष्ट एषोऽपि । ततो यावत्स्वजनवर्गेऽपि मे लाघव नोत्पद्यते

ताव वावाएमि एयं ति । एसो य एत्थ उवाओ, सज्जघायण से कम्म-णजोग पउञ्जामि । कओ तीए केवलाए चेव अणेयमरणावहदव्वसंजो-एण जोगो । सठवन्ती य तमेगदेसे डक्का भुयङ्गमेण । साहिय च मे पुरोहिएण रुद्ददेवेण । गओ अहं ससम्भन्तो गिह । दिट्ठा य कसिणम-ण्डलविसवावियसरीरा जीवियमेत्तसेसा नन्दयन्ती । त च तहाविह दट्-ठूण समुप्पन्ना मे चिन्ता । धिरत्थु माइन्दजालसरिसस्स जीवलोयस्स । वाहजलभरियलोयणेण च सगग्गयक्खरं भणिया मए । सुन्दरि, किं ते वाहइ ? जाव न जपइ त्ति । तओ विसण्णो अह, पणट्ठा जीवियासा । तहावि 'गारुडिया एत्थ पमाण, अचिन्ता मन्तसत्ति' त्ति सद्दाविया गारु-डिया । दिट्ठा य तेहिं । विसण्णा य ते । भणिओ य णेहिं । सत्थवा-हपुत्त, कालदट्ठा खु एसा न गोयरा मन्तस्स । ता न कुप्पियव्व तुमए त्ति भणिऊण निग्गया गारुडिया । तओ अक्कन्दणविलवणवावडस्स मे परियणस्स विमुक्का जीविएण, कय से उद्धदेहिय तओ अहं तन्निव्वेएण चेव पवड्ढमाणसवेगो 'धिरत्थु जीवलोयस्स' त्ति परिचिन्तऊण य असारयं चइऊण किलेसायासकारिण सङ्ग पवन्नो पव्वज्ज ति । सा उण तव-स्सिणी तहा मरिऊण समुप्पन्ना तमप्पहाभिहाणाए नयरपुढवीए । आउं च से इगवीसं सागराइं । एयं मे चरिय ति ।। एयं च सोऊण सजाओ रायनायराणं निव्वेओ । पुच्छिय च राइणा । भयव, को उण तीए भवओ य परिणामो भविस्सइ ?। भयवया भणियं । तीसे अणन्तससा-रावसाणे मुत्ती, मम उण इहेव जम्मे त्ति ।

तओ अहमेयमायण्णिऊण तस्स चेव भयवओ समीवे अणेयना-यरजणपरिगओ पवन्नो पव्वज्जं । एय मे विसेसकारण ति ।

सीहकुमारेण भणियं-सोहणं ते निव्वेयकारण । अह कइगइ-समावन्नरूवो उण एस ससारो, किंविसिट्ठाणि वा इह सारीरमाणसाणि मुहदुक्खाणि अणुहवन्ति पाणिणो, को वा एत्थ संसारचारगविमोयण-समत्थो भयवं ! धम्मो त्ति ? धम्मघोसेण भणिय—वच्छ ! सुण, जं तए पुच्छियं—

तावद् व्यापादयाम्येतमिति । एष चात्रोपायः, सद्यो घातनं तस्य कार्मणयोग प्रयुञ्जे । कृतस्तया केवलया चैव अनेकमरणावहद्रव्यसयोगेन योग । सस्थापयन्ती च तमेकदेशे दष्टा भुजङ्गमेन । भणित च मे पुरोहितेन रुद्रदेवेन । गतोऽहं ससभ्रान्तो गृहम्, दृष्टा च कृष्णमण्डलविशव्याप्तशरीरा जोवितमात्रशेषा नन्दयन्ती । ता तथाविधा दृष्ट्वा समुत्पन्ना मे चिन्ता, धिगस्तु मायेन्द्रजालसदृश जीवलोकम् । बाष्पजलभृतलोचनेन च सगद्गदाक्षर भणिता मया—सुन्दरि ! कि ते बाधते ? यावन्न जल्पति इति । ततो विषण्णोऽहं, प्रनष्टा जीविताशा । तथाऽपि 'गारुडिका अत्र प्रमाणम्, अचिन्त्या मन्त्रशक्ति' इति शब्दायिता गारुडिका । दृष्टा च तैः । विषण्णाश्च ते । भणितश्च तैः – सार्थवाहपुत्र ! कालदष्टा खलु एषा, न गोचरा मन्त्रस्य । ततो न कुपितव्य त्वयेति भणित्वा निर्गता गारुडिका. । तत आक्रन्दनविलपनव्यापृतस्य मे परिजनस्य विमुक्ता जीवितेन, कृत तस्यौर्ध्वदैहिकम् । ततोऽहं तन्निर्वेदेनैव प्रवर्धमानसवेगो 'धिगस्तु जीवलोकस्य' इति परिचिन्त्य च असार त्यक्त्वा क्लेशायासकारिणं सङ्ग प्रपन्नः प्रव्रज्यामिति । सा पुनः तपस्विनी तथा मृत्वा समुत्पन्ना तम प्रभाभिधानायां नरकपृथिव्याम् । आयुश्च तस्या एकविंशतिः सागराणि । एतन्मे चरितमिति ॥ एतच्च श्रुत्वा सजातो राजनागराणा निर्वेदः । पृष्ट च राज्ञा—भगवन् ! क॰ पुनस्तस्या. भवतश्च परिणामो भविष्यति । भगवता भणितम्–तस्या अनन्तससारावसाने मुक्तिः, मम पुनरिहैव जन्मनीति ॥

ततोऽहमेतदाकर्ण्य तस्यैव भगवतः समीपे अनेकनागरजनपरिगत. प्रपन्नः प्रव्रज्याम् । एतन्मे विशेषकारणमिति ॥

सिहकुमारेण भणितम्–शोभन ते निर्वेदकारणम् । अथ कतिगतिसमापन्नरूपः पुनरेष ससारः, किंविशिष्टानि वा इह शरीरमानसानि सुखदु.खानि अनुभवन्ति प्राणिनः, को वाऽत्र ससारचारकविमोचनसमर्थो भगवन् ! धर्म इति ?। धर्मघोषेण भणितम्—वत्स ! शृणु, यत्त्वया पृष्टम्—

एत्थ ताव चउगइसमावन्नरूवो ससारो । गईओ पुण इमाओ । त जहा-नरयगई, तिरियगई, मणुयगई, देवगई । सुहदुक्खचिन्ताए, पुण, कुओ ससारसमावन्नाणं जाइजरामरणपीडियाणं रागाइदोसगहियाण विसयविसावहियचेयणाणं च सत्ताणं सुहं ति ? न किंचि सुहं, बहुं च दुक्खं । एत्थ मे सुण नायं—

जह नाम कोइ पुरिसो घणिय दालिद्ददुक्खसंतत्तो ।
मोत्तूण निय देस परदेसं गन्तुमारद्धो ॥
लङ्घेऊण य देस गामागरनयरपट्टणसणाहं ।
थेवदियहेहि नवर कहंचि पन्थाउ पब्भट्ठो ॥

पत्तो य साल-सरल-तमाल-तालालि-बउल-तिलय-निचुल-अंकोल्ल-कलम्ब-वञ्जुल-पलास-सल्लई-तिणिस--निम्ब-कुडय--नग्गोह--खइर-सज्ज-ऽज्जुण-म्ब-जम्बुयनियरगुविल दरियमयणाहखरनहरसिहरा-वायदलियमत्तमायङ्गकुम्भत्थलगलियवहलरुहिरारत्तमुत्ताहलकुसुमपयरच्चिय-वित्थिण्णभूमिभाग वणकोल-सरह-वसह-पसय-वग्घ-तरच्छ-ऽच्छभल्ल-जम्बुय-गय-गवय-सीह-गण्डयाइरुद्दुदुट्ठसावयभीसण दरियवणमहिसजूहस-मालोडियासेसपल्ललजलुच्छलन्तुत्तत्थजलयरमुक्कनायवहिरियदिस महा-डविं । तीए य तण्हाछुहाभिभूएण दरियवणदुट्ठसावयरवायण्णणुत्तत्थलो-यणेण दीहपहपरिस्समुप्पन्नसेयजलधोयगत्तेण मूढदिसाचक्क विसमपहखल-न्तपयसचार परिब्भमतेण तेण दिट्ठो य पलयघणवन्द्रसन्निहो निट्ठविया-णेयपहियजणवड्ढिउच्छाहो गइब्भगज्जियरवावूरियवियडरण्णुद्देसो मग्गओ तुरियतुरिय धावमाणो उद्धीकउद्दण्डसुण्डो वणहत्थि त्ति । तह य निसि-यकरवालवावडग्गहत्था विगरालवयणकाया भीमट्टट्टहाससजुत्ता असियव-सणा पुरओ महादुट्ठरक्खसि त्ति । तओ य ते दट्ठूण मच्चुभयवेविरङ्गो अवलोइयसयलदिसामण्डलो पुव्वदिसाए उदयगिरिसिहरसन्निह निरुद्धसि-द्धगन्धव्वमिहुणगयणपयारमग्गं महन्तं नग्गोहपायवं अवलोइऊण परि-चिन्तिउ पयत्तो । कह ?

अत्र तावच्चतुर्गतिसमापन्नरूपः संसारः । गतय. पुनरिमाः । तद्यथा–नरकगति, तिर्यग्गतिः, मनुजगतिः, देवगतिः । सुखदुःखचिन्तया पुनः, कुतः संसारसमापन्नाना जातिजरामरणपीडिताना रागादिदोषगृहीतानां विषयविपापहृतचेतनानां च सत्त्वानां सुखम—इति ? न किंचित्सुखम्, वहु च दु:खम् । अत्र मम शृणु ज्ञातम्—

यथा नाम कोऽपि पुरुषो भृश दारिद्रयदु:खसतप्त ।
मुक्त्वा निज देश परदेश गन्तुमारब्ध. ॥
लङ्घित्वा च देशं ग्रामाकरनगरपत्तनसनाथम् ।
स्तोकदिवसैर्नवर कथंचित्पथः प्रभ्रष्टः ॥

प्राप्तश्च साल–सरल–तमाल–तालालि–वकुल–तिलक–निचुलाऽङ्कोल्ल–कदम्ब–वञ्जुल–पलाश–सल्लकि–तिनिश–निम्ब–कुटज–न्यग्रोध–खदिर–सर्जार्जुनाम्र–जम्बूकनिकरगुपिला दृप्तमृगनाथखरनखरशिखरापात्तदलितमत्तमातङ्गकुम्भस्थलगलितबहलरुधिरारक्तमुक्ताफलकुसुमप्रकरार्चितविस्तीर्णभूमिभागां वनकोल–शरभ–वृषभ–पसय–व्याघ्र–तरच्छाऽच्छभल्ल–जम्बूक–गज–गवय–सिंह–गण्डकादिरुष्टदुष्टश्वापदभीषणां दृप्तवनमहिषयूथसमालोडिताऽशेषपल्वलजलोच्छलदुत्त्रस्तजलचरमुक्तनादबधिरित—दिश महाटवीम । तस्या च तृष्णा–क्षुदभिभूतेन दृप्तवनदुष्टश्वापदरवाकर्णनोत्त्रस्तलोचनेन दीर्घपथपरिश्रमसमुत्पन्नस्वेदजलधौतगात्रेण मूढदिक्चक्र विषमपथस्खलत्पदसचार परिभ्रमता तेन दृष्टश्च प्रलयघनवृन्दसन्निभो निष्ठापितानेकपथिकजनवर्द्धितोत्साहो गर्दभगर्जितरवापूरितविकटारण्योद्देशो मार्गतः त्वरितत्वरितं धावन् ऊर्ध्वीकृतोद्दण्डशुण्डो वनहस्तीति । तथा च निशितकरवालव्यापृताग्रहस्ता विकरालवदनकाया भीमाट्टहाससयुक्ता असितवसना पुरतो महादुष्टराक्षसी इति । ततश्च ता दृष्ट्वा मृत्युभयवेपमानाङ्गोऽवलोकितसकलदिग्मण्डल. पूर्वदिशि उदयगिरिशिखरसन्निभ निरुद्धसिद्धगान्धर्वमिथुनगगनप्रचारमार्गं महान्त न्यग्रोधपादपमवलोक्य परिचिन्तयितुं प्रवृत्तः । कथम् ?

जइ नाम कहवि एयं रवितुरयखुरग्गछिन्नघणपत्तं ।
नग्गोहमारुहेज्जा छुट्टेज्ज तओ गइन्दस्स ॥
इय चिन्तिऊण भीओ कुससूईभिन्नपायतलमग्गो ।
वेगेण धाविऊण वियड वडपायवं पत्तो ॥
त पेच्छिउ विसण्णो नग्गोहं गयणगोयराण पि ।
दुल्लङ्घणिज्जमुत्तुङ्गखन्धमारुहिउमसमत्थो ॥
ताव वणदुट्ठहत्थि मन्थरगण्डालिजालपामुक्क ।
हुलियं समल्लिन्तं दट्ठुं वडपायवुद्देसं ॥
अब्भहियभयपवेविरसव्वङ्गो वुण्णवयणतरलच्छं ।
एतो इओ नियन्तो पेच्छइ कूवं तणोछन्नं ॥
अह मरणभीरुएणं नग्गोहासन्नजिण्णकूवम्मि ।
अप्पा निरावलम्बं मुक्को खणजीवलोहेण ॥
उत्तुङ्गभित्तिजाओ सरथम्भो तम्मि तत्थ य विलग्गो ।
पडणाभिघायकुविए पेच्छइ य भुयङ्गमे भीमे ॥
चउसु वि तडीसु दरिएविसलवसवलियनयणसिहिजाले ।
उब्भडभडाकराले पवेल्लिरङ्गे डसिउकामे ॥
फुंकारपवणपिसुणियमवयच्छियवयणमयगरमहो य ।
दिग्गयकरोरुकायं कसिण रत्तच्छिवीभच्छं ॥
जावेसो सरथम्भो ताव महं जीविय त्ति चिन्तन्तो ।
अवयच्छइ उद्धमुहो पेच्छइ य सुतिक्खदाढिल्ले ॥
धवलकसिणे य तुरिय दुवे तहि मूसए महाकाए ।
निच्चं वावडवयणे छिन्दन्ते तस्स मूलाइ ॥
ताव वणवारणेण य विज्झाइं नरं अपावमाणेण ।
कुविएण विइण्णाइं घणिय नग्गोहरुक्खम्मि ॥
सचालियम्मि तम्मि य अवडोवरि वियडसाहसभूयं ।
खुडिऊण तम्मि पडियं महुजालं जिण्णकूवम्मि ॥
तो कुवियदुट्ठमहुयरिनियरडसिज्जन्तसव्वगत्तस्स ।
सीसम्मि निवडिया कह वि नवरं जोएण महुविन्दु ॥

यदि नाम कथमप्येत रवितुरगखुराग्रच्छिन्नघनपत्रम् ।
न्यग्रोधमारोहेयं मुच्येय ततो गजेन्द्रात् ॥
इति चिन्तयित्वा भीतः कुशसूचिभिन्नपादतलमार्ग. ।
वेगेन धावित्वा विकट वटपादप प्राप्तः ॥
त प्रेक्ष्य विषण्णो न्यग्रोधं गगनगोचराणामपि ।
दुर्लङ्घनीयमुत्तुङ्गस्कन्धमारोढुमसमर्थः ॥
तावद् वनदुष्टहस्तिन मन्थरगण्डालिजालप्रमुक्तम् ।
शीघ्रं समालीयमानं दृष्ट्वा वटपादपोद्देशम् ॥
अभ्यधिकभयप्रवेरमानसर्वाङ्गस्त्रस्तवदनतरलाक्षम् ।
इत इतो निर्यन् प्रेक्षते कूप तृणोच्छन्नम् ॥
अथ मरणभीरुकेन न्यग्रोधासन्नजीर्णकूपे ।
आत्मा निरावलम्बं मुक्तः क्षणजीवलोभेन ॥
उत्तुङ्गभित्तिजात. शरस्तम्भस्तस्मिन् तत्र च विलग्नः ।
पतनाभिघातकुपितान् पश्यति च भुजङ्गमान् भीमान् ॥
चतसृष्वपि तटीषु दृप्तान् विषलवसवलितनयनशिखिजालान् ।
उद्भटस्फटाकरालान् प्रवेल्लमानाङ्गान् दशितुकामान् ॥
फुत्कारपवनपिशुनित प्रसारितवदनमजगरमधश्च ।
दिग्गजकरोरुकायं कृष्णं रक्ताक्षिबीभत्सम् ॥
यावदेप शरस्तम्भस्तावन्मम जीवितमिति चिन्तयन् ।
अवगच्छति ऊर्ध्वमुखः दष्ट्रालौ च सुतीक्ष्णप्रेक्षते ॥
धवलकृष्णौ च त्वरित द्वौ तत्र मूषकौ महाकायौ ।
नित्य व्यापृतवदनौ छिन्त्तःतस्य मूलानि ॥
तावद् वनवारणेन च अभिघातनानि नरमप्राप्नुवता ।
कुपितेन वितीर्णानि घन न्यग्रोधवृक्षे ॥
सचालिते तस्मिंश्च अवटोपरिविकटशाखासंभूतम् ।
त्रुटित्वा तस्मिन् पतित मधुजाल जीर्णकूपे ॥
तत. कुपितदुष्टमधुकरीनिकरदश्यमानसर्वगात्रस्य ।
शीर्षे निपतिता. कथमपि नवर योगेन मधुविन्दव. ॥

ओयलिऊण य वयणं कहवि पविट्ठा उ उत्तिमङ्गाओ ।
खणमासाइउमिच्छइ पुणो वि अन्ने निवडमाणे ॥
अगणेउमयगरोरगकरिमूसयविलयमहुयरिभयाइं ।
महुविन्दुरसासायणगेहिवसा हरिसिओ जाओ ॥
भवियजणमोहविउडणपच्चलमच्चत्थमियमुदाहरणं ।
परिगप्पियमेयस्स य उवसंहारं निसामेह ॥
जो पुरिसो सो जीवो चउगइभमणं च रण्णपरियडणं ।
वणवारणो य मच्चू निसायरिं जाण तह य जरं ॥
वडरुक्खो उण मोक्खो मरणगइन्दभयवज्जिओ नवर ।
आरुहिउ विसायउरनरेहि न य सक्कणिज्जो त्ति ॥
मणुयत्तं पुण कूवो भुयङ्गमा तह य होन्ति उ कसाया ।
खइओ जेहि मणुस्सो कज्जाकज्जाइ न मुणेइ ॥
जो वि य पुण सरथम्भो सो जोयं जेण जीवइ जीवो ।
तं किण्हधवलपक्खा खणन्ति दढमुन्दुरसमाणा ॥
जाओ य महुयरीओ डसन्ति त ते उ वाहिणो विविहा ।
अभिभूओ जेहि नरो खणं पि सोक्खं न पावेइ ॥
घोरो य अयगरो जो सो नरओ विसयमोहियमणो त्ति ।
पडिओ उ जम्मि जीवो दुक्खसहस्साइं पावेइ ॥
महुविन्दुसमे भोए तुच्छे परिणामदारुणे घणियं ।
इय वसणसंकडगओ विबुहो कहमहइ भोत्तुं जे ? ॥
तो भे भणामि सावय ! विसयसुहं दारुणं मुणेऊण ।
चवलतडिविलसियं पिव मणुयत्तं भङ्गुर तह य ॥
सुयणसमागमसोक्खं चवलं जोव्वण पि य असारं ।
सोक्खनिहाणम्मि सया धम्मम्मि मइं दढ कुणसु ॥

सीहकुमारेण भणियं-भयव ! केरिसो धम्मो त्ति ? भगवया भणियं—सुण, खमाइगो । भणिय च—

खन्ती य मद्दवज्जवमोत्ती तवसंजमे य वोद्धव्वे ।
सच्चं सोयं आकिचणं च वम्भं च जइधम्मो ॥

अवतीर्यं च वदन कथमपि प्रविष्टास्तूत्तमाङ्गात् ।
क्षणमास्वादितुमिच्छति पुनरपि अन्यान् निपततः ॥
अगणयित्वाऽजगरोरगकरिमूषकविलयमधुकरीभयानि ।
मधुबिन्दुरसास्वादनगृद्धिवशाद् हर्षितो जातः ॥
भविकजनमोहविकुटनप्रत्यलमत्यर्थमिदमुदाहरणम् ।
परिकल्पितमेतस्य च उपसहारं निशामयत ॥
यः पुरुष स जीवः चतुर्गतिभ्रमण चारण्यपर्यटनम् ।
वनवारणश्च मृत्युर्निशाचरी जानाहि तथा च जराम् ॥
वटवृक्षः पुनर्मोक्षो मरणगजेन्द्रभयवर्जितो नवरम् ।
आरोढु विषयातुरनरैः न च शकनीय इति ॥
मनुजत्व पुन· कूपो भुजङ्गमास्तथा च भवन्ति तु कषाया ।
खादितो यैर्मनुष्यः कार्याकार्यं न जानाति ॥
योऽपि च पुन शरस्तम्वः स जीवित येन जीवति जीवः ।
तत्कृष्णधवलपक्षौ खनतो दृढमुन्दुरसमानौ ॥
जाताश्च मधुकर्यो दशन्ति त ते व्याधयो विविधाः ।
अभिभूतश्च यैर्नरो क्षणमपि सौख्यं न प्राप्नोति ॥
घोरश्चाजगरो यः स नरको विषयमोहितमना इति ।
पतितस्तु यस्मिन् जीवो दु.खसहस्राणि प्राप्नोति ॥
मधुबिन्दुसमान् भोगान् तुच्छान् परिणामदारुणान् घनम् ।
इति व्यसनसकटगतो विबुध कथं काङ्क्षति भोक्तु यान् ?॥
ततो भवन्त भणामि श्रावक ! विषयसुख दारुण ज्ञात्वा ।
चपलतडिद्विलसितमिव मनुजत्व भङ्गुर तथा च ॥
स्वजनसमागमसौख्यं चपलं यौवनमपि चासारम् ।
सौख्यनिधाने सदा धर्मे मतिं दृढं कुरु ॥

सिंहकुमारेण भणितम्—भगवन् ! कीदृशो धर्म इति ?। भगवता भणितम् शृणु, क्षमादिकः । भणित च—

क्षान्तिश्च मार्दवार्जवमुक्तितप सयमाश्च वोद्धव्याः ।
सत्य शौचमाकिञ्चन्य च ब्रह्म च यतिधर्म· ॥

तत्थ खन्ती नाम सम्मन्नाणपुव्वगं वत्थुसहावालोयणेण कोहस्स अणुदयो, उदयपत्तस्स वा विफलीकरणं । एवं मद्दवया वि माणस्स अणुदओ, उदयपत्तस्स वा विफलीकरण । एवमज्जवया वि मायाए अणुदयो, उदयपत्ताए वा विफलीकरणं । एव मुत्ती वि लोहस्स अणुदयो, उदयपत्तस्स वा विफलीकरणं ति तवो पुण दुविहो-बाहिरो अब्भिन्तरो य । बाहिरओ अणसणाइगो । भणिय च—

अणसणमूणोयरिया वित्तीसंखेवओ रसच्चाओ ।
कायकिलेसो सलीणया य बज्झो तवो होइ ॥

अब्भिन्तरओ पुण पायच्छित्ताइओ । तं जहा—

पायच्छित्तं विणओ वेयावच्चं तहेव सज्झाओ ।
झाण उस्सग्गो वि य अब्भिन्तरओ तवो होइ ॥

संजमो य सत्तरसविहो । भणिय च—

पञ्चासववेरमण पञ्चिन्दियनिग्गहो कसायजओ ।
दण्डत्तिगविरई संजमो उ इय सत्तरसभेओ ॥

सच्चं पुण निरवज्जभासण । सोय च सजम पइ निरुवलेवया । आकिंचणं च धम्मोवगरणाइरेगेणमपरिग्गहया । बम्भ च अट्ठारसविहा-ऽबम्भवज्जण ति । एसो एवभूओ जइधम्मो त्ति ॥

एय च सोऊण आविब्भूयसम्मत्तपरिणामेण भावओ पवन्नसावयधम्मेण भणिय सीहकुमारेण—भगव ! सोहणो जइधम्मो एय काउमसमत्थेण ताव किं कायव्वं ति ? धम्मघोसेण भणियं-'सावयत्तण' । केरिसं तयं ति ? कहियं सम्मत्तमाइय । पवन्नो दव्वओ वि । तओ अप्पाणं कयकिच्चं मन्नमाणो कचि वेलं पज्जुवासिऊण धम्मघोस वन्दिऊण य सविणयं पविट्ठो नयर । साहिओ तेण वुत्तन्तो कुसुमावलीए । पवन्ना य एसा वि कहचि कम्मक्खओवसमओ सावयधम्मं । अणुदियहं च धम्मघोसगुरुपज्जुवासणपराण अइक्कन्तो मासो । मावियाणि

तत्र क्षान्तिर्नाम सम्यग्ज्ञानपूर्वक वस्तुस्वभावालोचनेन क्रोधस्यानुदयः, उदयप्राप्तस्य वा विफलीकरणम् । एव मार्दवमपि मानस्यानुदय', उदयप्राप्तस्य वा विफलीकरणम् । एवं आर्जवमपि मायाया अनुदयः, उदयप्राप्तायाः वा विफलीकरणम् । एव मुक्तिरपि लोभस्यानुदय', उदयप्राप्तस्य वा विफलीकरणम् । तपः पुनर्दिविधम्-बाह्यमाभ्यन्तरञ्च । बाह्यमनशनादिकम् भणित च—

अनशनमूनोदरिका वृत्तिसक्षेपो रसत्याग' ।
कायक्लेश सलीनता च बाह्य तपो भवति ॥

आभ्यन्तर पुन प्रायश्चित्तादिकम् । तद् यथा—

प्रायश्चित्त विनयो वैयावृत्यं तथैव स्वाध्याय' ।
ध्यानमुत्सर्गोऽपि च आभ्यन्तर तपो भवति ॥

सयमश्च सप्तदशविधः । भणित च—

पञ्चास्रवविरमण पञ्चेन्द्रियनिग्रहः कषायजय' ।
दण्डत्रिकविरतिः संयमस्तु इति सप्तदशभेदः ॥

सत्य पुनर्निरवद्यभाषणम् । शोच च सयम प्रति निरुपलेपता । आकिञ्चन्य च धर्मोपकरणातिरेकेणापरिग्रहता । ब्रह्म च अष्टादशविधाऽब्रह्मवर्जनमिति । एष एवभूतो यतिधर्म इति ॥

एवं च श्रुत्वाऽऽविर्भूतसम्यक्त्वपरिणामेन भावतः प्रपन्नश्रावकधर्मेण भणितं सिंहकुमारेण—भगवन् ! शोभनो यतिधर्म' । एव कर्तुमसमर्थेन तावत् किं कर्तव्यम्—इति ?। धर्मघोषेण भणितम्-श्रावकत्वम् । कीदृश तदिति ? कथितं सम्यक्त्वादिकम् । प्रपन्नो द्रव्यतोऽपि । तत आत्मान कृतकृत्यं मन्यमानः काचिद् वेलां पर्युपास्य धर्मघोष वन्दित्वा च सविनयं प्रविष्टो नगरम् । भणितश्च तेन वृत्तान्तः कुसुमावल्याः । प्रपन्ना च एषाऽपि कथचिद् कर्मक्षयोपशमतः श्रावकधर्मम् । अनुदिवसं च धर्मघोषगुरुपर्युपासनपरयोरतिक्रान्तो मासः । भावितौ

जिणधम्मे । अन्नया य पुरिसदत्तो राया अभियतेयगुरुसमीवे सोऊण धम्मं अहि-सिञ्चिऊण रज्जे सीहकुमारं संजायसंवेगो सह महादेवीए सिरिकन्ताए पवन्नो मुत्तिमग्गं । सीहकुमारो वि धम्माधम्मववत्थपरिपालणरओ सयलजणम-णाणन्दयारी अणुरत्तसामन्तमण्डलो दीणाणाहकिविणजणोवयारसणायण-रई जहोइयगुणजुत्तो रायरिसी समुवजाओ त्ति । एवं च अच्चन्ताणुरत्त च पियपणइणि पिव मेइणि भुजन्तस्स अइक्कन्तो कोइ कालो । एत्थ-न्तरम्मि सो अग्गिसम्मतावसदेवो तओ विज्जुकुमारकायाओ चविऊणं संसारमाहिण्डिय अणन्तरभवे य किंपि वालतवविहाणं काऊण मोत्तूण तं देहं पुव्वकम्मवासणाविवागदोसेण समुप्पन्नो कुसुमावलीए कुच्छिंसि । दिट्ठो तीए सुमिणओ । जहा-पविट्ठो मे उयरं भुयङ्गमो, तेण च निग्ग-च्छिऊण डक्को राया निवडिओ सिङ्घासणाओ । तं च दट्ठूण सस-ज्झसा विय विउद्धा कुसुमावली । अमङ्गलं ति कलिऊण न साहिओ तीए दइयस्स । पवड्ढमाणगब्भा य तद्दोसओ चेव न वहु मन्नए नरवइ । राया य अहियं सिणेहपरवसो । भणिया य परियणेण 'सामिणि ! न जुत्तमेयं' ति । तीए भणियं—'किमहं करेमि' ? साहियं परियणेण-जहा देवं न वहु मन्नसि त्ति । तीए भणियं-नूणं एस गब्भदोसो भवि-स्सइ । अन्नहा कहमहं अज्जउत्तं न वहु मन्नेमि । अन्नया समुप्पन्नो से दोहलो, जहा-इमस्स चेव राइणो अन्ताणि खाइज्ज त्ति । चिन्तियं च तीएपावयारी मे एस गब्भो, ता अलं इमिणा । इत्थीसहावओ य भत्ता-रनेहओ य समुप्पन्नो से ववसाओ, जहा पाडेमि एयं ति । तओ आलो-चिऊण पहाणपरियणं कज्जगरुययाए अणुन्नाया तेण गब्भपरिसाडणं काउमारद्धा । न य सो निकाइयकम्मदोसेण पडइ त्ति । तओ सा अणे-गोसहपाणेण डोलहयासंपत्तीए य परिदुब्बला जाया । पुच्छिया य राइणा—सुन्दरि ! किं ते न संपज्जइ, केण वा ते खण्डिया आणा, किं वा मए पडिकूलमासेवियं, जं निव्वेएण तुमं अप्पोयगा विव कुमुइणी एवं झिज्जसि त्ति ? । तओ पडिहिययलद्धनेहं भणियं कुसुमावलीए—अज्जउत्त ! ईदिसो मे निव्वेओ, जेण चिन्तेमि 'अत्ताणयं वावाएमि' त्ति । राइणा भणियं—सुन्दरि ! किंनिमित्तो त्ति ? कुसुमावलीए भणियं-अज्जउत्त !

जिणधर्मे । अन्यदा च पुरुषदत्तो राजा अमिततेजोगुरुसमीपे श्रुत्वा धर्मं अभिषिच्य राज्ये सिंहकुमार संजातसंवेगः सह महादेव्या श्रीकान्तया प्रपन्नो मुक्तिमार्गम् । सिंहकुमारोऽपि धर्माधर्मव्यवस्थापरिपालनरत. सकलजनमनआनन्दकारी अनुरक्तसामन्तमण्डलो दीनानाथकृपणजनोपकारसपादनरतिर्यथोचितगुणयुक्तो राजर्षि· समुपजात इति । एव चात्यन्तानुरक्ता च प्रियप्रणयिनीमिव मेदिनी भुञ्जतोऽतिक्रान्त कोऽपि काल । अत्रान्तरे सोऽग्निशर्मतापसदेवस्ततो विद्युत्कुमारकायाच्च्युत्वा ससारमाहिण्डच अनन्तरभवे च किमपि बालतपोविधान कृत्वा मुक्त्वा त देह पूर्वकर्मवासनाविपाकदोषेण समुत्पन्न कुसुमावल्या· कुक्षौ । दृष्टस्तया स्वप्न । यथा–प्रविष्टो मे उदर भुजङ्गमः, तेन च निर्गत्य दष्टो राजा निपतितो सिंहासनात्, त च दृष्ट्वा ससाध्वसा इव विबुद्धा कुसुमावली । अमङ्गलमिति कलित्वा न भणितस्तया दयितस्य । प्रवर्धमानगर्भा च तद्दोषत एव न बहु मन्यते नरपतिम् । राजा चाधिक स्नेहपरवश । भणिता च परिजनेन—स्वामिनि ! न युक्तमेतदिति । तया भणितम्-किमह करोमि ? भणित परिजनेन–यथा देव न बहु मन्यसे इति । तया भणितम् नूनमेष गर्भदोषो भविष्यति, अन्यथा कथमहमार्यपुत्र न बहु मन्ये । अन्यदा समुत्पन्नस्तस्या दोहदः, यथा–अस्यैव राज्ञोऽन्त्राणि खादामिति । चिन्तित च तया–पापकारी मम एष गर्भ, ततोऽलमनेन । स्त्रीस्वभावतश्च भर्तृस्नेहतश्च समुत्पन्नस्तस्य व्यवसाय·, यथा पातयाम्येतमिति । तत आलोच्य प्रधानपरिजन कार्यगुरुतयाऽनुज्ञाता तेन गर्भपरिशाटन कर्तुमारब्धा । न च स निकाचितकर्मदोषेण पततीति । ततः साऽनेकौषधपानेन दोहदासप्राप्त्या च परिदुर्बला जाता । पृष्टा च राज्ञा—सुन्दरि ! किं ते न सपद्यते, केन वा तव खण्डिताऽऽज्ञा, किं वा मया प्रतिकूलमासेवितम्, यद् निर्वेदेन त्वमल्पोदका इव कुमुदिनी एव क्षीयसे इति तत प्रतिहृदयलब्धस्नेह भणित कुसुमावल्या—आर्यपुत्र ! ईदृशो मे निर्वेद·, येन चिन्तयामि आत्मान व्यापादयामि' इति । राज्ञा भणितम्-सुन्दरि ! किं निमित्त इति ?। कुसुमावल्या भणितम्–आर्यपुत्र !

भागधेयाणि मे पुच्छसु त्ति भणिऊण वाहजलभरियलोयणा सगग्गया संवुत्ता। तओ राइणा 'महन्तो से निव्वेओ, ता अल ताव इमिणा कहाए चेव, अह एय अक्खिवामि' त्ति चिन्तिऊण अक्खित्ता कहा, कओ अन्नो पसङ्गो। पुणो य से समाहूओ मयणलेहापमुहो परियणो, सबहुमाणं च भणिओ राइणा। किं जुत्तं तुम्हाणं सुणियनिबन्धणाण पि एवं कसिण-पक्खचन्दलेह व परिखिज्जमाणिं देविं उवेक्खिउ ति। न य असज्झव-त्थुविसओ एस निव्वेओ, अओ जीवलोयसारभूया मे देवी। किं च तं वत्थु, ज मे पाणेसु धरन्तेसु चेव देवीए न सपज्जइ त्ति। मयणलेहाए भणियं—महाराय! एवमेय, नवरमित्थीयणसुलहो अविवेगो चेव केवल एत्थ अवरज्झइ। ता सुणउ महाराओ। महाराय! न एयमियाणि पि कहिउ पारीयइ, तहा वि 'न अन्नो उवाओ' त्ति काऊण कहीयइ। राइणा भणिय—अणुरूवमेय संभमस्स; जं उवायसज्झ त सयमेव कीरइ, इयर निवेइयइ त्ति, ता कहेउ भोई, को एत्थ परमत्थो त्ति? तओ मयणलेहाए ससज्झसाए विय आचिक्खिओ गब्भसभावओ दोहलयदोसेण गब्भसाडणावसाणो ववहारो त्ति। राइणा चिन्तियं—अहो! से देवीए ममोवरि असाहारणो नेहो, जेणावच्चजम्म पि न बहु मन्नइ त्ति। अस-पायणेण च दोहलयस्स मा गब्भविवत्ती से भविस्सइ त्ति उवाय चिन्तेमि। विसज्जिओ य तेण 'जमहं कालोचियं भणिस्सामि, तं तहा कायव्व' त्ति भणिऊण देवीपरियणो। सद्दाविओ मइसागरो नाम महामन्ती। सिट्ठो इमस्स एस वुत्तन्तो। चिन्तियं च तेण, जुत्त देवीए ववसिय। अहवा मा से इमिणा उवाएण तीसे वि देहपीडा भविस्सइ। ता एस ताव एत्थ उवाओ-बुभुक्खियस्स राइणो कारिमा अन्ता पेट्टावाहिं दाऊण नेत्तपट्टाइणा सुसिलिट्ठा य करिय पेच्छमाणीए चेव देवीए कड्ढिऊण दिज्जन्ति। पच्छा य पसूयाए चेव गब्भमन्तरेण चिन्तिस्सामो त्ति चिन्तिऊण निवेइओ नरवइस्स निययाहिप्पाओ। बहु मन्निओ राइणा। भणिया य मइसायरेण देवी—सामिणि! तहा कड्ढेमि देवस्स अन्ते, जहा एसो न विवज्जइ त्ति। गब्भसहावकूरत्तणेण पडिसुयं तीए। कओ सो उवाओ, सपन्नो दोहलो। पच्छा विसायमुवगयाए दरिसिओ से राया।

भागधेयानि मम पृच्छ इति भणित्वा बाष्पजलभृतलोचना सगद्गदा संवृत्ता। ततो राज्ञा 'महान् तस्या निर्वेद, ततोऽलं तावदनया कथया एव, अहमेतामाक्षिपामि' इति चिन्तयित्वाऽऽक्षिप्ता कथा, कृतोऽन्यः प्रसङ्गः। पुनश्च तस्या समाहूतो मदनलेखाप्रमुखः परिजनः, सबहुमान च भणितो राज्ञा। किं युक्त युष्माक श्रुतनिबन्धनानामपि एव कृष्णपक्षचन्द्रलेखामिव परिखिद्यमाना देवीमुपेक्षितुमिति? न चासाध्यवस्तुविषय एव निर्वेदः, यतो जीवलोकसारभूता मे देवी। किं च तद् वस्तु, यन्मया प्राणेषु धार्यमाणेषु एव देव्या न सपद्यते इति। मदनलेखया भणितम्—महाराज! एवमेतद्, नवर स्त्रीजनसुलभोऽविवेक एव केवलमत्रापराध्यति। ततः शृणोतु महाराजः। महाराज! नैतदिदानीमपि कथयितुं पार्यते, तथाऽपि नान्य उपाय इति कृत्वा कथ्यते। राज्ञा भणितम्-अनुरूपमेतत् सभ्रमस्य, यदुपायसाध्य तत्स्वयमेव क्रियते, इतरद् निवेद्यते इति। ततः कथयतु भवती, कोऽत्र परमार्थ इति?। ततो मदनलेखया ससाध्वसयेव आख्यतो गर्भसभवाद् दोहददोषेण गर्भशातनावसानो व्यवहार इति। राज्ञा चिन्तितम्—अहो! तस्या देव्या ममोपरि असाधारणः स्नेहः, येनापत्यजन्मापि न बहु मन्यते इति। असपादनेन च दोहदस्य मा गर्भविपत्तिः तस्याभूद् इति उपायं चिन्तयामि। विसर्जितश्च तेन 'यदह कालोचित भणिष्यामि, तत्तथा कर्तव्यम्' इति भणित्वा देवीपरिजन। शब्दायितो मतिसागरो नाम महामन्त्री। शिष्ट एतस्य एष वृत्तान्त। चिन्तित तेन, युक्त देव्या व्यवसितम्। अथवा मा तस्या अनेनोपायेन तस्या अपि देहपीडा भूत्। तत एव तावदत्रोपाय-बुभुक्षितस्य राज्ञः कृतिमाण्यन्त्राणि पेट्टबहिर्दत्त्वा नेत्रपटादिना सुश्लिष्टानि च कृत्वा पश्यन्त्या एव देव्या कर्षित्वा दीयन्ते। पश्चात्प्रसूताया एव गर्भमन्तरेण चिन्तयिष्याम इति चिन्तयित्वा निवेदितो नरपतेर्निजकाभिप्रायः। बहुमतो राज्ञा। भणिता च मतिसागरेण देवी—स्वामिनि! तथा कर्षयामि देवस्यान्त्राणि यथा एष न विपद्यते इति। गर्भस्वभावक्रूरत्वेन प्रतिश्रुत तया। कृतः स उपाय, सपन्नो दोहद.। पश्चाद् विषादमुपगताया दर्शितस्तस्या राजा।

तओ समासत्था एसा। भणिया य मन्तिणा - सामिणि! पढमपसूयाए न ताव देवस्स निवेयणीओ गब्भजम्मो, अवि य ममं ति, पच्छा जहो-चिय करिस्सामि त्ति। पडिसुयं तीए। अन्नया उचियसमए परिणयप्पाए दियहे पसूया देवी। सद्दाविओ तीए मइसायरो। भणिया य तेण—सामिणि! अकुसलो विय देवस्स एस गब्भो लक्खीयइ। ता अल इमिणा, अन्नत्थ सवड्ढउ, मओ देवस्स निवेइयइ त्ति। तीए भणिय-जुत्तमेयं ति। ममं चिय हियएण मन्तिय अमच्चेण ति। तओ पयट्टा-विओ माहवीयाभिहाणाए दासचेडीए दारओ। गया थेव भूमिभाग। एत्थन्तरम्मि दिट्ठा राइणा, पुच्छिया य 'किमेय' ति? तओ ससज्झ-साए वेवमाणीए भणियं माहवियाए 'देव! न किंचि' त्ति। एत्थन्तर-म्मि रुइय वालेण। तओ दारय दट्ठूण कुविएणेव भणिय राइणा—आ पावे! किमेयं ववसिय ति? तओ थीसहावकायरयाए साहिओ सयल-वुत्तन्तो माहवीयाए। तओ राइणा गहिओ दारओ। चिन्तिय च णेण, न एस एयाण हत्थे पुणो भविस्सइ त्ति। समप्पिओ अन्नधावीण सावि-याओ य ताओ। जइ कहवि दारयस्स पमाओ भविस्सइ, ता विणट्ठा मम हत्थाओ तुब्भे। निब्भच्छिया देवी मइसायरो य, कराविय च देवीमन्तिचित्ताणुरोहिणा ईसि पच्छन्नभूय तहाविह वद्धावणयं। एव च अइक्कन्तो कोइ कालो। पइट्ठाविय नामं दारयस्स आणन्दो त्ति। वड्ढिओ एसो गाहिओ कलाकलाव। पुव्वकम्मदोसेण नरवइ पइ विसम-चित्तो। दिन्नं से जुवरज्जं॥

अन्नया पच्चन्तवासी आडविओ दुम्मई नाम सामन्तराया दुग्ग-भूमिवलगव्विओ वित्थक्को सीहरायस्स। निवेइय राइणो विसज्जिओ तेण तस्सुवरि विक्खेवो। सभूमिवलगुणेण च सो पराजिओ तेण। निवेइए य कुविओ राया, पयट्टो सयमेव अमरिसेण। गओ पयाणयतिय। एत्थन्तरम्मि सिन्धुनईपुलिणो परिवहन्ते पयाणए करिवरोवरिट्ठिएण जलाओ नाइदूरम्मि 'अहो कट्ठं' ति जपिरं दिट्ठं मणुयवन्द्रं। गओ त चेव भूमिभाग राया जाव दिट्ठो तेण महाकाओ अइकसिणदेहच्छवी

ततः समाश्वस्ता एषा, भणिता च मन्त्रिणा—स्वामिनि ! प्रथमप्रसूताया न तावद् देवस्य निवेदनीयं गर्भजन्म, अपि च ममेति; पश्चाद् यथोचितं करिष्यामि इति । प्रतिश्रुतं तया । अन्यदा उचितसमये परिणतप्राये दिवसे प्रसूता देवी, शब्दायितो तया मतिसागरः । भणिता च तेन—स्वामिनि ! अकुशल इव देवस्य एष गर्भो लक्ष्यते । ततोऽलमनेन, अन्यत्र संवर्ध्यताम्, मृतो देवस्य निवेद्यते इति । तया भणितम्-युक्तमेतदिति । ममैव हृदयेन मन्त्रितममात्येनेति । ततः प्रवर्तितो माधविकाभिधानया दासीचेटया दारकः । गता स्तोकं भूमिभागम् । अत्रान्तरे दृष्टा राज्ञा, पृष्टा च किमेतद् इति ?। ततः ससाध्वसया वेपमानया भणितं माधविकया 'देव ! न किंचिद्' इति । अत्रान्तरे च रुदितं बालकेन । ततो दारकं दृष्ट्वा कुपितेनेव भणितं राज्ञा—आ पापे ! किमेतद् व्यवसितम् इति ?। ततः स्त्रीस्वभावकातरतया कथितः सकलवृत्तान्तो माधविकया । ततो राज्ञा गृहीतो दारकः । चिन्तितं च तेन, नैष एतासां हस्ते पुनर्जीविष्यतीति भविष्यतीति समर्पितोऽन्यधात्रीणाम्, शापिताश्च ताः । यदि कथमपि दारकस्य प्रमादो भविष्यति, ततो विनष्टा मम हस्ताद् यूयम् । निर्भर्त्सिता देवी मतिसागरश्च, कारितं च देवीमन्त्रिचित्तानुरोधिना ईषत्प्रच्छन्नभूतं तथाविधं वर्द्धापनकम् । एवं चातिक्रान्तः कोऽपि कालः । प्रतिष्ठापितं नाम दारकस्य आनन्द इति । वर्धित एष, ग्राहितः कलाकलापम् । पूर्वकर्मदोषेण नरपतिं प्रति विषमचित्तः । दत्तं तस्य यौवराज्यम् ॥

अन्यदा प्रत्यन्तवासी आटविको दुर्मतिर्नाम सामन्तराजो दुर्गभूमिबलगर्वितो विस्तृतः सिंहराजस्य । निवेदितं राज्ञः । विसर्जितस्तेन तस्योपरि विक्षेपः । स्वभूमिबलगुणेन च स पराजितस्तेन । निवेदिते च कुपितो राजा प्रवृत्तः स्वयमेवामर्षेण । गतं प्रयाणकत्रिकम् । अत्रान्तरे सिन्धुनदीपुलिने परिवहमाने प्रयाणके करिवरोपरिस्थितेन जलाद् नातिदूरे 'अहो कष्टम्' इति जल्पद् दृष्टं मनुजवन्द्रम् । गतस्तमेव भूमिभागं राजा यावद् दृष्टस्तेन महाकायोऽतिकृष्णदेहच्छवि-

विणिन्तनयणविसजालाभासुरो गहियरसन्तमण्डुक्कगासो भयाणयवियरियाणणदुप्पेच्छो दुययरपवेल्लिरङ्गो महया कुररेण गसिज्जमाणो जुण्णभुयङ्गमो, कुररो वि दिग्गयकरोरुकाएण रत्तच्छबीभच्छएणं अयगरेण। जहा जहा य अयगरो कुररं गसइ, तहा तहा सो वि जुण्णभुयङ्गमं, जुण्णभुयङ्गमो वि य रसन्तमण्डुक्कय ति। त चेव एवविहं जीवलोयसहावविब्भमं मूढहिययाणन्दकारयं सप्पुरिसनिव्वेयहेउं वइयरमवलोइऊण विसण्णो राया। चिन्तियं च णेणं, हन्त ! एवं ववत्थिए को उण इह उवाओ ? गसियप्पाओ कुररो अयगरेण, कुररेण वि भुयङ्गमो, भुयङ्गमेण मण्डुक्को त्ति। कण्ठगयपाणा वि एते न अन्नोन्नं विरमन्ति, अवि य अहिययरं पवत्तन्ति, न य अन्नयरविणासणाए मोयाविया एए सपयं जीवन्ति ता किं इमिणा अपडियारगोयरेण वत्थुणा पुलोइएण। तज्जाविओ मत्तवारणो, गओ आवासणियाभूमिं, आवासिओ सह कडएणं, कयं उचियकरणिज्जं। तओ अद्धखीणाए जमिणीए सुत्तविउद्धो राया। अयगराइवइयरं सरिऊण चिन्तिउं पयत्तो। कहं—

आवायमेत्तमहुरा विवागविरसा विसोवमा विसया।
अबहुजणाण बहुमया विबुहजणविवज्जिया पावा॥
एयाणमेस लोओ कएण मोत्तूण सासयं धम्मं।
सेवेइ जीवियत्थी विसं व पावं सुहाभिरओ॥
दुक्खं पावस्स फलं नासओ पावस्स दुक्खिओ निच्चं।
सुहिओ वि कुणउ धम्मं धम्मस्स फलं वियाणन्तो॥
मण्डुक्को इव लोओ तुच्छो इयरेण पन्नएणं व।
एत्थ गसिज्जइ सो वि हु कुररसमाणेण अन्नेण॥
सो वि हु न एत्थ सवसो जम्हा अयगरकयन्तवसगो त्ति।
एवविहे वि लोए विसयपसङ्गो महामोहो॥

ता अलं मे अणेयदुक्खतरुवीयभूएण अहोपुरिसिगाविकारपाएणं रज्जेणं ति। रज्जं हि नाम पायालं पिव दुप्पूरं, जिण्णभवणं पिव सुलहविवरं, खलसंगयं पिव विरसावसाणं, वेसित्थियाहिययं पिव

विनिर्यन्नयनविषज्वालाभासुरो गृहीतरसद्मण्डूकग्रासो भयानकविवरितानन्नदुष्प्रेक्ष्यो द्रुततरप्रवेपमानाङ्गो महता कुररेण ग्रस्यमानो जीर्णभुजङ्गमः, कुररोऽपि दिग्गजकरोरुकायेन रक्ताक्षवीभत्सेनाजगरेण । यथा यथा च अजगरः कुररं ग्रसते, तथा तथा सोऽपि जीर्णभुजङ्गमम् जीर्णभुजङ्गोऽपि च रसद्मण्डूकमिति । तदेव एवविध जीवलोकस्वभावविभ्रम मूढहृदयानन्दकारक सत्पुरुषनिर्वेदहेतु व्यतिकरमवलोक्य विषण्णो राजा । चिन्तितं च तेन, हन्त ! एवं व्यवस्थिते क पुनरिहोपाय ? ग्रसितप्राय. कुररोऽजगरेण, कुररेणापि भुजङ्गम, भुजङ्गमेन मण्डूक इति । कण्ठगतप्राणा अप्येते नान्योन्य विरमन्ति, अपि चाधिकतर प्रवर्तन्ते, न चान्यतरविनाशनया मोचिता एते साम्प्रत जीवन्ति । तत्किमनेनाप्रतीकारगोचरेण वस्तुना प्रलोकितेन । तद् यापितो मत्तवारण, गत आवासनिकाभूमिम्, आवासितः सह कटकेन, कृतमुचितकरणीयम् । ततोऽर्धक्षीणाया यामिन्या सुप्तविबुद्धो राजा । अजगरादिव्यतिकर स्मृत्वा चिन्तयितु प्रवृत्तः । कथम्—

आपातमात्रमधुरा विपाकविरसा विषोपमा विषयाः ।
अबुधजनानां वहुमता विबुधजनविर्वाजता पापा ॥
एतेषामेव लोक कृतेन मुक्त्वा शाश्वतं धर्मम् ।
सेवते जीवितार्थी विषमिव पाप सुखाभिरत ॥
दुःख पापस्य फल नाशको पापस्य दु खितो नित्यम् ।
सुखितोऽपि करोतु धर्मं धर्मस्य फल विजानन् ॥
मण्डक इव लोकस्तुच्छ इतरेण पन्नगेनेव ।
अत्र ग्रस्यते सोऽपि खलु कुररसमानेनान्येन ॥
सोऽपि खलु नात्र स्ववशो यस्मादजगरकृतान्तवशग इनि ।
एवंविधेऽपि लोके विषयप्रसङ्गो महामोह ॥

ततोऽल मेऽनेकदुःखतरुबीजभूतेन आहोपुरुषिकाविकारप्रायेण राज्येनेति । राज्य हि नाम पातालमिव दुष्पूरम्, जीर्णभवनमिव सुलभविवरम्, खलसंगतमिव विरसावसानम्, वेश्यास्त्रीहृदयमिव

अत्थवल्लहं वम्मीय पिव वहुभुयङ्गं, जीवलोयं पिव अणिट्ठियकज्जं, सप्पकरण्डयं पिव जत्तपरिवालणिज्ज अणभिन्नं विसम्भसुहाणं, वेसाजोव्वणं पिव वहुजणाभिलसणीयं, अकारण च सुद्धपरलोयमग्गस्स त्ति । ता एव परिच्चइय पव्वज्जामो धीरपुरिससेविय उभयलोयसुहावह समणत्तण ति । अह कह पुण पत्थुयवत्थुविसए लाघव न भविस्सइ ? अहवा मेवमेय एगजम्मपडिवद्ध ति । एव चिन्तयन्तस्स अइक्कन्ता रयणी, कय गोसकिच्चं, पविट्ठ मन्तिमडल ।

एत्थन्तरम्मि निवेइयं से विजयवइनामाए पडिहारीए-महाराय ! एसो खु दुम्मई देवं सयमेव पत्थियं वियाणियं चण्ड च देवसासणमवगच्छिय सिरोहरावद्धपरसू देवसासणाइक्कमणजायपच्छायावो कइवयपुरिसपरिवारिओ इहेवागओ देवदसणसुहाभिलासी पडिहारभूमीए चिट्ठइ । एयं सोऊण देवो पमाण ति । तओ पुलोइओ राइणा मइसायरो । भणियं च तेण इङ्गियागारकुसलेण-पविसउ, को एत्थ दोसो ? सरणागयवच्छला चेव राइणो हवन्ति । तओ राइणा अणुन्नाओ पविट्ठो दुम्मई 'देव एसा सिरोहरा एसो य कुहाडो' त्ति भणिऊण पडिओ चलणेसु । तओ अभयं दाऊण वहु माणिओ राइणा, कओ से अहिययरसक्कारो । नियत्तिऊण य राया गओ जयउर । निवेइओ राइणा निययाभिप्पाओ मन्तिमण्डलस्स । तेण वि य 'किच्चमेवेयमिह वससभवाण रायाण सेसयाण पि, किं पुण तुम्हाण जिणवयणभावियमईण ति, उभलोयसाहारण च सफल जीविय देवस्स, वणदवसन्निहा य कामभोगा इन्धणाओ चेव जलन्ति किंपागफलसमाणा य विवागे, अयण्डमणोरहभङ्गकारी य पहवइ विणिज्जियसुरासुरो मच्चु' त्ति कलिऊण वहु मन्निओ । तओ सद्दाविया सवच्छरिया, भणिया य तेण-निरूवेह आणन्दकुमारस्स रज्जाभिसेयदिवस । तेहि भणिय-ज देवो आणवेइ। निरूविऊण साहिओ णेहि पञ्चमो दिवसो । तओ उवणीयाइं अहिसेयमङ्गलाइं । तं जहा-मच्छजुयल पुण्णकलसो धवलकुसुमाइ महापउमा सिद्धत्थया पुढविपिण्डो वसहो महन्तयं दहियपुण्ण च भण्डय महारयणाइं गोरोयणा सीहचम्मं

अर्थत्रल्लभम्, वल्मिकमिव बहुभुजङ्गम्, जीवलोकमिवानिष्ठितकार्यम्, सर्पकरण्डकमिव यत्नपरिपालनीयम्, अनभिज्ञ विश्रम्भसुखानाम्, वेश्यायौवनमिव वहुजनाभिलषणीयम्, अकारण च शुद्धपरलोकमार्गस्येति । तत एतत्परित्यज्य प्रपद्यामहे (प्रव्रजाम.) धीरपुरुषसेवितमुभयलोकसुखावह श्रमणत्वमिति । अथ कथ पुन· प्रस्तुतवस्तुविपये लाघव न भविष्यति ?। अथवा स्तोकमेतदेकजन्मप्रतिवद्धमिति । एव चिन्तयतोऽतिक्रान्ता रजनी, कृत प्रातःकृत्यम्, प्रविष्ट मन्त्रिमण्डलम् ।

अत्रान्तरे निवेदित तस्य विजयवतीनाम्न्या प्रतिहार्या–महाराज ! एष खलु दुर्मतिर्देवं स्वयमेव प्रस्थित विज्ञाय चण्डं च देवशासनमवगत्य शिरोधरावद्धपरशुर्देवशासनातिक्रमणजातपश्चात्ताप कतिपयपुरुषपरिवारित इहैवागतो देवदर्शनसुखाभिलाषी प्रतिहारभूम्या तिष्ठति । एतच्छ्रुत्वा देवः प्रमाणमिति । तत प्रलोकितो राज्ञा मतिसागरः । भणित च तेनेङ्गिताकारकुशलेन । प्रविशतु, कोऽत्र दोष. ? शरणागतवत्सला एव राजानो भवन्ति । ततो राज्ञाऽनुज्ञात. प्रविष्टो दुर्मति 'देव ! एषा शिरोधरा, एष च कुठार·' इति भणित्वा पतितश्चरणयो । ततोऽभय दत्त्वा बहु मानितो राज्ञा, कृतस्तस्याधिकतरसत्कार । निवर्त्य च राजा गतो जयपुरम् । निवेदितो राज्ञा निजकाभिप्रायो मन्त्रिमण्डलस्य । तेनापि च 'कृत्यमेवैतद् इह वशसभवाना राज्ञा शेपाणामपि, किं पुनर्युष्माक जिनवचनभावितमतीनाम्, उभयलोकसाधारणं च सफल जीवितं देवस्य, वनदवसनिभाश्च कामभोगा इन्धनानि एव ज्वलन्ति किंपाकफलसमानाश्च विपाके, अकाण्डमनोरथभङ्गकारी च प्रभवति विनिर्जितसुरासुरो मृत्युरिति कलयित्वा वहु मतः । ततः शब्दायिताः सावत्सरिका., भणिताश्च तेन–निरूपयत आनन्दकुमारस्य राज्याभिषकदिवसम् । तैर्भणितम्–यद् देव आज्ञापयति । निरूप्य च भणितस्तै. पञ्चमो दिवस । तत उपनीतानि अभिषेकमङ्गलानि । तद् यथा–मत्स्ययुगल पूर्णकलशो धवलकुसुमानि महापद्माः सिद्धार्थिका. पृथ्वीपिण्डो वृषभो महद् दधिपूर्णं च भाण्डं महारत्नानि गोरोचना सिंहचर्म

धवलायवत्तं भद्दासरण चामराओ दुम्ब्वा अच्छसुरा महाघओ गयमओ घन्नाइ दुगुल्लारिण अन्नाणि य एवमाइयाइ पसत्थदव्वाइ ति । एत्थन्तरम्मि परिचिन्तियं राइणा—काऊरणमाणन्दकुमारस्स रज्जाहिसेय तओ गमिस्सामि धम्मघोसगुरुसमीव ति । एव च चिन्तयन्तो अहिसेयदिरण पडिच्छमारणो चिट्ठइ ।

इओ य पुव्वकयकम्मदोसओ अमुरिणयनरिन्दाहिप्पाओ घडिओ दुम्मइणा सह आरणन्दकुमारो । मन्तियं च तेहिं 'कहचि वञ्चणापओएण वावाएमो महाराय' ति । सुओ अहिसेयवुत्तन्तो । मिच्छाहिनिवेसेरण सचित्तदुट्ठयाए य विपरीओ परिरणओ आणन्दस्स । चिन्तिय च तेरण—नूरणमहमरोण इमिणा ववएसेरण मारिउं ववसिओ । ता कहमहमेव छलिज्जामि । अवहा सच्चए वि एयम्मि वुत्तन्ते अल मे रज्जेण, ज मे एएरण दिन्नं संपज्जइ । त पुरण सलाहरिणज्ज, जमेय वावाइऊरण बला घेप्पइ त्ति । एत्थन्तरम्मि सद्दाविओ राइरणा आरणन्दो । जाव नेच्छइ आगन्तुं, तओ पडिहारदुइओ गओ कुमारभवण राया । तेण वि य 'न इओ सुन्दरतरो पत्थावो' त्ति कलिऊरण पुव्वारणुसयदोसेरण सहसा 'हरण हरण' त्ति भरिणऊरण उक्खायासिणा अकयपरिरक्खणोवाओ सुविसत्थचित्तो पडिहार वावाइऊरण गाढप्पहारीकओ राया । एत्थन्तरम्मि समुट्ठाइओ कलयलो, संजाओ नयरसेन्नसखोहो, परिवेढिओ समन्तओ रायसाहरोरण आरणन्दो, पारद्धो सगामो । तओ राइरणा नियसरीरदोहसवहेरण सावियं सेन्नं । भणिय च रोरण । किं भे इयाणिं जुज्झिएण ? अहं ताव वावाइओ चेव दट्ठव्वो, मा एय पि वावाएह, ता करेह रायाभिसेय एयस्स, एस भे राय त्ति । एत्थन्तरम्मि समाणत्तो दुम्मई 'बन्धेहि णं निविड—बन्धेहिं' । तओ 'जं कुमारो आरणवेइ' त्ति भणिऊण आसन्नोभूओ य से दुम्मई । पाडिया कुलपुत्तया, निब्भच्छिओ नायरजणो । तओ बन्धावि—ऊरण पच्चइयपुरिसेहिं सुकयपरिरक्खणोवाओ कओ राया । अहिट्ठियं रज्ज, ठावियाओ ववत्थाओ, वसीकय सामन्तमण्डलं । तओ अरणुसयवसेरण नेयाविओ नयरचारयं नरवई । तं च अच्चन्तनिम्महमारणपुरीसकलमलगन्धं

धवलातपत्र भद्रासन चामरा दूर्वा अच्छसुरा महाध्वजो गजमदो धान्यानि दुकूलानि अन्यानि चैवमादिकानि प्रशस्तद्रव्याणि इति । अत्रान्तरे च परिचिन्तित राज्ञा-कृत्वाऽऽनन्दकुमारस्य राज्याभिषेक ततो गमिष्यामि धर्मघोषगुरुसमीपमिति । एव चिन्तयन् अभिषेकदिन प्रतीक्षमाण-स्तिष्ठति ॥

इतश्च पूर्वकृतकर्मदोषतोऽज्ञातनरेन्द्राभिप्रायो घटितो दुर्मतिना सहानन्दकुमार । मन्त्रित च ताभ्या 'कथचिद् वञ्चनाप्रयोगेण व्यापादयावो महाराजम्' इति । श्रुतोऽभिषेकवृत्तान्त' । मिथ्याभिनिवेशेन स्वचित्तदुष्टतया च विपरीत' परिणत आनन्दस्य । चिन्तित च तेन नूनमहमनेन एतेन व्यपदेशेन मारितु व्यवसितः । ततः कथमहमेवं वञ्च्ये । अथवा सत्येऽपि एतस्मिन् वृत्तान्ते अलं मे राज्येन, यन्मे एतेन दत्त संपद्यते । तत्पुनः श्लाघनीयम्, यदेत व्यापाद्य बलाद् गृह्यते इति । अत्रान्तरे शब्दायितो राज्ञा आनन्दः । यावद् नेच्छति आगन्तुम्, ततः प्रतीहारद्वितीयो गत कुमारभवन राजा । तेनापि च 'न इत सुन्दरतरः प्रस्ताव.' इति कलयित्वा पूर्वानुशयदोषेण सहसा 'घ्नत' घ्नत इति भणित्वा उत्खातासिनाऽकृतपरिरक्षणोपाय' सुविश्वस्तचित्तः प्रतीहार व्यापाद्य गाढप्रहारीकृतो राजा । अत्रान्तरे समुत्थितः कलकलः, सजातो नगर-सैन्यसक्षोभ', परिवेष्टितः समन्ततो राजसाधनेनानन्दः, प्रारब्धः सग्राम । ततो राज्ञा निजशरीरद्रोहशपथेन शापित सैन्यम् । भणियं च तेन- किं युष्माकमिदानी युद्धेन, अह तावद् व्यापादित एव द्रष्टव्य' मा एतमपि व्यापादयत, ततः कुरुत राज्याभिषेकमेतस्य, एष युष्माकं राजेति । अत्रान्तरे समाज्ञप्तो दुर्मति 'बधान त निबिडबन्धैः ततो 'यत्कुमार आज्ञापयति' इति भणित्वाऽऽसन्नीभूतश्च तस्य दुर्मतिः । पातिता. कुलपुत्रकाः, निर्भर्त्सितो नागरजनः । ततो बन्धयित्वा प्रत्ययितपुरुषैः सुकृतपरिरक्षणोपाय कृतो राजा । अधिष्ठित राज्यम्, स्थापिता व्यवस्था, वशीकृत सामन्तमण्डलम् । ततोऽनुशयवशेन नायितो नगरचारकं नरपति. । तच्चात्यन्तनिर्मथ्यमानपुरीषकलमलगन्ध

फुडियभित्तिपसुत्तसिरीसिव भिणिभिणायमाणमसयमक्खियाजालं दरिवि-वरमुहविणिग्गयमूसउक्केर उवरिविलम्बमाणोरयनिम्मोय लूयातन्तुविरइ-यवियाणयं, वासहर पिव दुस्समाए, लीलाभूमि पिव अधम्मस्स, सहोयर पिव सीमन्तयस्स, सहा विव सव्वदुक्खसमुदयाण, कुलहरं पिव सव्वजा-यणाण, विस्सासभूमि पिव मच्चुणो, सिद्धिखेत्त पिव कयन्तस्स त्ति । तओ 'महाचारय नीओ देवो' त्ति सोऊण सहसा विमुक्कक्कन्द भेरव अणवरयनिवडणेहिं महल्लमुत्ताहलसरिसेहिं अकज्जलवाहबिन्दूहिं सपाइ-यहारसोह देवसोएण चेव परिमिलाणदेहं निरुज्झमाण पि निउत्तपुरिसेहिं मङ्गलमणिवलयभणारवुद्दामं सभूयाहिं वलाओ पेल्लिऊण ते उरपेट्टकुट्ट-णुज्जय तओ य अणुइयधरणिपरिसक्कणेण साससमाऊरियाणण परि-चत्तकुडिलभावत्तणेण वि य 'अदंसणीया देवावत्थ' त्ति सूयगेहिं पिव लम्वालएहिं निरुद्धनयणपसरं चारयमेव पत्तं कुसुमावलीपमुहमन्तेउर ति । दिट्ठो य तेण काललोहमयनियलसमाऊरिओ नरवई । तओ असो-यपल्लवागारेहिं हत्थेहिं 'अणुचियासेवणवहुलो ससारो' त्ति दसयन्त पिव हारलयावहणजणियखेय पिव वच्छत्थल ताडयन्त अहिययरमक्कन्दिउ पवत्तं ति । तओ राइणा आरक्खिगेहिं च कहकहवि निवारिय । भणियं च राइणा-किमणेणायासमेत्तफलेण अहम्माणुवन्धिणा य सोएण । अइवहुविचित्तरूवो खु एस ससारो, खेलणयभूया इमस्स सव्वे सरीरिणो, दुन्निवारो य पसरो पुव्वकयकम्मस्स, जलहरन्तरविणिग्गयसोयामणीवल-यचञ्चला लच्छी, सुविणयसमो सगमो । एवमवसाणाणि एत्थ रागवि-लसियाणि । ता किमेइणा अविवेयजणाणुसरिसेण पलविएण ? पत्तमेव तुब्भेहि जीवलोयसारभूय जिणवयणं । ता त चेव अणुचिट्ठेह । न त मोत्तूण अन्नो दुक्खक्खओवाओ त्ति । तओ तमेयमायण्णिय एवमेवेय न अन्नह' त्ति कलिऊण य अणुजाणाविऊण नरवइ जीवियनिरवेक्खयाए वला चेवाणन्दस्स गन्धव्वदत्ताए विज्जाहरसमणियाए सयासे पवन्न पव्वज्जं ति ॥

इओ य पइदिणं कयत्थणाए वि कोहवसमगच्छमाणेण 'एद्दहमेत्त

स्फुटितभित्तिप्रसुप्तसरीसृप भणभणायमानमशकमक्षिकाजाल दरीविवरमुखविनिर्गतमूषकोत्कर उपरिविलम्बमानोरगनिर्मोक लूतातन्तुविरचितवितानकं, वासगृहमिव दु षमाया, लीलाभूमिरिवाधर्मस्य, सहोदरव सीमन्तकस्य, सखा इव सर्वदु खसमुदयानाम्, कुलगृहमिव सर्वयातनानाम्, विश्वासभूमिरिव मृत्यो, सिद्धिक्षेत्रमिव कृतान्तस्येति । ततो 'महाचारक नीतो देव' इति श्रुत्वा सहसा विमुक्ताकन्दभैरवं अनवरतनिपतद्भिर्महन्मुक्ताफलसदृशैरकज्जलबाष्पबिन्दुभिः सपादितहारशोभ देवशोकेनैव परिम्लानदेह निरुध्यमानमपि नियुक्तपुरुषै मङ्गलमणिवलयझणझणारवोद्दाम स्वभुजाभिर्बलात् पीडयित्वा तान् उरपेट्टकुट्टनोद्यत ततश्चाऽनुचितधरणीपरिष्वष्कनेन श्वाससमापूरितानन परित्यक्तकुटिलभावत्वेनापि च 'अदर्शनीया देवावस्था' इति सूचकैरिव लम्बालकैर्निरुद्धनयनप्रसर चारकमेव प्राप्त कुसुमावलीप्रमुखमन्त पुरम्-इति । दृष्टस्तेन काललोहमयनिगडसमापूरितो नरपतिः । ततोऽशोकपल्लवाकारैर्हस्तै 'अनुचितासेवनबहुलः संसारः' इति दर्शयन्तमिव हारलतावहनजनितखेदमिव वक्षस्थल ताडयन्तमधिकतरमाक्रान्दितु प्रवृत्तमिति । ततो राज्ञा आरक्षकैश्च कथंकथमपि निवारितम् । भणित राज्ञा-किमनेनायासमात्रफलेन अधर्मानुबन्धिना च शोकेन ?। अतिबहुविचित्ररूप. खलु एष ससारः, खेलनकभूता अस्य सर्वे शरीरिण, दुर्निवारश्च प्रसरः पूर्वकृतकर्मण, जलधरान्तरविनिर्गतसौदामिनीवलयचञ्चला लक्ष्मी, स्वप्नसमः संगम । एवमवसानानि अत्र रागविलसितानि । तत. किमेतेनाविवेकजनानुसदृशेण प्रलपितेन । प्राप्तमेव युष्माभिजीवलोकसारभूत जिनवचनम् । ततस्तदेवानुतिष्ठत, न तन्मुक्त्वाऽन्यो दु.खक्षयोपाय इति । ततस्तदेतदाकर्ण्य 'एवमेतद् नान्यथा' इति कलयित्वा चानुज्ञाप्य नरपतिं जीवितनिरपेक्षतया बलादेवानन्दस्य गन्धर्वदत्ताया विद्याधरश्रमण्याः सकाशे प्रपन्ना प्रव्रज्येति ।।

इतश्च प्रतिदिन कदर्थनयाऽपि क्रोधवशमगच्छता 'एतावन्मात्र

मे जीवियं कालोइय संपयमणसण' ति पडिवन्नं राइणा । आरक्खिगेहिं निवेइयं आणन्दस्स, कुविओ एसो, पेसिओ तेण देवसम्मो नाम नियम-हल्लओ 'गच्छ भुञ्जावेहि' त्ति । वत्तव्वो य एसो 'अभुञ्जमाण नियमा वावाएमि' त्ति । गओ देवसम्मो, दिट्ठो तेण राया, भणिओ य—देव ! देव्ववसयाण पाणिणं विसमा कज्जगइ त्ति । एसो य देव्वो नाम अणा-राहणीओ विणएण, अगुणगाही गुणीणं, अकालन्नू समीहियस्स, केवल-मणत्थो जणाणं, मत्तहत्थि व्व सच्छन्दयारी, गङ्गापवाहो व्व उज्जुकु-डिलो महाहवो व्व निवायदक्खो, विसगण्ठि व्व नाणुकूलो रसाण, पडिकूलो य समीहियाण, अणुकूलो असमीहियस्स । ता जइ वि एस एवभूओ, तहावि पुरिसेण खणमवि न पुरिसयारो मोत्तव्वो त्ति । जेण महाराय ! पुव्वोवज्जियाणं कम्माण चेव एयं नामं देव्वो, त च पुरिस-यारजेयमेव वट्टइ ति । ता अवलम्बेउ देवो पुरिसयार, करेउ आहार-गहणं । जीवमाणो हि पुरिसो लङ्घिऊणावय अवस्सं देव ! सपय पावेइ त्ति । राइणा भणियं—भो देवसम्म ! न मुक्को मए चेव अहा-कालाणुरूवो पुरिसयारो । पडिवन्ना य भावाओ पव्वज्जा । अओ न संपयाभिलासपर मे चित्त । उचियकालं च नाऊण पडिवन्नं अणसण । अओ न आहारगहणं करेमि त्ति । तेण भणियं-अकीरमाणम्मि आहार-गहणे सुओ ते कुप्पिस्सइ । राइणा भणिय-अकारणो से कोवो, सव्वप-इन्ना खु तवस्सिणो हवन्ति । तेण भणियं—देव ! विइयवुत्तन्तो चेव तुमं कुमारचरियस्स; ता मा ते पमाय करिस्सइ । एत्थन्तरम्मि 'चिरा-यइ देवसम्मो' त्ति संजायामरिसवेगो घेत्तूण खग्ग आगओ आणन्दो । भणियं च तेण-जइ न आहारगहणं करेसि, ता इमिणा कयन्तजीहाणु-गारिणा करवालेण सीसं ते छिन्दामि । राइणा भणियं—

जाणन्तो मरणन्तं देहावास असासयमसार ।
को उव्विएज्ज नरवर ! मरणस्स अवस्स गन्तव्वे ॥
गब्भपभिइमावीई सलिलच्छेए सरं व सूसन्त ।
अणुसमयं मरमाणं जियइ त्ति जणो कहं भणइ ?॥

मे जीवित, कालोचित साम्प्रतमनशनम्' इति प्रतिपन्नं राज्ञा । आरक्ष-कैर्निवेदितमानन्दस्य, कुपित एषः, प्रेषितस्तेन देवशर्मा नाम निजमहत्तरः 'गच्छ भोजय' इति । वक्तव्यश्चैव 'अभुञ्जानं नियमाद् व्यापादयामि' इति । गतो देवशर्मा, दृष्टस्तेन राजा, भणितश्च—देव ! दैववशगानां प्राणिना विषमा कार्यगतिरिति । एष च दैवो नाम अनाराधनीयो विनयेन, अगुणग्राही गुणिनाम्, अकालज्ञ समीहितस्य, केवलमनर्थो जनानाम्, मत्तहस्तीव स्वच्छन्दचारी, गङ्गाप्रवाह इव ऋजुकुटिल', महा-हव इव निपातदक्षः, विषग्रन्थिरिव नानुकूलो रसानाम्, प्रतिकूलश्च समीहितानाम्, अनुकूलोऽसमीहितस्य । ततो यद्यपि एष एवंभूतः, तथा-ऽपि पुरुषेण क्षणमपि न पुरुषकारो मोक्तव्य इति । येन महाराज ! पूर्वोपार्जितानां कर्मणामेवैतन्नाम दैवम्, तच्च पुरुषकारजेयमेव वर्तते इति । ततोऽवलम्बता देवो पुरुषकारम्, करोतु आहारग्रहणम् । जीवन् हि पुरुषो लङ्घित्वाऽऽपदं अवश्य देव ! सपदं प्राप्नोतीति । राज्ञा भणितम्—भो देवशर्मन् ! न मुक्त मया चैव यथाकालानुरूपः पुरुषकारः, प्रतिपन्ना च भावत' प्रव्रज्या । अतो न संपदभिलाषपर मे चित्तम् । उचितकालं च ज्ञात्वा प्रतिपन्नमनशनम् । अतो न आहारग्रहण करोमि इति । तेन भणितम्-अक्रियमाणे आहारग्रहणे सुतस्तुभ्यं कोपिष्यति । राज्ञा भणितम्-अकारणस्तस्य कोप', सत्यप्रतिज्ञाः खलु तपस्विनो भवन्ति । तेन भणितम्—देव ! विदितवृत्तान्त एव त्व कुमारचरितस्य, ततो मा ते प्रमादं कार्षीत् । अत्रान्तरे 'चिरायते देवशर्मा' इति सजाता-मर्षवेगो गृहीत्वा खड्गमागत आनन्द । भणित च तेन-यदि नाहार-ग्रहण करोषि, ततोऽनेन कृतान्तजिह्वानुकारिणा करवालेन शीर्षं ते छिनद्मि । राज्ञा भणितम्—

जानन् मरणान्त देहावासमशाश्वतमसारम् ।
क उद्विज्याद् नरवर ! मरणादवश्यगन्तव्ये ॥
गर्भप्रभृति आवीच्या सलिलच्छेदे सर इव शुष्यत् ।
अनुसमयं म्रियमाणं जीवतीति जन. कथ भणति ?॥

संपत्थियाण परलोगमेगसत्थेण सत्थियाण व ।
जइ तत्थ कोइ पुरओ वच्चइ भयकारणं किमिह ?॥
जीयमणिच्चमवस्स मरणं ति मणम्मि निच्छयं जस्स ।
सूणायारपसुस्स व का आसा जीविए तस्स ?॥
हंदि ! जराधणुहत्थो वाहिसयविइण्णसायगो एइ ।
माणुसमयजूहवहं विहाणवाहो करेमाणो ॥
न गणेइ पच्चवाय न य पडियारं चिराणुवत्ति वा ।
सच्छन्दसुह विहरइ हरि व्व मच्चू मयकुलेसु ॥
एक्के च्चिय निव्विण्णा पुणो पुणो जाइउं च मरिउं च ।
जे भवमच्चुव्विग्गा भवरोगहरं अणुचरन्ति ॥
जरमरणरोगसमणं जिणवयणरसायनं अमयसारं ।
पाउं परिणामसुह नाह मरणस्स बीहेमि ॥
झोसियपावमलाण परिसाडियवन्धलोहनियलाणं ।
किं कुणइ कालमरणं कयपडियार मणुस्साण ॥
अज्जियतवोधणाण कलेवरहरे वि निप्पिवासाणं ।
सलिहियसरीराण मरण पि वर सुविहियाण ॥
सुगहियतवपत्थयणा निव्विसिऊण नियमेण अप्पाणं ।
मरणं मग्गन्ति मणोरहेहि धीरा धिइसहाया ॥
जस्स मयस्सेगयरो सग्गो मोक्खो व होइ नियमेण ।
मरण पि तस्स नरवर ! ऊसवभूय मणूसस्स ॥
अणवरयरोगभासुरवसणविसाणुग्गयदीहदाढस्स ।
कत्थ गओ वा मुच्चइ कयन्तकण्हाहिपोयस्स ॥
न वि जुद्ध न पलायं कयन्तहत्थिम्मि अग्घइ भय वा ।
न य से दीसइ हत्थो गेण्हइ य दढ अमोक्खो य ॥
जह वा लुणाइ सासाइ कासओ परिणयाइ कालेण ।
इय भूयाइं कयन्तो लुणाइ जायाइं जायाइं ॥
जइ ताव मच्चुपासा सच्छन्दसुह सुरेसु वियरन्ति ।
अच्चन्तमणोयाणो जत्थ, जरारोगवाहीण ॥

संप्रस्थितानां परलोकमेकसार्थेण सार्थिकानामिव ।
यदि तत्र कोऽपि पुरतो व्रजति भयकारण किमिह ?॥
जीवितमनित्यमवश्यं मरणमिति मनसि निश्चयो यस्य ।
सूनागारपशोरिव काऽऽशा जीविते तस्य ?॥
हन्त ! जराधनुर्हस्तो व्याधिशतवितीर्णसायक एति ।
मानुषमृगयूथवधं प्रभातव्याधः कुर्वन् ॥
न गणयति प्रत्यवायं न च प्रतिकारं चिरानुवृत्तिं वा ।
स्वच्छन्दसुखं विहरति हरिरिव मृत्युर्मृगकुलेषु ॥
एके एव निर्विण्णाः पुनः पुनर्जनितुं च मर्तुं च ।
ये भवमृत्यूद्विग्ना भवरोगहरमनुचरन्ति ॥
जरामरणरोगशमन जिनवचनरसायनममृतसारम् ।
प्राप्य परिणामसुख नाह मरणाद् विभेमि ॥
त्यक्तपापमलाना परिशाटितबन्धलोभनिगडानाम् ।
किं करोति कालमरण कृतप्रतिकार मनुष्याणाम् ?॥
अर्जिततपोधनानां कलेवरगृहेऽपि निष्पिपासानाम् ।
सलिखितशरीराणां मरणमपि वर सुविहितानाम् ॥
सुगृहीततप पथ्यदना निर्वेश्य नियमेनात्मानम् ।
मरण मार्गयन्ति मनोरथैर्धीरा धृतिसहाया ॥
यस्य मृतस्यैकतरः स्वर्गो मोक्षो वा भवति नियमेन ।
मरणमपि तस्य नरवर ! उत्सवभूत मनुष्यस्य ॥
अनवरतरोगभासुरव्यसनविषानुगतदीर्घदंष्ट्रस्य ।
कुत्र गतो वा मुच्यते कृतान्त कृष्णाहिपो तस्य ॥
नापि युद्ध न प्रलाप कृतान्तहस्तिनि अर्घति भय वा ।
न च तस्य दृश्यते हस्तो गृह्णाति च दृढममोक्षश्च ॥
यथा वा लुनाति शस्यानि कर्षकः परिणतानि कालेन ।
इति भूतानि कृतान्तो लुनाति जातानि जातानि ॥
यदि तावन्मृत्युपाशाः स्वच्छन्दसुख सुरेषु विचरन्ति ।
अत्यन्तमनवतारो यत्र जरारोगव्याधीनाम् ॥

किं पुण वाहिजरारोगसोगनिच्चुद्दुयम्मि माणुस्से ।
मच्चुस्स सो पमाग्रो ज जियइ नरो निमेस पि ।।
ता मा अधीरजणसेवियस्स अयसस्स देहि उ(अ)वयास ।
न हु मच्चुदाढलीढ इन्दो वि पहू नियत्तेउ ।।
इय मयमारणमेत्तेण वच्छ ! मा नियकुलं कलङ्केहि ।
गेण्हामि कहं चत्त हन्त ! सवायाए आहार ?।।
सोऊण इयं वयण कोवाणलजलियरत्तनयणेण ।
'जंपइ अज्जाऽवि कह' पहओ सीसम्मि खग्गेणं ।।
परिचिन्तिय च तेण 'नमो जिणाण' ति मुणियतत्तेणं ।
'पुव्वकयकम्मदोसो एसो' त्ति विसुद्धभावेण ।।
सव्वो पुव्वकयाण कम्माणं पावए फलविवागं ।
अवराहेसु गुणेसु य निमित्तमेत्तं परो होइ ।।
एवं च चिन्तयन्तो पुणो वि हन्तूण पावकम्मेण ।
विणिवाइओ महप्पा अकलुसचित्तो सकलुसेणं ।।
मरिऊण य उववन्नो सणंकुमारम्मि सुरवरो जुइम ।
अह पञ्चसागराऊ लीलारामे विमाणम्मि ।।
इयरो वि य काऊणं रज्ज मरिऊण रयणपुढवीए ।
उववन्नो नेरइओ उक्कोसाऊ महाघोरो ।।



किं पुनर्व्याधिजरारोगशोकनित्योद्द्रुते मानुषे ।
मृत्योः स प्रमादो यज्जीवति नरो निमेषमपि ।।
ततो माऽधीरजनसेवितस्यायशसो देहि अवकाशम् ।
न खलु मृत्युदष्ट्रालीढ इन्द्रोऽपि प्रभुर्निवर्तयितुम् ।।
इति मृतमारणमात्रेण वत्स ! मा निजकुलं कलङ्कय ।
गृह्णामि कथ-त्यक्त हन्त ! स्ववाचा आहारम् ।।
श्रुत्वेदं वचनं कोपानलज्वलितरक्तनयनेन ।
'जल्पनि अद्यापि कथ' प्रहत' शीर्षे खड्गेन ।।
परिचिन्तित च तेन 'नमो जिनेभ्य.' इति ज्ञाततत्त्वेन ।
'पूर्वकृतकर्मदोष एष' इति विशुद्धभावेन ।।
सर्वः पूर्वकृताना कर्मणा प्राप्नोति फलविपाकम् ।
अपराधेषु गुणेषु च निमित्तमात्रं परो भवति ।।
एवं च चिन्तयन् पुनरपि हत्वा पापकर्मणा ।
विनिपातितो महात्माऽकलुषचित्तः सकलुषेण ।।
मृत्वा चोपपन्न सनत्कुमारे सुरवरो द्युतिमान् ।
अथ पञ्चसागरायुर्लीलारामे विमाने ।।
इतरोऽपि च कृत्वा राज्य मृत्वा रत्नपृथिव्याम् ।
उपपन्नो नैरयिक उत्कृष्टायुर्महाघोरः ।।

——

श्रीहरिभद्रसूरिवररचितायां

'समराइच्चकहाए' बीओ भवो समत्तो

परिशिष्ट

याकिनी महत्तरा सूनु आचार्य हरिभद्र सूरि-रचित

समराइच्च कहा

हिन्दी-अनुवाद

(प्रास्ताविक)

वृषभ जैसी (धीर-गम्भीर) गति वाले भगवान् ऋषभ को प्रणाम करें, जिन्होने दुर्जय कठिनाई से जीते जा सकने योग्य कामदेव को, जिससे देवता तथा मनुष्य पराजित हो चुके, जीत लिया, जो (भगवान् ऋषभ) तीनो लोको मे मगल के आश्रय है ।।१।।

उन भगवान् वर्द्धमान (महावीर) को नमस्कार करे, जो परम श्री आत्म-लक्ष्मी परमात्म-साक्षात्कार से अभिवर्द्धित हुए, जिन्होने मान अहकार को नष्ट कर डाला, विशुद्ध केवल-ज्ञान प्राप्त किया, मन, वचन एवं कायात्मक प्रवृत्तिरूप योग से जो अतीत हो गये, योगियों अध्यात्म-साधको के जो प्रभु हैं, जो स्वयम्भू—स्वय बुद्ध हैं ।।२।।

उन शेष बाईस तीर्थंकरों को भी नमस्कार करे, जो जन्म, जरा-बुढापा और मृत्यु के बन्धनो से छूटे हुए है, जो तीनो लोको के अग्रभाग—मस्तक मोक्ष-पद मे स्थित है ।।३।।

धर्म-तीर्थ प्रवर्तन के समय जिनेश्वरो पर देवताओ द्वारा की गई पुष्प-वृष्टि, जिस पर भौरो का समूह गू जता था, आपका मंगल-कल्याण करे ।।४।।

देवो, सिद्धो-विद्या, मत्र आदि मे विशेष सिद्धि प्राप्त जनो तथा साधारण मानवो के समूह जिसके प्रति आदरपूर्वक नत है, तीर्थंकरो के भावरूपी कमल से निकली हुई वह मनोहर वाणी आपके लिए सुखप्रद हो ।।५।।

अधिकथा—जो सुनने योग्य हैं, उन्हे सुनिये, जो प्रशंसा करने योग्य हैं, उनकी प्रशसा कीजिए, जो छोडने योग्य है, उन्हे छोडिए तथा जो आचरण करने योग्य हैं, उनका आचारण कीजिए ॥६॥

इस दृष्टि से सुनने योग्य वे सारभूत तत्त्व है, जिनका सर्वज्ञों ने निरूपण किया है, जो मनुष्य तथा देवताओ के लिए मोक्ष-सुख उत्पन्न करने वाले हैं, लोक मे जिनका यश सुप्रतिष्ठ है। उन्ही द्वारा प्रतिपादित सम्यक्त्व, ज्ञान एव चारित्र की विद्वानो को प्रशसा करनी चाहिए ॥७॥

मिथ्यात्व आदि दोष, जो दुर्गति पाने के कारण हैं (जो दुर्गति मे लेजाने वाले हैं) तथा लोक-विरुद्ध हैं, का त्याग करना चाहिए ॥८॥

अनासक्त भाव से सम्यक्त्व, ज्ञान तथा चारित्र्य की आराधना करनी चाहिए, जो दुर्गति का नाश करने वाले हैं तथा चिन्तामणि रत्न के समान हैं।

यो सुनने योग्य विपयो की दृष्टि से प्रस्तुत प्रवन्ध का अधिकृत विषय सर्वज्ञ-भाषित का श्रवण है, जिसका कथन किया ही गया है।

मैं उस (सर्वज्ञ-भापित) से सम्बद्ध, महत्त्पूर्ण, भव्य-मोक्षाधिकारी जनो के लिए आनन्दप्रद, अर्थ-गरिमापूर्ण चरित कथा का सक्षेप मे वर्णन करूगा, उसे आप सुने।

पहले के आचार्यो की परम्परा के अनुसार कथा-वस्तु तीन प्रकार की है १ देविक, २. देवमानुपिक तथा ३ मानुषिक।

इनमे दैविक वह है, जिसमे केवल देवताओ के चरित वर्णित किये जाते हो। जहा देवो और मनुष्यो—दोनो का वर्णन हो, वह देवमानुपिक है। मानुपिक वह है, जहा केवल मनुष्यो के चरित का वर्णन हो।

साधारण कथाएं चार प्रकार की होती हैं—१. अर्थ कथा, २- काम-कथा, ३ धर्म-कथा तथा ४. सकीर्ण-कथा।

अर्थ-कथा वह है जिसका अर्थ-उपार्जन से सम्वन्ध हो, जिसमे तलवार (शस्त्र-जीविता), लेखिनी (लेखजीविता), कृपि, व्यापार तथा शिल्पसम्वन्धी विपय हो, जिसमे धातुवाद—खनिज-विज्ञान प्रभृति विविध उपायो का विवेचन हो, जिसमे साम, दाम, दण्ड, भेद आदि (राजनैतिक) तत्त्वो का वर्णन हो।

जो सांसारिक सुख-प्राप्ति विपयक हो, जिसमे धन, शरीर, आयु, कला तथा चातुर्य का वर्णन हो, प्रेम, रोमाच, आदर और मिलन की मुख्यता हो, दूती-कार्य प्रेमी-प्रेमिका के आपसी सन्देशो के आदान-प्रदान, रमण तथा अनुवर्तन जैसे विषय जिसमे जुडे हो, उसे काम-कथा कहा जाता है ।

धर्म-कथा वह है, जिसमे धर्म का उपादान कारण या साधन दृष्टिगत हो, क्षमा-सहन शीलता, मार्दव-मृदुता, कोमलता, आर्जव-ऋजुता, सरलता, मुक्ति, तपस्या, सयम, सत्य, पवित्रता, अकिञ्चनता-अपरिग्रह एव ब्रह्मचर्य का मुख्यतया निरूपण हो, अणुव्रत, दिग्व्रत, अनर्थ-दण्ड-विरति, सामायिक, पौषधोपवास, उपभोग-परिभोग की मर्यादा तथा अतिथि-सविभाग का विवेचन हो, अनुकम्पा, अकाम-निर्जरा आदि विपय वर्णित हो ।

जिसका धर्म, अर्थ तथा काम—इन तीनो की प्राप्ति से सम्बंध हो, काव्य-कथा मूलक ग्रन्थो के विषय जिसमे विस्तार से चर्चित हो, जो लौकिक या शास्त्रीय परम्परा मे प्रसिद्ध हो, जिसमे उदाहरण, हेतु तथा कारणपूर्वक निरूपण हो, उसे सकीर्ण कथा कहा जाता है ।

इन कथाओ के तीन प्रकार के श्रोता होते हैं—१. अधम, २ मध्यम और ३. उत्तम ।

जिनकी बुद्धि पर क्रोध, अभिमान, छल व लोभ का पर्दा पडा है, जिन्हे परलोक मे निष्ठा नही है, जो इस लोक—इस लोक के पदार्थों मे परमार्थ—यथार्थ लक्ष्य की पूर्ति देखते हैं, जो जीवो के प्रति दयावान् नही हैं, वे तामसिक—तमोगुण प्रधान प्रकृति के अधम कोटि के व्यक्ति अर्थ-कथा मे अनुरक्त रहते है, जो (अर्थ-कथा) दुर्गति की ओर ले जाती है, सद्गति की प्रतिपक्षभूत है—सद्गति को रोकती है, जो वास्तव मे अनेक अनर्थों से भरी है ।

जिनका मन शस्त्र आदि विषयरूप विप से विमूढ- विकृत है, जिनका वर्ताव इन्द्रिय आदि आत्मा के भाव-शत्रुओ के अनुकूल है, जो परमार्थ—मोक्ष मार्ग का विचार नही करते, यह सुन्दर है, यह सुन्दरतर - उससे सुन्दर है, इस प्रकार जिनकी बुद्धि सुन्दर तथा असुन्दर का निश्चय नही कर पाती, वे राजस—रजोगुण-प्रधान प्रकृति के मध्यम कोटि के व्यक्ति काम-कथा मे आसक्त होते हैं, जो (काम-कथा) बहुत लोगो द्वारा उपहसनीय है, जो एक मात्र विडम्बना से जुड़ी है, जो इस लोक मे तथा पर-लोक मे दुःख बढाती है ।

जो कुछ अच्छे हैं, दोनों लोको को स्वीकार करते हैं, व्यवहार तथा नीति मे निपुण हैं, परमार्थत. सारभूत विज्ञान—तत्त्व-ज्ञान से जो रहित हैं, तुच्छ भोगो का जो आदर नही करते किन्तु उदार-विशाल भोगो से जिनकी तृष्णा हटी नही है, वे कुछ सात्त्विक सत्त्वगुणमय प्रकृति के मध्यम कोटि के व्यक्ति सकीर्ण कथा मे आसक्त होते हैं, जो (सकीर्ण-कथा) (शुभ-अशुभ मूलक) विशेष परिणामो के कारण सद्-गति तथा दुर्गति मे ले जाती है, आत्मा और लोक के स्वभाव की गति-विधियो का जिसमे समावेश रहता है, सव रसो का निर्झर जिसमे छलछलाता है तथा जो विविध भावो को उत्पन्न करती है।

जिन्हे जन्म, बुढापा तथा मृत्यु सम्बन्धी चिन्तन के कारण वैराग्य उत्पन्न हो गया है, जो जन्मान्तर मे भी अपना कुशल-कल्याण सोचते हैं, काम-भोग से जिन्हे विरक्ति हो गई है, पाप के लेप से जो प्राय: छूट चुके हैं, जिन्होने परम पद-मोक्ष का स्वरूप भलीभांति जान लिया है, सिद्धि—जीवन-लक्ष्य की पूर्ति के जो निकटवर्ती हैं, वे सात्त्विक कोटि के उत्तम पुरुष धर्म-कथा के अनुरागी होते हैं, जो (धर्म-कथा) स्वर्ग तथा मोक्ष-पद तक पहुचने मे निसेनी तुल्य है, ज्ञानियो द्वारा जो प्रशसनीय है, सव कथाओ मे उत्तम है, जिसका महान् पुरुषो ने सेवन-अनुशीलन किया है।

इसलिए मैं भी अव धर्म-कथा कहूँगा, जिसकी विषय-वस्तु देव-मानुषिक है।

जो सहज भाव से दूसरो का उपकार करने मे लगे रहते हैं, जिन्हे परम पद-मोक्ष का मार्ग प्राप्त है, जो मणि, मुक्ता-मोती, स्वर्ण और तृण व मिट्टी के ढेले को समान समझते हैं, शाश्वत—नित्य स्थिर मोक्ष-सुख मे जिनका अनुराग है, उन शास्त्रकारों ने कहा है—

धर्म से उत्तम कुल मे जन्म मिलता है, दिव्य-सुन्दर रूप प्राप्त होता है, धन-वैभव तथा विस्तृत-व्यापक यश मिलता है।

धर्म अनुपम मंगल है, सव दु.खो के लिए वह अतुल्य (अतुलनीय) औषध है, वह विपुल-विशाल वल है, त्राण-रक्षास्थान तथा शरण है।

अधिक क्या कहा जाए—समस्त प्राणि-लोक मे मन एवं इन्द्रियो को जो प्रिय लगने वाला है, वह सव धर्म का फल है।

कष्टपूर्वक अर्जित किया हुआ धन, शरीर तथा पारिवारिक

जन भयावह मरण-वेला मे कुछ भी सहायता नही कर पाते, केवल धर्म ही सहायक होता है ।

धर्म स्वर्ग प्राप्त कराता है, तदनन्तर उत्तम मनुष्य-योनि उससे मिलती है और अन्ततः वह शीघ्र ही मोक्ष की प्राप्ति कराता है । जहा मोक्ष प्राप्त होने पर सब दुःख छूट जाते हैं, जो (मोक्ष) शाश्वत कभी न मिटने वाले आनन्द से युक्त है ।

जो उसे (धर्म को) जानता हुआ आचरण मे लाता है, वह सर्वज्ञो द्वारा प्ररूपित धर्म-कथाए माध्यस्थ्य-भावना और कुशलता से सुनता है। यो पहले धर्म के गुणो की प्रतीति करा, मैं अब चरित वर्णन करूगा, जो धर्म-आराधको के गुणो और विराधको-धर्म के विरुद्ध चलने वालो के दोषों पर विशेषत. प्रकाश डालेगा । मैं अवन्ती के राजा समरादित्य का चरित वर्णन करूगा, जिसमे उनके नौ भवो—जन्मो समावेश है, जो मोक्षाधिकारी प्राणियों को वैराग्य की ओर प्रेरित करता है ।

यद्यपि (इस कथानक के मूल आधार) गुणसेन तथा अग्नि-शर्मा के अनेक भव (अनेक बार हुए जन्म) हैं, पर (पाठको या श्रोताओ की दृष्टि से) वे सब उपयोगी नही हैं । नौ भवो मे उन दोनो (गुणसेन तथा अग्निशर्मा) का परस्पर मेल होता रहा है, अतएव यह संख्या कही गई है—ली गई है ।

गिरिसेन द्वारा किया गया उपसर्ग—कष्ट सहन करने के पश्चात् जब (समरादित्य को) केवल-ज्ञान हुआ, तव उन्होने (भगवान् समरादित्य ने) वेलधर देव, मुनिचन्द्र राजा तथा रानियो को, जिनमे नर्मदा प्रधान थी, जो (पहले के भवो का) वृत्तान्त कहा, उसे मैं सक्षेप मे, स्पष्ट रूप मे कहूँगा ।

पूर्वतन आचार्यों ने कहा है—गुणसेन-अग्निशर्मा, सिह आनन्द (पिता-पुत्र), शिखी-जालिनी (मां-बेटी), धन-धनश्री (पति-पत्नी), जय-विजय (सहोदर), धरण-लक्ष्मी (पति-पत्नी), सातवें भव मे सेन-विसेन (चचेरे भाई), गुण-चन्द्र वानव्यन्तर तथा समरादित्य-गिरिसेन—नौ भवो मे इन रूपो में वे हुए । इनमे से एक (समरादित्य) का मोक्ष हुआ और दूसरे (अग्निशर्मा) का अनन्त ससार (दूसरा अनन्त जन्म-जन्मान्तर मे घूम रहा है) ।

क्षितिप्रतिष्ठ, जयपुर, कोशाम्बी, सुशर्मनगर, काकन्दी, माकन्दी, चम्पा, अयोध्या तथा उज्जयिनी—क्रमश. इन नगरो मे वे हुए ।

गुणसेन की उत्पत्ति सौधर्म, सनत्कुमार, ब्रह्म, शुक्र, आनत, आरण, ग्रैवेयक तथा अनुत्तर देवलोक मे हुई । अग्निशर्मा की उत्पत्ति विद्युत्कुमार-देवलोक मे हुई । उसके वाद क्रमशः रत्नप्रभा आदि नरको मे ।

देवलोक मे प्रथम की स्थिति क्रमश. एक, पाच, नौ, पन्द्रह, अठारह, वीस, तीस तथा तैतीस सागरोपम काल को थी । दूसरे की स्थिति देवलोक मे डेढ पल्योपम तथा नरको मे क्रमशः तीन, सात, दस, सतरह, वाईस तथा तैतीस सागरोपम काल की थी ।

ये चरित-सग्राहिका गाथाएं हैं । अब इन्ही का गुरु उपदेशानुरूप भावार्थ कहा जाता है ।

प्रथम भव

यही जम्बूद्वीप के अन्तर्गत अपरविदेह नामक देश में क्षिति-प्रतिष्ठ नामक नगर था। वह ऊचे, सफेद परकोटे से सुशोभित था। उसके चारो ओर खाई थी, जो कमलिनियो के वन से ढकी थी। उसके त्रिक (जहां तीन मार्ग परस्पर मिलते हो), चतुष्क (जहां चार मार्ग परस्पर मिलते हो) तथा चत्वर चौक सुन्दर रूप मे विभाजित थे। उस (क्षितिप्रतिष्ठ नगर) ने अपने भवनो से देवराज इन्द्र के भवनो की शोभा को जीत लिया था।

जहा कामिनियो ने अपने मुखो से कमलो को, बोली से कोयल को, नेत्रो से कुवलयो—नील कुमुदो को तथा गति से राजहंसो को पराजित कर दिया था।

वहा लोगो मे व्यसन था पर विद्या का, लोभ था पर निष्क-लंक यश का, सदा भीरुत्व (भीरुता-डरपोकपन) था पर पापो से और धन-वृद्धि थी पर धर्म मे (वहा के लोग धर्म को ही धन समझते थे)।

वहा पूर्णचन्द्र नामक राजा था। (जिस प्रकार पूर्ण चन्द्रमा-पूर्णिमा के चन्द्र का कला-मण्डल परिपूर्ण होता है, उसी प्रकार) अधी-नस्थ राज-मण्डल से वह परिपूर्ण था। (जिस प्रकार पूर्ण चन्द्रमा मृग-कलक—मृग-लाञ्छन से हीन होता है, उसी प्रकार) वह अहकार के दोष से अछूता था। (पूर्ण चन्द्रमा की तरह) लोगो के मन तथा नयनो के लिए वह आनन्दप्रद था।

राजा के कुमुदिनी नामक रानी थी, जिसका अन्त पुर-रनवास मे मुख्य स्थान था (जो पटरानी थी)। जिसके द्वारा वैषयिक सुख वृद्धि पाते रहते थे तथा जो राजा को उसी प्रकार प्रिय थी, जिस प्रकार कामदेव को रति।

उनके कुमार गुणसेन नामक पुत्र था, जो अनेक गुणो से युक्त था। बाल्यावस्था से ही वह व्यन्तरदेव की तरह केलिप्रिय—क्रीडा, परिहास आदि मे विशेष रस लेने वाला था।

उस नगर मे यज्ञदत्त नामक पुरोहित था। सब लोग उसका बहुत मान करते थे। वह अनेक धर्म-शास्त्रो का पाठी था, लोक-व्यवहार तथा नीति मे निपुण था, अल्प हिंसा एवं अल्प धन वैभव द्वारा वह जीवन-यापन करता था। उसके सोमदेवा नामक अपनी पत्नी के गर्भ से उत्पन्न अग्निशर्मा नामक पुत्र था। (उसका सिर बडा और तिकोना था। उसकी आखे पीलापन लिए हुए गोल थी। उसकी नाक चपटी और ऐसी थी कि स्थान मात्र से ही वह मालूम पडती थी। उसके कान के स्थान पर त्रिल-छेद मात्र थे (जिन्हे कान कहा जा सके)। उसके दात बडे बडे थे, जो होठो से बाहर आये रहते थे। उसकी गर्दन टेढी तथा मोटी थी। उसको दोनो भुजाए असमान और छोटी छोटी थी। उसकी छाती बहुत सकडी थी। उसका पेट बाका टेढा, ऊंचा-नीचा और लम्बा था। उसकी कमर बडी बेडौल थी, जिसका एक पार्श्व-एक ओर का भाग ऊचा था। उसके दोनो कूल्हे (साथल) एक दूसरे से अनमेल थे। उसकी जंघाए मोटी, कडी और छोटी थी। उसके पैर असमान और लम्बे थे। उसके बाल आग की लपटो के समान पीलापन लिये हुए थे) कुमार गुणसेन कुतूहलवश सुन्दर नगाडा, मृदग, बांसुरी और कास्यक-कासी की झालर की लय तथा बडी सी तुरही की ध्वनि के साथ हाथो से तालिया देता हुआ और हसता हुआ नगर के लोगो के बीच उसे (अग्निशर्मा को) नचाता गधे पर चढाये हुए, बहुत से प्रसन्न (हसते-खेलते) बालको से घिरे हुए, छत्र के रूप जीर्ण सूप धारण करवाये हुए उसके समक्ष मनोहर पर विकृत ताल से डोडी पिटवाता हुआ, उसे महाराज शब्द से सम्बोधित करवाता हुआ अनेक बार राजमार्ग पर जल्दी जल्दी घुमाता।

इस प्रकार प्रतिदिन यमराज की तरह उस कुमार द्वारा पीडित किये जाते अग्निशर्मा के मन मे वैराग्य-भावना उत्पन्न हुई। वह सोचने लगा—

जिन पुरुषो ने पूर्वजन्म मे पुण्य नही किया, वे बहुत लोगो से धिक्कार पाते हैं, सब उनका उपहास करते हैं तथा वे औरो द्वारा किया गया तिरस्कार सहते हैं। मैं मूढ-हृदय हूँ। पूर्वजन्म मे मैंने सत्पुरुषो द्वारा आचरित तथा अत्यन्त सुखकर धर्म का आचरण नही किया। अपुण्यात्माओ को जो उग्र-भीषण कर्म-फल भोगना होता है, यह मैं अपने साथ देखकर (ऐसा सोचता हूँ), अब उस धर्म का आचरण करूंगा, जो परलोक मे बन्धु के समान है तथा मुनियों द्वारा

सेवित है, जिससे मैं अगले जन्म मे दुर्जनों के हाथो ऐसी अत्यन्त भयावह विडम्बना न पाऊं, जिसका सब लोग उपहास करे।

यो सोचकर उस (अग्निशर्मा) ने वैराग्य का मार्ग स्वीकार किया। वह नगर से निकला। एक महीने मे उस प्रदेश की सीमा पर स्थित सुपरितोप नामक तपोवन मे पहुचा। वह तपोवन बकुल, चम्पक, अशोक, पुन्नाग तथा नाग नामक वृक्षो से भरा था। वहा मृग तथा सिह आदि परस्पर विरुद्ध स्वभाव वाले पशु भी प्रशान्त भाव से रहते थे। वहा सुगन्धित हवनीय पदार्थों के गन्ध से युक्त सघन धुआ फैला था। उसके विकट-असमान-ऊचे-नीचे पार्श्व भाग मे समीप ही एक ओर निर्मल जल से भरी एक पहाडी नदी बहती थी। उस (तपोवन) से तपस्वियो का हृदय बडा परितोप पाता था।

वह (अग्निशर्मा) वहा पहुचा। लम्बा मार्ग तै करने के कारण उसका शरीर थक गया था। उसने मुहूर्त्त भर विश्राम किया। तत्पश्चात् वह तपोवन मे प्रविष्ट हुआ। उसने वहा आर्जव कौण्डिन्य को देखा जो उस तपस्वी कुल के प्रधान थे। वे वृक्ष की छाल, मोटी (सघन) जटा, मृग-चर्म तथा त्रिदण्ड (तीन डडो को बाधकर एक किया हुआ) धारण किये हुए थे, राख का त्रिपुण्ड लगाये थे पास मे कम-डण्लु था, शान्त थे। वे कुशासन पर सुख-पूर्वक बैठे हुए कदली वृक्षों के झुरमुट मे ध्यानस्थ थे। अपने दाहिने हाथ से रुद्राक्ष की माला फेर रहे थे। मन्त्राक्षरो के जप से उनका कण्ठ और होठ कुछ-कुछ हिल रहे थे, शेप अन्य सभी व्यापार-वृत्तियो का निवारण कर उन्होने अपनी दृष्टि नासिका पर लगा रखी थी। अतसी-सन से बने योगपट्ट (योगियो या सन्यासियो द्वारा भाव समाधि के अवसर पर धारण किये जाने वाला वस्त्र, जो पीठ से लेकर घुटनो तक शरीर को आवृत किये रहता है) के प्रमाण के अनुरूप आसन-विशेष, विशेष प्रकार की आगिक स्थिति मे विद्यमान थे।

उस (अग्निशर्मा) ने उन्हे देखा। वह हर्ष से रोमाचित हो उठा। उसने घुटने तथा हाथ पृथ्वी पर सटाकर बार बार मस्तक टेकते हुए "अहो मैं धन्य हूँ, मैं धन्य हूँ" यो कहते हुए उन्हे प्रणाम किया। उन्होने (आर्जव कौण्डिन्य ने) उसे वैसा (श्रद्धा एव विनयपूर्ण आचरण) करते देख अतिथि का बहुमान-सत्कार करने की भावना से ध्यान-योग स्थगित कर दिया तथा "अरे! आसन दो, आसन दो" यो (स्वागतपूर्ण शब्दो मे) बोलते हुए उसे बहुमानित किया। तब

कुटी के आंगन में बैठा ऋषिकुमार आसन लाया। ऋषि ने उसे (अग्निशर्मा को) उस पर बैठने के लिए कहा। वह आसन पर बैठ गया। ऋषि ने पूछा—आप कहां से आये हैं ? तब उसने विस्तार से अपना वृत्तान्त कह सुनाया। ऋषि ने कहा—वत्स ! पहले किये हुए कर्मों के परिणाम-स्वरूप जीव इस प्रकार दुःखभागी होते है। इस-लिए जो राज-अपमान से पीडित हैं, दरिद्रता के दुःख से पराभूत हैं, दुर्भाग्य रूप कलक से उन्मन हैं, प्रियजनो की विरह-अग्नि से परितप्त हैं, उन्हे इस लोक और परलोक मे सुख देने वाला यह परम निर्वेद-अत्यन्त शान्ति का स्थान है।

यहा के वासी संग-आसक्तिजनित दुःख, लोगों द्वारा की गई अवमानना-तिरस्कार और दुर्गति मे गमन-यह सब नही देखते—नही पाते। (अतएव) वनवासी सर्वथा धन्य है।

यों उपदेश पाकर अग्निशर्मा ने कहा—भगवन् निःसन्देह ऐसी ही बात है। इसलिए यदि आपकी मुझ पर कृपा है और मैं इस व्रत-विशेष के योग्य हूँ तो मुझे यह (व्रत) प्रदान कर अनुगृहीत करें। ऋषि ने कहा—तुम वैराग्य पथ के अनुगत (अनुगामी) हो, इसलिए मुझे (तुम्हारा अनुरोध) स्वीकार है। भला कौन दूसरा इसके योग्य होगा ? तब कतिपय दिन बीते, इस बीच उन्होने उसे अपने नियम व आचार विस्तार से समझा दिये तथा उचित तिथि, करण, मुहूर्त एवं लग्न मे उसे तापस-दीक्षा दे दी।

घोर तिरस्कार से उत्पन्न हुए अत्यधिक वैराग्य के कारण उस (अग्निशर्मा) ने दीक्षा के ही दिन गुरु के समक्ष, जो समग्र तापसो से घिरे हुए थे, महा प्रतिज्ञा की कि मैं जीवन पर्यन्त मास-मास के अनन्तर भोजन करूंगा, पारणे के दिन मैं पहले पहल जिस घर मे प्रवेश करूंगा, उस प्रथम घर से (प्रथम बार मे) भिक्षा प्राप्त हो या न हो, मैं वापिस लौट आऊंगा, दूसरे घर नही जाऊंगा।

यों अग्निशर्मा ने जिस प्रकार की प्रतिज्ञा की, उसका यथा-वत् अनुपालन करते हुए उसे अनेक लाख पूर्व व्यतीत हो गये। तपो-वन के समीपवर्ती वसन्तपुर के गुणानुरागी लोगो मे उसके प्रति अत्य-न्त भक्ति एवं आदर उत्पन्न हो गया। (वे अनुभव करते) आश्चर्य है ! यह महान् तपस्वी इस लोक की पिपासाओं-ऐहिक लालसाओ से परे है, अत्यन्त दृढता लिये यह शरीर के प्रति भी अनासक्त है, इसका

जीवन सफल है । कहा गया है—

लोगो द्वारा अनुभावित तथा वहुमानित होते हुए भी मनुष्य को गुण प्राप्त करने का यत्न करना चाहिए । जो व्यक्ति मात्सर्य—ईर्ष्या भाव नही रखता, वह यदि ज्ञानी नही है तो भी उसे गुण प्राप्त हो जाते हैं ।

इधर राजा पूर्णचन्द्र गुणसेन का विवाह कर, उसका राज्याभिषेक कर रानी कुमुदिनी के साथ तपोवन मे वास करने चला गया। कुमार गुणसेन महाराजा हो गया । अनेक सामन्त उसके चरणो में प्रणाम करते थे । अपने मण्डल से वड़े बड़े अनेक अन्य मण्डल उसने जीत लिये थे । उसका निर्मल एव विश्रुत—व्यापक यश दशों दिशाओं मे फैला था । वह धर्म, अर्थ तथा काम रूप त्रिवर्ग के सम्पादन मे रत था । आनन्दपूर्वक महारानी वसन्तसेना के साथ वह (राजा) सब लोगों द्वारा श्लाघनीय—प्रशसनीय राज्य-सुख भोगता हुआ सयोगवश एक वार वसन्तपुर मे आया । महा मांगलिक उपचार-क्रिया-कलापपूर्वक उसने नगर मे प्रवेश किया । नागरिकों ने उसका अभिनन्दन किया । वह उनके साथ वर्षा ऋतु की लीला-दृश्य-शोभा से सुसज्ज विमानच्छन्दक नामक प्रासाद— महल मे आया। वहा सघन काले अगुरु (अगर नामक सुगन्धित पदार्थ)के धूम-संघात दुर्दिन-वरसाती दिन के मेघो की शोभा का अनुसरण करते थे । रत्नावलिया-रत्नों की मालाएं विजलियो की तरह शोभित हो रही थी । मुक्तावलिया मोतियो की मालाए जल की धाराओ जैसी लगती थी । चंवरों की पक्तिया वगुलो की कतारो जैसी सुन्दर प्रतीत होती थी । रंग-विरगे वस्त्रो की मालाएं-श्रेणिया मानो इन्द्रधनुष की शोभा का अपहरण कर रही थी । वहा के भू-भाग सुगन्धित जल के छिडकाव से सुरभित थे—महकते थे । वहा फलो पर गुनगुनाते भौंरों के समूह मडराते थे । अधिक क्या कहा जाए—

मोह की नीद मे सोये हुए पुरुषों को स्वप्न की तरह यह (प्रासाद) कह रहा था कि पूर्व-काल मे आचरित सुकृत्यो का ही यह सुन्दर सौभाग्य-फल है ।

राजा ने वहा नागरिकों को उनकी योग्यता के अनुरूप सम्मानित किया । उनके चले जाने पर विविध प्रकार के नाटक, कविता-पाठ, नृत्य आदि मनोहर विनोद के साथ एक दिन व रात विताए । दूसरे दिन समग्र प्रात-कालीन कृत्य सम्पन्न कर राजा उचित समय में

अश्व-क्रीडा के मैदान की ओर निकला । (वहां) उसने वाह्लीक, तुरुष्क तथा वज्जर आदि (अनेक जाति के) घोडो की सवारी की । उससे उत्पन्न थकान मिटाने के लिए वह अश्व क्रीडा के मैदान के किनारे पर स्थित सहस्राम्र-वन-उद्यान मे बैठा । इसी बीच नारगियो की टोकरी लिये दो तापसकुमार वहा आये । उन्होने राजा को देखा । अपनी परंपरा मे प्रसिद्ध प्रचलित आशीर्वाद से राजा का अभिनन्दन किया । राजा ने अभ्युत्थान (सामने उठना-खडा होना), आसन-प्रदान (वैठने का आसन देना) आदि व्यवहार द्वारा उनका विशेष सत्कार किया ।

ऋषिकुमारो ने कहा—महाराज ! हमारे स्वनाम धन्य कुलपति ने चारो आश्रमो (ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ तथा सन्यास आश्रम), के मान्य, धर्म-अधर्म की समीचीन व्यवस्था करने वाले आपके देह-प्रवृत्ति के समाचार-कुशल समाचार पूछने के लिए हमे भेजा है। राजा ने कहा—वे भगवान् कुलपति कहां हैं ? उन्होने कहा—समीप ही सूपरितोप नामक तपोवन मे हैं।

तव वह राजा भक्तिपूर्ण उत्सुकता से तपोवन मे गया। उसने वहा वहुत से तापसो तथा कुलपति को देखा । उसका मन धर्म के प्रति आकृष्ट हुआ । उसने यथोचित रूप मे उन्हे वन्दन किया । वह कुलपति के समीप वैठा । उनके साथ धर्म सम्वन्धी वार्तालाप करता हुआ कुछ समय ठहरा। उसने विनय सहित भगवान् कुलपति को प्रणाम कर निवेदन किया—समग्र तापस-परिवार सहित मेरे घर आहार ग्रहण करने की कृपा करें। कुलपति ने कहा—वत्स ठीक है, परन्तु अग्निशर्मा नामक एक महान् तपस्वी है, जो प्रति दिन भोजन नही करता । वह महीने-महीने वाद भोजन करता है । उसमे भी वह पारणे के दिन प्रथम-प्रविष्ट प्रथम घर से, भिक्षा प्राप्त हो अथवा न हो, वापिस लौट आता है, दूसरे घर नही जाता । इसलिए उस महातपस्वी को छोड-कर (और सव के लिए) तुम्हारी प्रार्थना स्वीकार है । राजा ने कहा-भगवन् ! मैं अनुगृहीत हूँ । मैं उन्हे देखूं, उनके दर्शन से अपने को निष्पाप वनाऊं । कुलपति ने कहा—वत्स ! इस आम्र-वीथिका-आम के वृक्षों की पक्ति के नीचे की ओर वह ध्यान मे स्थित है । तव वह राजा आदरपूर्वक आम्र-वीथिका की ओर गया । उसने तपस्वी अग्नि-शर्मा को देखा । वह पद्मासन लगाये वैठा था । दोनो नेत्रो को स्थिर किये हुए था । विभिन्न-भिन्न भिन्न स्थितियो मे भटकने वाले

चैतसिक व्यापार को वह प्रशान्त बनाये हुए था। वह किसी ध्यान-विशेष मे निरत था।

राजा हर्ष से पुलकित हो उठा और उसने उन्हे प्रणाम किया। तापस ने राजा को आशीर्वाद दिया, अत्यन्त आदरपूर्वक उसका अभिनन्दन किया और कहा—आपका स्वागत है, बैठिए। राजा बैठा, सुखासन मे स्थित हुआ और बोला—इस महा दुष्कर तपश्चरण रूप व्यवसाय-तप आचरण का क्या कारण है? तपस्वी अग्निशर्मा ने कहा—महानुभाव! दरिद्रता का दुःख, दूसरो से तिरस्कार, कुरूपता तथा महाराजा का पुत्र गुणसेन नामक कल्याण-मित्र-यह सब इसका कारण है। तब राजा को अपने नाम की आशका हुई और उसने कहा—भगवन्! दारिद्र्य का दुःख आदि तो इस व्यवसाय के कारण हो, यह ठीक हो है पर महाराज का गुणसेन नामक पुत्र कल्याण-मित्र कैसे? तपस्वी अग्निशर्मा ने कहा—महानुभाव! वह इस प्रकार कल्याण-मित्र है, सुने—

जो उत्तम व्यक्ति होते है, वे स्वयं धर्म को प्राप्त करते हैं, मध्यम प्रकृति के व्यक्ति दूसरो से प्रेरित होकर धर्म को प्राप्त करते हैं तथा निम्न कोटि के व्यक्ति किसी भी तरह से नही।

ससार के कारागार मे जकडे हुए जीव को जो किसी एक विशेष नय-विशेष प्रकार द्वारा धर्म मे प्रेरित करता है, वह निश्चय हो कल्याण-मित्र है।

राजा को अपने कुमार-काल का वृत्तान्त स्मरण हुआ। उसका मुह लज्जा से झुक गया। वह कहने लगा भगवन्! उसने आपको धर्म मे जो तीनो लोको मे बन्धु तुल्य है, कैसे प्रेरित किया? अग्निशर्मा ने कहा—महासत्त्व! (उससे होने वाली) अनेक प्रकार की प्रेरणाए है, जिन्हे कथचित् निमित्त रूप मे स्वीकार कर मैं प्रेरित हुआ।

तब राजा ने सोचा—आश्चर्य! इनकी कितनी महानता है! तिरस्कार को भी इन्होने उपकार तथा प्रेरणा के रूप मे ग्रहण किया है। परनिन्दा का परिहार-परित्याग करते हुए अपने शुद्ध स्वभाव के कारण उसे (मेरे द्वारा किये गये परिभव-तिरस्कार को) मन मे भी नही लाते। मैं पापकर्मा हूँ। मैंने दारुण-निर्दयतापूर्ण अकार्य किया है। न करने योग्य कार्य के आचरण रूप कलक से मैं दूषित हूँ। मैं अपने को इन्हे बतलाऊ-इन्हे अपना परिचय दूं, यों सोचकर उसने

कहा—भगवन् ! मैं वह महापाप कर्मकारी, आपके हृदय को सन्तप्त करने वाला अगुणसेन हूँ। तपस्वी अग्निशर्मा ने कहा—महाराज ! आपका स्वागत है। आप अगुणसेन कैसे हैं ? दूसरो द्वारा दिये गये अन्न पर जीना मात्र मेरा वैभव था। ऐसे मुझ को आपने इस प्रकार की तप-विभूति प्राप्त करा दी। राजा ने कहा—अहो ! आपकी कितनी महानता है ! अथवा तपस्वी जन क्या प्रिय छोड़कर और भी कुछ बोलना जानते हैं ? चन्द्र-बिम्ब से अगारो की वर्षा नही होती। अधिक क्या कहे ?

अस्तु—भगवन् ! आपका पारणा कब होगा ? अग्निशर्मा ने कहा—महाराज ! पांच दिनो से अर्थात् पाच दिनो के बाद। राजा ने कहा—भगवन् ! यदि आपके कोई बाधा न हो तो मेरे घर पारणा करने की कृपा कीजियेगा। मैंने कुलपति से आपकी विशिष्ट प्रतिज्ञा के सम्बन्ध मे जान लिया है। इसलिए पहले से ही प्रार्थना कर रहा हूँ। अग्निशर्मा ने कहा—महाराज ! उस दिन को आने दीजिए, कौन जाने इस बीच क्या हो जाए।

इस समय यह करता हूँ। यह करके कल फिर वह करूंगा। इस स्वप्न तुल्य जीव-लोक मे ऐसा कौन सोचे ?

महाराज, दूसरी बात—

जीव-लोक के स्वभाव जगत्-स्थिति को धिक्कार है। पिछले पहर मे जिन स्नेह व अनुरागशील व्यक्तियो को देखा, वे अगले पहर मे नही दिखाई देते।

इसलिए महाराज ! उस दिन को आने दीजिए। राजा ने कहा—भगवन् ! कोई विघ्न न हो तो आप आए। तपस्वी अग्निशर्मा ने कहा—यदि आपका ऐसा आग्रह है तो आपकी प्रार्थना मुझे स्वीकार है। तब राजा उन्हे प्रणाम कर, हर्षवश रोमाचित होता हुआ कुछ समय वहा ठहर नगर मे प्रविष्ट हुआ। (पूर्व वर्णनानुसार कुलपति के भोजनार्थ आने पर राजा ने) तापस-परिवार सहित कुलपति का अपनी भक्ति तथा वैभव के अनुरूप सत्कार किया।

पाच दिन बीतने पर अग्निशर्मा का पारणे का दिन आया। वह पारणे के लिए पहले पहल राजा के घर मे प्रविष्ट हुआ। उसी दिन राजा गुणसेन के सिर मे अत्यधिक पीडा उत्पन्न हो गई थी, जिससे सारा राजकुल आकुल था। वैद्यक-शास्त्र मे निपुण वैद्य वहां आये हुए थे। वे अनेक चिकित्सा-सहिताओ-चिकित्सा-ग्रन्थो को सूक्ष्मता

से देख रहे थे । वहुत प्रकार की औषधिया पीसी जा रही थी, मस्तक-पीडा को दूर करने वाले तरह-तरह के रत्नो के लेप किये—जा रहे थे । अपने वुद्धि-वैभव से शुक्र तथा वृहस्पति का भी उपहास करने वाले-उनसे भी अधिक बुद्धिशाली मन्त्री गरण किंकर्तव्य-विमूढ थे । पुरोहितो ने मन्त्रोच्चारणपूर्वक आहुति देते हुए शान्ति-कर्म प्रस्तुत किया । उस समय रनवास उद्विग्न था । वहा नारियों द्वारा धारण की हुई सुगन्धित मालाओ की शोभा म्लान हो रही थी, सुन्दर वर्ण के अंगराग मिटते जा रहे थे, कपोलो पर की हुई चित्रण-सज्जा आसुओ के जल से धुल रही थी, म्लान मुख-कमल हाथो पर झुके थे । उस समय कन्याओ का अन्त.पुर भी वड़ा उन्मना और खिन्न था । कन्याएं कन्दुक-क्रीडा-गेद के खेल से विरत थी, उन्होने चित्र-कर्म-व्यापार-चित्रकारिता का अभ्यास परित्यक्त कर दिया था, नाच-गान वन्द कर दिया था तथा अपने आभूपण उतार दिये थे । पहरेदार अपनी वेंत का लाठी पर झुके थे । उनके चेहरे उडे हुए थे । राजा की अत्यधिक पीडा की सूचना करने वाले नाटे कंचुकियो (अन्त पुर के भृत्यो) का मन खिन्न था । रसोइये आदि नौकरो ने अपने अपने कार्य छोड दिये थे, उनका चित्त उदास था ।

इस प्रकार की ऐसी अस्त-व्यस्त व विषम स्थिति मे विद्यमान राजकुल में तपस्वी अग्निशर्मा कुछ समय रुका । किसी ने उसका वचन मात्र से भी आदर-सत्कार नही किया । वह राज-भवन से निकला । (निकल कर) तपोवन मे चला गया । तापसो ने उसे देखा और कहा-भगवन् ! आपका शरीर पारणा न किये हुए जैसा परिम्लान-मुरझाया हुआ दीख रहा है । क्या पारणा नही किया ? क्या इस समय आप राजा गुणसेन के यहां नही गये ? तपस्वी अग्निशर्मा ने कहा—मैं राजा के घर गया । किन्तु राजा का शरीर वास्तव मे अस्वस्थ मालूम होता है । क्योकि उसके घर मे सारे परिजन-नौकर-चाकर उद्विग्न दिखाई दे रहे थे । मैं उसे (राज-भवन को) उस स्थिति मे देख न सका इसलिए शीघ्र वहा से निकल आया । तापसो ने कहा - नि.सन्देह राजा का शरीर विशेष अस्वस्थ था । अन्यथा तपस्वी जन के प्रति वैसी भक्ति वाला वह आपका पारणा जानकर स्वय कैसे ध्यान नही रखता ? दूसरे-आपके प्रति उस राजा का वहुत भक्ति-भाव और आदर है । यही कारण है, वह कुलपति के समक्ष आपके सद्गुणो का वहुत वखान करता था । तपस्वो अग्निशर्मा ने कहा—गुरुजनो की पूजा--

आदर करने वाला वह आरोग्य-लाभ करे, मेरे आहार की कोई खास बात नही है। इस प्रकार उसने (पुन.) मासिक उपवास का व्रत प्रतिपन्न-स्वीकार कर लिया।

इधर राजा गुणसेन ने शिर की पीडा शान्त हो जाने पर अपने नौकरों से पूछा—आज उन महान् तपस्वी के पारणे का दिन था, वे आये हो। किसी ने उनका सत्कार किया या नही ? उन्होने कहा—महाराज ! वे आये थे। किन्तु आपकी मस्तक-पीडा से उत्पन्न हुए हृदय-सन्ताप के कारण नौकर-चाकर अपना-अपना कार्य छोडे हुए थे। इस स्थिति मे उनका न किसी ने सत्कार किया और न उन्हे पूछा ही। यहा का वृत्तान्त उन्हे ज्ञात नही था। उन्होने आपके नौकरो को विचित्र स्थिति मे देखा, थोडी देर ठहरे और फिर उद्विग्न से होकर चले गये।

राजा ने कहा—हाय ! मैं कैसा अधन्य-अभागा हूँ, महान् लाभ से वर्जित रह गया। एक तपस्वी के शरीर को कष्ट देकर मैंने बडा अनर्थ किया। यो विलपन-दु ख-पश्चात्ताप कर वह दूसरे दिन सवेरा होते ही तपोवन मे गया। उसने कुलपति आदि बहुत से तापसो को देखा। उसने लज्जा और विनय से झुके हुए अपने मस्तक से उन्हे विधिपूर्वक प्रणाम किया। कुलपति आदि सभी तापसो ने आशीर्वाद से उसका अभिनन्दन किया। कुलपति ने कहा—महाराज ! बैठिए, आपका स्वागत है। राजा सिर झुकाये, अत्यधिक लज्जा से सकुचाये, लम्बे सांस छोडता हुआ कुलपति के सामने बैठा। राजा को वैसी विचित्र स्थिति में देख उन्होने कहा—वत्स ! उद्विग्न से दिखाई देते हो। यदि अकथनीय-न कहने योग्य न हो तो मुझे उद्वेग-खिन्नता का कारण बतलाओ। राजा ने कहा—आपको भी न कहने—योग्य हो, ऐसी भी कोई बात हो सकती है ? अकथनीय वस्तु-विषय से उद्विग्न व्यक्ति का तपोवन मे आना भी उपयुक्त नहीं है। कुलपति ने कहा—वत्स ! यह अच्छी बात है, तुम्हारा विवेक उचित है। हा, तो उद्वेग का क्या कारण है ? राजा ने कहा—आपकी आज्ञा है, यो मानकर मैं कह रहा हूँ। अन्यथा इस प्रकार के नृशंस-क्रूर आचरण के सम्बन्ध मे मैं कैसे कह सकता हूँ ? कुलपति ने कहा—वत्स ! तपस्वी-जन सब के के लिए माता के समान होते हैं। अत. उनके सामने कैसी लज्जा ? आप कहे, जिससे मैं वृत्तान्त जानकर किसी उपाय से आपके उद्वेग को दूर कर सकूं।

राजा ने कहा—भगवन् ! यदि ऐसा है तो सुनिए—

ये अग्निशर्मा मन्दपुण्य, असमीक्षितकारी-विना सोचे समझे कार्य करने वाले, अयोग्यजन जैसा आचरण करने वाले मेरे सम्बन्ध से हुए वैराग्य के कारण तापस हो गये। ये उत्तम व्रत स्वीकार किये हुए हैं। उस पर भी मैंने इनके साथ अनुचित व्यवहार करना नही छोडा, इसका मुझे दुःख है। कुलपति ने कहा—वत्स ! यदि ऐसी बात है तो सन्ताप मत करो। ऐसा करने का क्या कारण है (कोई कारण नही है) यदि तुम्हारे कारण से यह तापस हुआ है तो तुम इसे धर्म मे प्रवृत्त करने वाले इसके कल्याण-मित्र हो। तव उद्विग्नता की बात ही क्या है ? तुम परलोक से डरने वाले हो, धर्म-शास्त्रो के जानकार हो, तुमसे इस (अग्निशर्मा) का कोई असज्जनोचित आचरण वन पडा है, ऐसा मुझे सभावित नही लगता। अथवा इस समय तुमने वैसा क्या किया है वतलाओ तो। राजा ने कहा—मैंने उन्हे उपनिमन्त्रित किया। ये मासिक पारणे के निमित्त मेरे घर मे प्रविष्ट हुए। मस्तक पीडा से व्याकुल होने के कारण मैं प्रमादवश नौकरो को उधर नियुक्त नही कर पाया। इस प्रकार मैंने इनके आहार का अन्तराय कर इस समय धर्म का अन्तराय किया। कुलपति ने कहा—वत्स ! जो कुछ हुआ है, इसमे तुम्हारा अपराध नही। तीव्र वेदना से पीडित व्यक्ति कार्य या अकार्य नही जानते और न उसके आहार का अन्तराय करने से धर्म का अन्तराय ही हुआ है बल्कि यह तो तप-सपदा (का अवसर) है। इसलिए उद्वेग मत करो।

राजा ने कहा—भगवन् ! जब तक वे महानुभाव (अग्निशर्मा) मेरे घर भोजन न करलें, मेरा उद्वेग कैसे दूर हो ? कुलपति बोले—इस बार यदि बिना किसी विघ्न के पारणे का दिन आयेगा तो वह तुम्हारे घर आहार-ग्रहण करेगा। तब कुलपति ने अग्निशर्मा तापस को बुलाया, आदरपूर्वक उसका हाथ पकडकर उन्होने कहा—वत्स ! तुम राजा के घर से पारणा बिना किये लौट आये, उससे राजा को वहुत सन्ताप है। कल इसके सिर मे वहुत वेदना थी। वेदना-परवश-पीडा से व्याकुल होने के कारण तुम्हारा सत्कार नहीं कर सका, इसलिए इसका अपराध नही है। इसने कहा है तपस्वी अग्निशर्मा जव तक मेरे घर भोजन ग्रहण नही कर लेंगे, तब तक मेरा उद्वेग नही मिटेगा। इसलिए इस बार निर्विघ्नतया जब पारणे का समय आ जाए तो मेरे वचन तथा राजा के वहुमान के कारण इस

(राजा) के घर पारणा करना। तपस्वी अग्निशर्मा ने कहा—भगवन् ! जैसी आपकी आज्ञा। राजा अकारण सन्तप्त हो रहा है। क्योंकि इसने ऐसा तो कुछ नही किया है, जो मेरे पारलौकिक जीवन के विरुद्ध हो - जिससे मेरा परलोक विगड़े। तव राजा "अहो ! इनकी कितनी महानता है" यों कह, तपस्वीजन को प्रणाम कर कुछ काल उनकी पर्युपासना—सान्निध्य—लाभ कर नगर मे प्रविष्ट हुआ।

फिर काल—क्रम से राजा को विषय—सुख का अनुभव करते हुए और अग्निशर्मा को दुष्कर तपश्चरण करते हुए एक मास व्यतीत हो गया। इस बीच जव पारणे का दिन आया, फौजी छावनी से आये हुए राजपुरुषो ने राजा से निवेदन किया—अपने प्रवल पराक्रम से गर्वित आपकी सेना विपम द्रोणीमुख—दो पहाड़ियो के वीच की ऊची—नीची घाटी के किनारे पर स्थित थी। अपनी रक्षा का उपाय उसने नही कर रखा था। राजा मानभंग ने, जो सावधान था, "दूसरे प्रकार से देश का विनाश होगा" यह देखकर—सोचकर आपके पदातियो—पैदल सैनिको के गहरी नीद मे सो जाने पर आधी रात के समय, जब रात्रि रूपी वधू का प्रियतम, तीनों लोको का मंगल—दीप चन्द्र अस्त हो चुका था, अपनी सारी सेना के साथ वीरतापूर्वक आपकी सेना पर आक्रमण किया और उसे जीत लिया। अव आप ही प्रमाण हैं—आप जैसी आज्ञा करें।

यह दु:सह वचन सुनकर राजा की आखें क्रोध की आग से जलने लगीं, लाल हो गई, होठ विपम रूप मे फड़कने लगे। उसने निर्दयता से—बहुत जोर से जमीन पर हथेली पटकी और क्रोध के कारण लड़खड़ाती हुई वोली से नौकरो को आज्ञा दी—शीघ्र कूच का नगाड़ा वजाओ, दुर्जय हाथियो की सेना सजाओ, गर्वीले घोडो के दल को काठिया लगा तैयार करो, ध्वजाओं तथा मालाओ से शोभित रथ—समूह को जोड़ो, तरह—तरह के शस्त्रो से सुसज्ज पैदल सेना को रवाना करो।

तव राजा के आदेश के अनन्तर ही कूच के नगाड़े का शब्द सुनकर असमय मे आये दुर्दिन—वरसाती दिन की तरह राजा का सैन्य चारो ओर से इकट्ठा हो गया। जहां हाथी मेघ--घटा के समान शोभा पा रहे थे। ऊंची ऊची ध्वजाए, चवर तथा छत्रो के समूह ही मानो वगुने थे। तीक्ष्ण तलवारें और भाले विजली जैसे लगते थे। शंख, वड़े वड़े ढोल और तुरही के निर्घोप—ध्वनि रूपी मेघ-गर्जन से दिशाएं

पूरित थी। नरेन्द्र गुणसेन सुन्दर रथ पर आरूढ हुए। उनके आगे जल से भरे स्वर्ण-कलश रखे जा रहे थे। विजय-लक्ष्मी का संसूचक मंगल-वाद्य वज रहा था। वन्दीजन तरह-तरह के मगल-पाठ उच्चारित कर रहे थे।

इस वीच तपस्वी अग्निशर्मा पारणे के लिए राजा के घर में प्रविष्ट हुआ। राजा के प्रस्थान को लेकर उसके मुख्य सेवक उतावली मे थे, अतः उस विशाल भीड मे अग्निशर्मा की ओर किसी का ध्यान नही गया। तव वह कुछ देर रुका और फिर दृप्त-मदोन्मत्त हाथियो और घोड़ों की चपेट मे आ जाने के भय से राजा के घर से लौट गया। इसके अनन्तर ज्योतिषियों ने, जिन्होने खूंटी द्वारा छाया का माप लिया था, जो ज्योतिष-शास्त्र का परमार्थ-रहस्य-सार जानते थे, राजा से निवेदन किया—देव ! उत्तम मुहूर्त है, प्रस्थान कीजिए। राजा ने कहा—तपस्वी अग्निशर्मा के पारणे का दिन है। कुलपति के वचन से उन्होने मेरे घर आहार ग्रहण करना स्वीकार किया था। इसलिए वे महानुभाव आ जाए। उनके भोजन कर लेने के वाद उन्हें प्रणाम कर चलेंगे। तव समीप स्थित कुल-पुत्र-उच्च कुलोत्पन्न कुमार ने कहा—देव ! वे महानुभाव अभी-अभी आये थे। मदोन्मत्त हाथियों और घोडो के समूह की चपेट में आने के भय से राजा-भवन से चले गये। मेरा अनुमान है, अव तक वे नगर से बाहर नही निकले होगे। यह सुनकर राजा शीघ्र उस मार्ग की ओर रवाना हुआ और उसने नगर से निकलते हुए तपस्वी अग्निशर्मा को देखा। तव अपने उत्तम रथ से उतरकर भक्तिपूर्वक उनके चरणो मे गिरकर उसने वहुत आदर के साथ उनको निवेदन किया—भगवन् ! कृपा कर वापिस लौटिए। जाना आवश्यक होने पर भी मैं आपके आगमन की प्रतीक्षा करता हुआ इतने समय ठहरा था। उस वीच आप मेरे घर में प्रविष्ट हुए। मेरे मुख्य सेवक आपको देख ही न पाये थे कि आप वापिस लौट गये। इसलिए वापिस पधारिए। तपस्वी अग्निशर्मा ने कहा—महाराज ! आप मेरी विशेप प्रकार की प्रतिज्ञा का वृत्तान्त जानते ही हैं। इसलिए अव ऐसा अनुरोध मत कीजिए। तपस्वी सत्यप्रतिज्ञ होते हैं। लाभ एव अलाभ उनके लिए ममान हैं। राजा ने कहा—भगवन् ! मैं अपने इस प्रमादपूर्ण आचरण से लज्जित हूँ। तीव्र तपस्या से उत्पन्न आपकी शरीर-पीडा से मेरी पीडा कही अधिक है। सन्ताप की अग्नि मुझे वुरी तरह जला रही है। मेरा हृदय टूटा जा रहा है। मेरी वाणी रुंधती

जा रही है । मैं अपने को महा पाप-कर्म करने वाला मानता हूँ । आप सब दु खी प्राणियो के वन्धु तुल्य और निष्कारण वात्सल्यशील हैं । भगवन् ! आप ही इस दुःख को शान्त करने का उपाय सोचिए । तपस्वी अग्निशर्मा ने सोचा—महाराज के भावो मे कितना ऊंचापन है ! मैं पारणा नही कर पाया, इसका इसके इतना खेद है । अहो ! गुरुजनो की शुश्रूषा का इसे इतना अनुराग है, इसलिए जब तक मैं इसके घर पारणा नहीं कर लूगा, यह स्वस्थ-परितुष्ट नही होगा । यह सोचकर (अग्निशर्मा) ने कहा महाराज ! आपके दु ख का कोई कारण नहीं है तो भी इसके शान्त होने का यह उपाय है । बिना किसी विघ्न के पुन पारणे का दिन आने पर मैं आपके घर आहार ग्रहण करूंगा, यह मै स्वीकार करता हूँ । इसलिए सन्ताप न करें । तब जमीन पर घुटने और हथेली टिकाकर राजा ने कहा—भगवन् ! इस दु ख के उपशम का-शान्त होने का आपने सुन्दर उपाय सोचा । अथवा तपस्वी जन निर्मल ज्ञान रूपी नेत्रो वाले होते हैं, वे क्या नही जानते ? मैं अनुगृहीत हूं । यह आपकी निष्कारण-वत्सलता के अनुरूप ही है । आप तपोवन को जाए। मैं तो इस नये प्रमाद के कलक से दूषित होने के कारण कुलपति के दर्शन करने का साहस भी अपने मे नही पाता । यो कहकर तपस्वी अग्निशर्मा को प्रणाम कर राजा लौट आया। मुझे इस समय नही जाना चाहिए, यो सोचकर उसने मान-भग पर सेना भेज दी ।

अग्निशर्मा तपोवन मे गया, कुलपति को सारा वृत्तान्त जैसा घटित हुआ, निवेदित कर दिया । कुलपति ने "वत्स ! अच्छा किया" यों कहकर उसका अभिनन्दन किया । वह (अग्निशर्मा) अपने व्रत-विशेष (की आराधना) मे लग गया । राजा, जिसका दिन पर दिन धर्म के प्रति खिचाव वढता जा रहा था, से सत्कृत उस (अग्निशर्मा) को एक मास पूरा हो गया। राजा के सैकडो मनोरथो के साथ पारणे का दिन आया । उसी दिन राजा गुणसेन की रानी वसन्तसेना ने पुत्र को जन्म दिया । प्रतिहारी-रनवास की पहरेदारिन ने, जिसका मुख-कमल हर्ष से प्रफुल्लित था, राजा को उल्लासपूर्वक निवेदन किया—महाराज ! यह प्रजा का भाग्य है, देवी वसन्तसेना ने सुखपूर्वक पुत्र को जन्म दिया है, जो आपके अभ्युदय का सूचक है । राजा पुत्र-जन्म के समाचार से रोमाचित हो गया । उसने पहरेदारिन को हाथो के कड़े, बाजूबन्द, कान का अलंकार आदि शरीर के गहने देकर आज्ञा

दी—वसुन्धरे । जो कोई पहरेदार पास मे हो, मेरे वचन से आदेश दो कि काल–घण्टा के प्रयोग से—काल–घण्टा बजाकर मेरे राज्य मे सब (जो कारागृह में वन्दी है) को वन्धन-मुक्त कर दिया जाए, घोषणा–पूर्वक (याचको को) मन चाहे से भी अधिक महादान दिया जाए, मेरे पुत्र–जन्म का समाचार जितशत्रु आदि राजाओ को भेजो, नागरिको को देवी के पुत्र–जन्म रूप अभ्युदय की जानकारी कराओ, नगर मे पूर्व निर्दिष्ट समय के विना एकाएक आयोजित किया जाने वाला महान् उत्सव कराओ । पहरेदारिन ने (राजा द्वारा) जैसी आज्ञा की गई थी, तदनुसार पहरेदारो को निर्देश कर दिया । उन्होने राजा की आज्ञा का अनुवर्तन किया । मनोरम वर्द्धापन-समारोह-वधाई का उत्सव मनाया गया, जिसमे अनेक पान-गोष्ठियां आयोजित थी । वहां वजाई जाती तुरही की आवाज दशो दिशाओ मे फैल रही थी, नारिया अपना एक हाथ ऊचा कर करके नाच रही थी, अन्त पुर की ललनाए एक दूसरे के श्रेष्ठ उत्तरीय (शरीर के ऊपरी भाग में पहना या ओढा जाने वाला वस्त्र) वलात् खीच रही थी । विशेष रूप से सजी हुई स्त्रियां आपस मे मिल रही थी । पीछे से आकर (दूसरी स्त्रियो द्वारा) की गई मुक्के की चोट से डरी हुई स्त्रिया सिसकारी छोड रही थी । मद से उन्मत्त होने के कारण स्त्रिया कचुकी (अन्त पुर के वृद्ध सेवक) को नचा रही थी । हाथ से वजाये जाते ढोलक की मधुर ध्वनि सुनाई दे रही थी । दान से परितुष्ट अनेक वन्दीजन जय शब्द का उद्घोप कर रहे थे । नाचती हुई ठिगनी और वौनी दासिया राजा को हसा रही थी ।

✔ वसन्तपुर नगर मे वहुत वडा उत्सव चलने लगा । इस प्रकार राजा सहित नौकर–चाकर महादानी के पुत्र–जन्माभ्युदय के आनन्द मे अत्यन्त प्रमत्त–मस्त वने हुए थे कि तपस्वी अग्निशर्मा पारणे के लिए राजकुल मे प्रविष्ट हुआ । किसी ने वचन मात्र से भी उसका सत्कार नही किया । अशुभ कर्मों के उदय से उसका मन आर्त्त-ध्यान मे दूषित हो चला । वह शीघ्र ही वहा से निकल गया । वह सोचने लगा—अहो ! इस राजा का मेरे प्रति वचपन से वैरानुवन्ध–शत्रुभाव चला आ रहा है, जो अनुचित है । उसके अत्यन्त रहस्यपूर्ण आचरण को देखो तो सही, मेरे आगे तो मनोनुकूल वाते वनाता है पर आचरण उससे उल्टा करता है । यो सोचता हुआ वह नगर से निकल गया । इसके वाद अज्ञान के दोष से तथा पारमार्थिक पथ का चिन्तन न करने से वह कषायो द्वारा जकड़ लिया गया । उसकी परलोक–भावना चली

गई, धर्म-श्रद्धा नष्ट हो गई, सकल दुःख रूपी वृक्ष के बीज के तुल्य अमैत्री-भाव जाग उठा, शरीर को पीडा देने वाली तीव्र भूख लगी। वह भूख से तिलमिला उठा।

प्रथम परिषह (भूख) से आक्रान्त, अज्ञान और क्रोध के वशीभूत हुए उस मूढ हृदय वाले ने यह घोर निदान (कर्म-फल का आगामी काल के लिए संकल्प) किया कि मेरे द्वारा अच्छी तरह अनुष्ठित इस व्रत-विशेष का फल हो तो प्रत्येक भव मे इसके वध के लिए जन्म हो।

जो व्यक्ति कपने प्रणयी-प्रेमी लोगो का प्रिय तथा शत्रुओ का अप्रिय न कर सके तो मात्र अपनी माता का यौवन नष्ट करने वाले उसके जन्म से क्या।

वह पापी राजा विना किसी अपराध के वचपन से ही मेरा शत्रु है। इसलिए मैं उसका अप्रिय करूंगा।

इस प्रकार निदान करके उस स्थान (कुत्सित भाव-भूमि) से प्रतिक्रान्त न होता हुआ—उसका प्रतिक्रमण न करता हुआ (मन में आये इन परिणामो के लिए पश्चात्ताप न करता हुआ) क्रोध की अग्नि से जलते हुए चित्त मे वार वार वह इस तरह की भावना लाता रहता।

इस वीच वह तपोवन मे पहुचा। अनेक विकल्पों से उत्पन्न हुई चिन्ता के कारण उसकी क्रोधाग्नि धधक रही थी, वढ़ रही थी। वह कुलपति तथा शेप तापसो से वचकर आम्रवीथिका मे गया तथा निर्मल-स्वच्छ पत्थर के वने हुए चौकोर चवूतरे पर वैठा। मनस्ताप-वश पुनः सोचने लगा— अहो! उम राजा का मेरे प्रति कितना शत्रु-भाव है। क्यो उसने सव तापसो मे मेरा उपहास किया? मेरी विशेष प्रतिज्ञा को जानकर उस कपटी ने उस प्रकार से मुझे निमन्त्रित किया, जिससे मेरा पारणा नही हो सका और मैं तिरस्कृत हुआ। वह राजा मूर्ख है। इस अवस्था को पहुचे हुए मुझे सताकर वह क्या करेगा? जो प्राणी अनाथ हैं, दुर्वल है, दूसरो द्वारा तिरस्कृत हैं, वे तो मानो यम-राज (दुर्भाग्य) द्वारा ही मारे हुए हैं। उनको कष्ट देने से अभिमानी का अभिमान पूरा नही होता और विशेप रूप से उन तपस्वियो को, जिनके लिए शत्रु और मित्र समान हैं तथा जो परलोक साधने मे लगे हैं। अथवा मैंने आहार मात्र (सर्वथा आहार) की आसक्ति नही छोडी अतएव मुझे इतना सताया जा सका है। इसलिए मैं अव आजीवन आहार नही करूंगा, जिसमे मात्र तिरस्कार समाया है। इस प्रकार

जीवन भर के लिए उसने महा उपवास-व्रत स्वीकार कर लिया ।

इसके वाद तपस्वियो ने उसे देखा—वह अपने सारे कार्य छोड़े हुए था, अशुभ ध्यान से उसका मन दूषित था, तपस्या से शरीर परिक्षीण था । उन्होने कहा—भगवन् ! आपका शरीर वडा क्षीण दीख रहा है, आप पुष्प एवं (चन्दन आदि के) विलेपन द्वारा सत्कृत नही हैं । तो क्या अब भी आपका पारणा नही हुआ ? अग्गिशर्मा ने कहा- नही हुआ है । तापसो ने पूछा—कैसे नही हुआ ? क्या आप राजा गुणसेन के घर मे प्रविष्ट नही हुए ? अग्निशर्मा ने कहा—प्रविष्ट हुआ था । तापसो ने पूछा—तव कैसे नही हुआ ? अग्निशर्मा वोला—यद्यपि मेरा कोई अपराध नही हैं पर वचपन से ही वह राजा मुझसे वैर रखता आ रहा है । उसने मुझे कष्ट पहुचाया । पहले मैं समझ नही पाया, अब मैंने उसका वैर-भाव जान लिया है । विनीत की तरह दिखाई देता है पर उस मिथ्या विनीत का वैर-भाव छूटता नहीं, जिससे उपहास करने की नीयत से मुझे निमन्त्रित कर तरह तरह के कपटपूर्ण वहाने वना अनार्योचित कार्य (अनुचित व्यवहार) से मेरा तिरस्कार करता है । आज मेरे पारणे का दिन जानकर उसने अचानक उत्सव आयोजित करा दिया । मैं राजा के घर मे प्रविष्ट हुआ । किसी ने मेरा सत्कार नही किया । मैंने राज-परिवार का अभिप्राय जान लिया और मैं शीघ्र वहां से निकल आया । तव तापसो ने कहा—तपस्वियो के प्रति वात्सल्य रखने वाले राजा गुणसेन के लिए ऐसा सम्भव तो नही लगता अथवा मनुष्य विभिन्न गाठो (कपटपूर्ण वृत्तियो) वाले होते है, उनसे क्या सम्भव नही है ? ऐसा कोई कार्य नही है, जो कषायवश न किया जा सके । यो कहकर उन्होने (तापसो ने), जो वहुत उद्विग्न हो रहे थे, कुलपति को निवेदन कर दिया कि अग्निशर्मा तापस का इस घटना से अव भी पारणा नही हो सका है ।

तव कुलपति हडवड़ी के साथ शीघ्र अग्निशर्मा के पास आये। अग्निशर्मा ने यथोचित विधिक्रम के साथ उनकी पूजा की । तब उन्होने (कुलपति ने) कहा—वत्स ! अब भी तुम्हारा पारणा नही हुआ ? आश्चर्य ! उस राजा गुणसेन का ऐसा अनुचित आचरण ! अग्निशर्मा तापस ने कहा—राजा प्रमादी होते हैं । अथवा उस (गुणसेन) का क्या दोप है, यह तो मेरा ही दोष है, जिसने भोजन मात्र की आसक्ति का त्याग नही किया, जिससे उसके घर मे प्रवेश करना पड़ा । अब मैंने जीवन भर के लिए इस आसक्ति को भी छोड़ दिया है, जो सब

प्रकार के परिभव-तिरस्कार का बीज है । इसलिए भगवन् (आप) से मेरी प्रार्थना है, इस सम्बन्ध मे आप मुझे और तरह का आदेश न दीजियेगा । कुलपति ने कहा—यदि आहार का त्याग कर दिया है तो अब आज्ञा का समय चला गया । तपस्वी सत्यप्रतिज्ञ होते हैं । किन्तु तुम्हे राजा पर क्रोध नही करना चाहिए । क्योकि सब पूर्व-कृत कर्मों का फल भोगते हैं । दूसरा तो अपराध-दोष और गुण मे केवल निमित्त बनता है । इस प्रकार कुलपति ने उसे शिक्षा दी, उसकी परिचर्या के लिए तपस्वियो को नियुक्त किया और वे चले गये ।

इधर राजा गुणसेन के नौकर-चाकर अकस्मात् समायोजित उत्सव का आनन्द ले रहे थे, पारणे का समय बीत चुका था, तब राजा को याद आया-आज उस महातपस्वी के पारणे का दिन था । हाय ! मेरी अधन्यता-मेरा दुर्भाग्य ! मुझे लगता है—उस महातपस्वी का पारणा नही हो सका है । समीप-स्थित सेवको से उन्होने (राजा ने) पूछा कि वे महान् तपस्वी यहा आये या नही ? उन्होने सावधानी से पता लगाकर निवेदन किया-राजन् ! आये थे किन्तु महारानी के पुत्र-जन्मोत्सव के आनन्द मे नौकर-चाकर अत्यन्त प्रमत्त-मस्त बने थे, इसलिए किसी ने उनका सत्कार नही किया । तब वे शीघ्र ही यहा से लौट गये । राजा ने कहा—हाय ! यह मेरे पाप का परिणाम है । उस महान् तपस्वी को धर्म का अन्तराय हुआ, इसलिए मैं महारानी के पुत्र उत्पन्न होने की आनन्दप्रद घटना भी आपत्ति ही मानता हूँ । अभागों के घर धन की वर्षा सर्वथा-बिल्कुल नही होती । मैं अपने प्रमाद के दोष से इतना दूषित हूँ कि वृत्तान्त जानने के लिए उनका मुख देखने तक का साहस नही कर सकता । सोमदेव पुरोहित ! जाओ, उस महातपस्वी के वृत्तान्त की खोज करके कि उसने क्या किया, मुझे शीघ्र निवेदित करो, मेरा हृदय आशंकित सा हो रहा है । पर ध्यान रहे, कोई न जान पाए कि तुम मेरे आदमी हो ।

सोमदेव पुरोहित तपोवन मे गया । उसने अग्निशर्मा तापस को देखा । वह बहुत से तपस्वियो से घिरा, पहाडी नदी के तट के समीप निर्मित मण्डप मे स्थित, लम्बे कुशो से तैयार किये गये आसन पर बैठा क्रोधवश राजा के सम्बन्ध मे बात कर रहा था । सोमदेव ने विनय से मस्तक झुका उसे प्रणाम किया । उसने आशीर्वादपूर्वक "आपका स्वागत है", यों कहकर "बैठिए" ऐसा निर्देश किया । सोमदेव पुरोहित बैठा । उसने कहा—भगवन् ! आपका शरीर बहुत क्षीण

दिखलाई पड रहा है, क्या वात है ? अग्निशर्मा तापस ने कहा—निःस्पृह तथा दूमरो से प्राप्त भिक्षा पर निर्वाह करने वाले तपस्वियो का शरीर कृश होता ही है । सोमदेव ने कहा—ठीक है, तपस्वी नि स्पृह ही होते हैं किन्तु धन, धान्य, चांदी, सोना, मरिण, मोती, मूंगा, द्विपद-दो पैरोवाले प्राणी तथा चतुष्पद—चार पैरोवाले प्राणियो के सन्दर्भ मे न कि धर्म-काय—धर्मोपकरणभूत देह के उपकारक आहारमात्र मे । यहा (ससार मे) ऐसे लोग नही हैं, जो मुक्ति के पथ पर चलनेवाले, शत्रु और मित्र में भेद नही मानने वाले, तृण, मणि, मोती और स्वर्ण को समान समझने वाले, ससार रूपी समुद्र मे जहाज के तुल्य आप जैसो को आहार भी न दे । अग्निशर्मा तापस ने कहा—यह सच है, राजा गुणसेन को छोडकर यहा ऐसे लोग नही हैं । सोमदेव ने कहा—भगवन् ! राजा गुणसेन ने क्या किया ? वह राजा तो धर्म-परायण सुना जाता है । अग्निशर्मा तापस ने कहा— उसके सिवाय धर्म-परायण कौन होगा, जो अपने मण्डल-अपने निकटवर्ती और दूरवर्ती पडौसी राजाओ के गुट्ट को जीत कर भी तपस्वी जन को बलात् मारने को उद्यत रहे ? सोमदेव ने सोचा—यह तपस्वी प्रकुपित है । जिस प्रकार यह लम्बे कुश-तृणो से तैयार किये हुए आसन पर बैठा दीखता है, उससे लगता है, राजा के योग से हुए दु ख के कारण इसने अनशन स्वीकार कर लिया है । पूछने पर यह स्वामी (राजा) के प्रति न सुनने योग्य परिवाद-निन्दायुक्त वचन कहेगा, इसलिए किसी अन्य से वृत्तान्त जानकर राजा को निवेदन करूंगा । (इस प्रकार) अग्निशर्मा को प्रणाम कर सोमदेव चला गया । हाथ मे कुश एव पुष्प लिये हुए स्नान के हेतु पहाडी नदी मे उतरते एक तापस से उसने पूछा—भगवन् ! अग्निशर्मा तापस ने क्या निश्चय किया है ? आखो से ढलकते हुए आसुओ के साथ उसने विस्तारपूर्वक उस अनुष्ठान— अग्निशर्मा द्वारा स्वीकृत कृत्य के सम्बन्ध मे वतलाया । सोमदेव गया और जैसा वह मालूम कर सका था, राजा को निवेदित किया । इस पर राजा को बहुत दुःख हुआ, चिन्ता के भार से वह अपनी देह को सम्हाल नही सका । सारे रनवास तथा प्रमुख कर्मचारियो सहित वह अग्निशर्मा को प्रत्यायित करने यथार्थ परिस्थिति की प्रतीति कराने के लिए पैदल ही तपोवन को रवाना हुआ । सुन्दर हसिनियो से घिरे हुए राजहस की तरह वह राजा रानियो, प्रमुख कर्मचारियो तथा नौकर-चाकरो से घिरा हुआ तपोवन के समीपवर्ती पर्वतीय नदी के विस्तीर्ण तट पर पहुचा । इस

वीच खिले हुए कमल जैसे मुखवाले एक मुनिकुमार ने, ज्योही राजा को आया जाना, अग्निशर्मा तापस को उस सम्वन्ध मे निवेदित किया। तव अग्निशर्मा तापस ने, जिसका शरीर क्रोध की आग से जल रहा था, कुलपति को पुकारा तथा यथोचित आदर-सत्कार का लंघन कर उसने निष्ठुरता से कहा—अरे ! अरे ! मैं इस निष्कारण वैरी, नीच राजा का मुंह नही देख सकता। इसलिए जो कुछ कहकर इसे वाहर से ही लौटा दीजिए। कुलपति ने सोचा—कषायो ने इस (अग्निशर्मा) पर अधिकार जमा लिया है। इसलिए प्रत्यग्र-अभिनव कषाय से दूषित चित्त होकर यह राजा को न देखे, यही उचित है। (यो सोच) वे थोडी दूर राजा के सामने गये। उन्होने राजा को सपरिवार देखा। उसका शरीर मुरझाया हुआ था। राजा ने परिवार-सहित विनय-पूर्वक उन्हे प्रणाम किया। कुलपति ने आशीर्वाद से उसका अभिनन्दन किया और कहा—महाराज ! आइए, इस चम्पक-वीथिका में बैठे। राजा ने कहा—जैसी आपकी आज्ञा। वे चंपक-वीथिका मे गये। कुलपति स्वच्छ शिला पर विछे कुशासन पर वैठे। सामने पृथ्वी पर परिवार सहित राजा वैठा। तव कुलपति ने कहा—महाराज ! रानियों तथा पारिवारिकजनों के साथ इस समय इतनी दूर तक पैदल आने का अनुचित कार्य आपने क्यो किया ? राजा ने कहा—भगवन् ! हम तो अनुचित-कारी ही हैं। अथवा मुझ जैसे अधम-नीचजनो के लिए यही उचित है कि प्रमादवश महा तपस्वीजन का व्यापादन—घात-पीड़ा-उत्पादन कर धर्मान्तराय करे।

अस्तु-मेरी विडम्वनापूर्ण मन्त्रणा— कपटयुक्त वातो से क्या, जो हार्दिक सद्भाव से वर्जित है। भगवन् ! वे अग्निशर्मा तापस कहां है ? मैं उन्हे प्रणाम करूं तथा पाप-कर्म करने वाली अपनी आत्मा को उनके दर्शन से शुद्ध करूं। कुलपति ने कहा—महाराज ! इतना सन्ताप मत करो। तुम्हारे कारण ग्लानियुक्त हो, इसने अनशन नहीं किया है। तपस्वीजनों का यह आचार ही है कि अन्तिम समय में अनशन-विधि द्वारा देह का परित्याग करें। राजा ने कहा—भगवन् ! अधिक क्या कहूं। (मेरी भावना है) मैं उस महानुभाव (अग्निशर्मा) का दर्शन करूं। कुलपति ने कहा—इस समय उसका दर्शन जाने दो। वह ध्यान मे व्यापृत—संलग्न है। इसलिए उसके अभिप्रेत-इच्छित कार्य में अन्तराय—विघ्न करने से क्या ? तुम नगर को जाओ, फिर कभी दर्शन करना। अच्छा, जैसी आपकी आज्ञा। फिर कभी आऊंगा, यों

कह कर राजा अत्यन्त दुर्मना—खिन्न होता हुआ उठा । कुलपति को प्रणाम कर नगर की ओर रवाना हुआ । तव एक वाल तापसकुमार दयार्द्र होकर—करुणापूर्वक थोडी दूर उसके पीछे आया और उसे अग्निशर्मा का अभिप्राय (मनोभाव) निवेदन किया । तव राजा ने सोचा कि कुलपति इससे दुविधा मे पड जाते हैं तो मुझे फिर यहा आने से क्या ? इसलिए मेरा इस नगर मे ठहरना भी उचित नही है, जिससे उस महात्मा के सम्वन्ध मे कुछ और अश्रोतव्य—न सुनने योग्य न सुनना पडे । यो सोचता हुआ राजा वसन्तपुर आया । उसने ज्योतिषियो से पूछा क्षितिप्रतिष्ठ नगर जाने मे हमारे लिए कौन-सा दिन अच्छा है ? नित्य उस (ज्योतिष-सम्वन्धी) कार्य में व्यापृत होने से लगे रहने से जिन्हे उत्तम दिन ज्ञात था, उन ज्योतिषियो ने विज्ञापित किया—वतलाया कल ही अच्छा दिन है । तव राजा ने अपने नौकर-चाकरो को आदेश दिया कि कल शीघ्र ही रवाना होना है ।

दूसरे दिन बडी धूमधाम से राजा रवाना हुआ । अनवरत-निरन्तर चलते हुए एक महीने मे वह क्षितिप्रतिष्ठ नगर पहुचा । वडे ठाठ-वाट से वह नगर मे प्रविष्ट हुआ, जहा विविध प्रकार की ऊची ऊची झण्डिया लगाई गई थी, वाजार तरह-तरह से सजाये गये थे, राजमार्ग फूलो की सजावट से सुशोभित किये गये थे, जो (नगर) सफेदी किये हुए महलो की कतार से सुन्दर लगता था । वहा राजा सर्वतोभद्र नामक महल मे गया, जिसके तोरण-द्वारो मे बन्दनवारें लटकाई गई थी तथा जिसे विशेष रूप से सजाया गया था ।

उसी दिन वहा मास-कल्प विहार से सयमपूर्वक विचरण करते हुए विजयसेन नामक आचार्य अपने शिष्य-समुदाय सहित आये । वे द्वादश अगो के सम्पूर्णत ज्ञाता थे, अवधि और मन पर्याय ज्ञान के अतिशय से युक्त थे । उनके सव अग सुन्दर तथा अभिराम—मनोरम थे । चढती जवानी की शोभा से उनका शरीर समृद्ध था । वे मानो वसुन्धरा—भूमण्डल के शृङ्गार थे, सव के नेत्रो को-आनन्द देने वाले थे, धर्म-निरत व्यक्तियो के लिए वे एक उदाहरण थे । मानो वे परम सौभाग्य के खान निलय-घर, आदेय-भाव के स्थान—अनुकरण करने योग्य, क्षान्ति-क्षमाशीलता कुलगृह-पितृगृह या सहज आश्रय, गुण रूपी रत्नो के आकर—खान तथा पुण्य के विपाक-सर्वस्व—सम्पूर्ण परिपाक या परिणाम थे । अति महान् राजवश मे वे उत्पन्न हुए थे ।

वे अशोकदत्त सेठ द्वारा वनवाये गये जिन-भवन से सुशोभित

अशोकवन नामक उद्यान मे अनुज्ञा लेकर ठहरे। नीतियुक्त राजाओ की तरह वहा आम के निश्छिद्र–अत्यन्त सघन पेड़ थे (जिस प्रकार नीति-युक्त राजाओ मे छिद्र - त्रुटिया मिलना कठिन है, उसी प्रकार अत्यन्त सघनता के कारण वहा आम के वृक्षो के वीच जरा भी खाली स्थान नही था)। पर-नारी के दर्शन से भय खाने वाले (सकुचाने वाले) सत्पुरुषो की तरह वावड़ी के तट पर उगे हुए वृक्ष नीचे मुंह किये खड़े थे (खूब फले-फूले होने से झुके हुए थे)। सत्पुरुष जिस प्रकार चिन्ता-रहित होते हैं, उसी प्रकार माधवी लताए शाखा–प्रशाखारहित थी। दरिद्र कामी पुरुषो के हृदयो की तरह लतागृह (लता–मण्डप) चारो ओर से आकुल–अस्थिर थे। नीम के वृक्ष सासारिक भोगो मे आसक्त पाखण्डीजनो की तरह शोभा नही पा रहे थे। कुसूमल वस्त्र पहने नये दुलहो की तरह लाल अशोक विराजित—शोभित थे। अधिक क्या कहे? जीव-लोक के मनोरथो की तरह उद्यान के वृक्ष बहुत प्रकार के थे। वहां हिमालय पर्वत की चोटियो की तरह जिन–भवन अत्यन्त ऊंचे और सफेद थे। सयमपूर्वक अपनी आचार–क्रिया मे निरत रहते हुए वे (आचार्य) वहा अत्यन्त प्रासुक—निर्जीव—शुद्ध स्थान मे प्रवास करने लगे।

इधर राजा गुणसेन ने आस्थानिका –सभा मे आकर पूछा—आज किसी ने यहा कोई आश्चर्यभूत वस्तु देखी? तब कल्याणक (इस नाम वाले सभासद) ने, जो विजयसेनाचार्य का दर्शन कर चुका था, कहा—महाराज! मैंने आश्चर्य देखा है। राजा ने कहा— वत-लाओ, वह क्या है? कल्याणक ने कहा कि श्रमण–वेष स्वीकार किये हुए विजयसेन नामक आचार्य को, जो गान्धार जनपद के अधिपति समर-सेन के पौत्र तथा लक्ष्मीसेन के पुत्र हैं, अशोकदत्त सेठ द्वारा वनवाये हुए अशोक वनोद्यान मे देखा है। समस्त दर्शनीय पदार्थों मे जो नेत्रो के लिए महोत्सव जैसे हैं परम दर्शनीय हैं। उनके सौन्दर्य की प्रभा के प्रवाह से चारो दिशाए उज्ज्वल हो रही हैं। वे सम्पूर्ण कलाओ से युक्त चन्द्रमा के समान हैं। प्रथम यौवन–चढती जवानी मे स्थित होते हुए भी वे विकार–रहित हैं। यद्यपि उन्होने कामदेव को जीत लिया है, पर तप-श्री (तप कान्ति रूपी नारी) मे विशेष रत–अनुरागयुक्त हैं। उन्होंने सब आसक्तियो का परित्याग कर दिया है पर सब लोगो का उपकार करने मे वे आसक्त (सलग्न) हैं। वे मानो मूर्तिमान सदेह भगवान् धर्म हैं। तब राजा ने कहा— तुम कृतपुण्य—पुण्यात्मा हो, तुमने नेत्रो का फल पा लिया। मैं भी, यदि कोई वाधा नही हुई तो कल भगवान् की

वन्दना करने जाऊंगा ।

रात बीत जाने पर राजा अपने समस्त प्रातःकालीन कृत्य सम्पन्न कर उस उद्यान मे गया । तारो के समूह से परिवृत—घिरे हुए शरद ऋतु के चन्द्र की तरह उसने अनेक श्रमणो से परिवृत विजयसेनाचार्य को देखा । वह हर्ष से पुलकित हो उठा । उसकी आँखें आनन्द के आंसुओ से भर गई । पृथ्वी पर घुटने तथा हथेली रखते हुए उसने विनयपूर्वक उन्हे प्रणाम किया। गुरु ने उसे धर्म (अहिंसा दया का) लाभ शब्द द्वारा अभिहित आशीर्वाद दिया, जो शरीर और मानस के अनेक दुःखो को मिटाने वाला तथा मोक्ष के शाश्वत सुख के बीज के समान था । तदनन्तर चारित्र्य के अठारह हजार अगो का भार वहन करने वाले, मुक्ति रूपी वधू के प्रति प्रगाढ अनुरागवश उससे मिलने की चिन्ता मे दुर्बल बने जा रहे शेष साधुओ को प्रणाम कर वह गुरु के पास बैठा। उनके रूप और चारित्र्य से वह आश्चर्यान्वित हो उठा । उसने कहा—आपके तो सभी मनोरथ सम्पन्न थे—मन की अभिलाषा के अनुरूप सब कुछ प्राप्त था । फिर इस प्रकार के वैराग्य का क्या कारण था ? वेग पूर्वक—शीघ्रता से चरणो मे पडते-झुकते राजाओ के मुकुटो मे लगे रत्नो की कान्ति के विस्तार से आपका पाद-पीठ-पैर रखने का पीढा जहा उज्ज्वल बना रहता था, वैसी राज्य-लक्ष्मी को छोड कर आपने इस प्रकार का यह विशिष्ट व्रत क्यो स्वीकार किया, जिसमे इस लोक की कोई लालसा नही है ? आचार्य विजयसेन ने कहा—महाराज ! ससार मे वैराग्य का कारण पूछते हो ? यहा वैराग्य का कारण निश्चय ही सुलभ है । सुनो —

नरक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव-योनि मे भटकते हुए जीवो को जन्म, वृद्धावस्था तथा मृत्यु के भय के सिवाय क्या कुछ सुख है ?

क्या ससार मे कोई ऐसा नारक, तिर्यञ्च, मनुष्य और देव है, जिसका जन्म और मृत्यु जैसे अशुभ कर्मों से पाला नही पड़ता ?

जाल मे फसे हुए तथा व्याधो — शिकारियो द्वारा मारे जाते हरिण के बच्चो की तरह जन्म और मृत्यु से जकडे हुए प्राणियो को कैसे सुख हो सकता है ?

सब प्राणियो के दुःख मात्र का क्षण भर के लिए भी जो प्रतिकार कर सके, ऐसा सुख जो नही दे सकती, उस लक्ष्मी - सम्पत्ति मे कैसा आग्रह ?

मेरी यहां उत्पत्ति कैसे हुई, मैं यहा से फिर कहा जाऊ गा, जो इतना भी सोचता है, वह कौन यहा विरक्त नही होता ?

और भी— महाराज ! महासमुद्र के मध्य मे पड़े हुए रत्न की तरह चिन्तामणि जैसा यह मनुष्य-जन्म यहा दुर्लभ है तथा जीवन तीव्र वायु द्वारा परिचालित कुश के अग्रभाग मे लगे जल के बिन्दु के समान चचल है। काम-भोग कुपित सापो के भीषण फण-समूह के समान हैं। समृद्धि शरद् ऋतु के बादल, स्त्री के कटाक्ष, हाथी के कान तथा विजली के समान चचल है। जिन्होने शुभ (पुण्यात्मक) तप का आचरण नही किया, उन्हे तिर्यंचो और नारको मे (तिर्यंच गति और नरक गति मे) दारुण—कठोर कर्मफल प्राप्त होता है।

जो भय, रोग, शोक, प्रिय-वियोग जैसे बहुत से दु खो की आग से जल रहा है, जो नटो के तमाशे की तरह (अशाश्वत) है, ऐसे ससार मे किसको धैर्य्य रहे ?

सत्पुरुषो को सदा शाश्वत स्थान (मोक्ष) तथा एकान्त रूप से—निश्चित रूप से उसे प्राप्त कराने वाले, महान् मुनियो द्वारा बतलाये गये उपाय मे यत्न करना उचित है।

महाराज ! इस प्रकार यह ससार ही मेरे वैराग्य का कारण है। तो भी निमित्त यो बना, सुने—इसी देश मे गान्धार नामक जनपद है। वहा गान्धारपुर नामक नगर है। मैं वहा का निवासी था। सोमवसु पुरोहित का पुत्र विभावसु मेरा मित्र था। वह मानो मेरा दूसरा हृदय था। एक समय वह रोग-पीडित हुआ तथा देवो व असुरो को जीतने वाली मृत्यु ने मेरे देखते-देखते उसे पञ्चत्व प्राप्त करा दिया-वह मर गया। तव मैं उसके विरह की अग्नि से जलता हृदय लिये रहता था। उस वीच सयम-पूर्वक विहार करते हुए चार साधु वर्षावास के निमित्त वहा आये। वे एक वहुत वडी पहाडी गुफा मे ठहरे, जो नगर से वहुत दूर नही थी। मुझे यह अति प्रिय लगेगा, यह सोच मेरे आदमियो ने मुझे यह वतलाया। मैं शीघ्र ही उन्हे वन्दना करने गया। मैंने वहा साधुओ को स्वाध्याय मे व्यापृत—निरत देखा तथा प्रहृष्ट—अत्यन्त प्रसन्न मुख-कमल से मैंने उन्हे वन्दन किया। साधुओ ने 'धर्म (अहिंसा दया का) लाभ' शब्द द्वारा मेरा अभिनन्दन किया। मैंने विहार आदि के सबध मे उनसे पूछा। मुनियो ने उपदेश दिया। तब कुछ देर उन मुनियो की पर्युपासना—सान्निध्य-लाभ कर मैं नगर मे प्रविष्ट हुआ। वे साधु

सारे वर्षावास में मासिक उपवास करते रहे । इससे (अन्त.प्रेरणावश) मुझे सम्यक्त्व लाभ हुआ । मेरी श्रद्धा बढती गई । मैं प्रतिदिन उनकी सेवा करता रहा । इस प्रकार चार महीने बीत गये । अन्तिम रात में मुझे चिंता हुई—कल ये महान् तपस्वी चले जायेंगे । तब आधा पहर रात शेष रहने पर मैं उनके दर्शन के लिए नगर से निकला । मैं थोडी दूर गया तो आभास हुआ मानो पृथ्वी कुछ हिली, गान्धार पर्वत गरजा[1] वहां गर्जना हुई, सुगन्धित पवन वहने लगा, आकाश रूपी आगन चमक उठा, "जय-जय" ध्वनि फैलने लगी । तब मैं अत्यन्त हर्षित होता हुआ जल्दी-जल्दी आकर देखता हूँ— गान्धार पर्वत की गुफा के पास तृण आदि साफ किये हुए हैं, भूमि समतल बनाई हुई है, सुगन्धित जल छिडका हुआ है, फूलो से सजावट की हुई है, नीचे (भूमि पर) आये हुए देवता के समूह पूज्य साधुओ की स्तुति करते हैं—अहो ! आपका मनुष्य जन्म सफल हुआ, आपने राग आदि का क्षय कर दिया, कर्म-सेना पराजित करदी, (आप) ससार-रूपी समुद्र को पार कर गये, आपने शाश्वत—सदा स्थिर रहने वाला मोक्ष साध लिया ।

तब मैंने सोचा—निश्चय ही इन्हे केवल-ज्ञान हुआ है । ये जन्म, बुढापा और मौत के दु.ख से छूट गये हैं । इसके बाद मैंने देखा- केवल-ज्ञान के प्रभाव से वे पूज्य साधु रत्नमय सिंहासनो पर स्थित हैं, भव-प्रपञ्च से वे उन्मुक्त हैं, उनकी चित्त-वृत्ति अत्यन्त शान्त है, केवल-ज्ञान की आभा से उनके शरीर अतिशय समृद्धि-शोभित हैं, मानो वे (साधु) मूर्तिमान् गुण हो ।

तब मैंने सोचा—नि सन्देह इन्हे सम्पूर्ण केवल-ज्ञान हुआ है । तब मेरी आखें आनन्द के आंसुओ से भर गई, विस्मय-आश्चर्य से उत्फुल्ल हो उठी तथा रोमाञ्च से मेरे अग पुलकित हो गये । अत्यन्त शोभन—मनोरम तथा वर्णनातीत अवस्थान्तर का अनुभव करते हुए मैंने पृथ्वी पर अपने घुटने तथा हथेली टेक कर उन्हे वन्दना की और उनके सामने बैठ गया । केवली ने कथा-प्ररूपणा प्रारभ की । देवता तथा मनुष्य अपनी मन-इच्छित बातें पूछने लगे । तब मैंने सोचा—क्या मैं भी भगवान् से पूछू ? तभी मेरे हृदय के लिए काटे के तुल्य (जिसका मरण मेरे हृदय मे कांटो की तरह चुभ रहा था) विभावसु मुझे याद आया । मैंने सोचा— मेरा मित्र विभावसु कहा उत्पन्न हुआ, यह पूछू । इस

---

१. केवल-ज्ञान उत्पन्न होने के समय यद्यपि पृथ्वी नही हिलती किन्तु देव-विमानो के आवागमन एव गर्जना आदि के कारण पृथ्वी हिली, पर्वत गरजा ऐसा आभास हुआ ।

प्रकार विचार कर मैंने भगवान् केवली से पूछा—कुछ समय पूर्व मेरा मित्र मर गया था । वह कहां उत्पन्न हुआ ? इस समय किस अवस्था का अनुभव कर रहा है ? यद्यपि मैंने परमार्थ - मोक्ष का मार्ग समझा है, फिर भी मेरे चित्त में उसके विरह की अग्नि से जो सन्ताप उत्पन्न हुआ है, वह शांत क्यों नही होता ?

केवली के कहा—इसी गान्धारपुर नगर मे पुष्यदत्त नामक वस्त्र शोधक-धोबी है । उसके यहां मधुपिंगा नामक पालतू कुतिया है । वह (विभावसु) उसके गर्भ से कुत्ते के रूप में उत्पन्न हुआ है । वह वहुत कड़ी रस्सी से वधा हुआ, भूख से परिम्लान मुरझाये शरीर वाला, कपडे धोने के कुण्ड के निकट स्थित, गधे के खुर की चोट से डरा हुआ वह इस समय यही (इसी नगर में) कठोर दुःखपूर्ण अवस्था का अनुभव कर रहा है ।

जन्मान्तर मे (पहले के जन्म में) तुम पुष्करार्द्ध द्वीप के अन्तर्गत भरत क्षेत्र के कुसुमपुर नगर में निवास करने वाले श्रेष्ठि-पुत्र—सेठ के लडके थे । तुम्हारा नाम कुसुमसार था । यह (विभावसु का जीव जो अभी कुत्ते की योनि मे है) श्रीकान्ता नामक तुम्हारी अत्यन्त प्रिय पत्नी के रूप में था । उस अभ्यास—संस्कार के कारण उसके वियोग रूपी अग्नि से तुम्हारे चित्त में उत्पन्न हुआ सन्ताप शांत नही होता ।

तव मुझे यह सुन कर वहुत ग्लानि हुई । उसके स्नेह से मेरा मन मोहित था । इसलिए मैंने उसे छुड़ाने के लिए अपने आदमियों को पुष्यदत्त धोवी के यहा यह कर कर भेजा कि शीघ्र छुड़ा कर उसे खाना और पानी दो तथा उसे लेकर यहां आओ । तव वे पुरुष गये, मेरी आज्ञा का शीघ्र पालन किया तथा उसे लेकर मेरी ओर आये । वह (कुत्ता) धीरे-धीरे चलता हुआ जव वहुत दूर नही था तो मैंने देखा, उसके वालो मे सैंकडों पिस्सू पड़े थे, कीडों (के समूह) द्वारा काटे जाने से (शरीर पर) घाव वने थे, उसका शरीर वहुत क्षीण था, सांस लेते समय हिलती हुई उसकी जीभ विकराल लगती थी, उसके सफेद दांत चमकते थे । उसे उस दशा में देख मेरे मन मे वहुत विरक्ति हुई ।

मैंने सोचा—संसार-वास कितना कष्टकर है । यहा जीवो के प्रेम-विलसित—प्रेमासक्त कार्यों का ऐसा अन्त होता है । इसके वाद वे पुरुष उस (कुत्ते) को साथ लिये मेरे पास पहुंचे । उन्होने निवेदन किया—राजन् ! वह कुत्ता यह है । मुझे देख कर वह अपनी लम्बी पूंछ हिलाने लगा, उसकी आंखें आंसुओं से भर गई, वह गर्दन ऊंची

किये सिर हिलाने लगा । इस प्रकार एक वर्णनातीत अवस्था (स्थिति) प्राप्त कर वह भोकने लगा ।

तव मैंने केवली से पूछा भगवन्! यह क्या वात है ? उन्होने कहा— यह पूर्वजन्म के सस्कार से होने वाला प्रेम है जिसका अन्त वड़ी कठिनाई से होता है । मैंने पूछा—भगवन् ! क्या यह मुझे पहचानता है ? भगवान् ने कहा - विशेषत नही, सामान्यत (पहचानता है) । ससार का स्वभाव ऐसा ही है । जन्मान्तर मे अभ्यस्त - सस्कारगत भावना यदि भोग मे न आए तो वह कुछ समय के लिए पीछे चलती है, चालू रहती है । तब मैंने कहा— यह किस कर्म का विपाकफल है ? भगवान् ने कहा—जाति के अहकार और मान से वन्धने वाले कर्म का । मैंने पूछा—भगवन् ! इसने क्या मान किया था ?

भगवान् ने कहा—सुनो, इससे पूर्व के जन्म की घटना है, यहां मदन-महोत्सव प्रारम्भ हुआ । विचित्र वेष बनाये नगर की गान-मडलिया निकलने लगी । वह युवाजनो के समूह से घिरा हुआ वहुत लोगो द्वारा प्रशसनीय वासन्ती क्रीडा का अनुभव कर रहा था— आनन्द ले रहा था । उसने अपने पास से निकलती धोवियो की गान-मण्डली को देखा । उसे देख अज्ञान के दोष के कारण जाति, कुल आदि के गर्व से "यह नीचो की मण्डली हमारी मण्डली के पास से कैसे निकल रही है, यो धोवियो को दुतकारा । उस मण्डली का मुखिया जान पुष्यदत्त की बहुत भर्त्सना की । उसका शरीर वाधकर उसे वन्दीगृह मे डलवा दिया । इस वीच उसने गुरु--अत्यन्त तीव्र मान के परिणामो मे वर्तते हुए आगे के भव (जन्म) का आयुष्य वाधा । मदन-महोत्सव के समाप्त हो जाने पर नगर के लोगो ने पुप्यदत्त को छुडवाया । उन कर्मों के परिणाम के कारण वह मरकर यहां उत्पन्न हुआ ।

तव मैंने विचार किया—कर्म वांधने का निदान कारण थोड़े से सुखवाला होता है, कर्म वाधते समय थोडा सा सुख होता है पर उसका परिणाम वडा दु:खप्रद होता है । ससार-वास—सासारिक जीवन को धिक्कार है । इसलिए भगवान् से पूछू - इस निदान का पर्यवसान अन्त कैसे होगा ? क्या यह (जीव) भव्य है या अभव्य (मोक्ष पाने योग्य है-या नही है) ? क्या यह सिद्धि-मुक्ति प्राप्त करने वाला है या नही है ? इसे सम्यक्त्व रूप (मोक्ष का) वीज प्राप्त है या नही ? यो सोचकर मैंने पूछा ।

तब भगवान् ने कहा—इस निदान (कर्म-बन्ध) का जिस प्रकार अन्त होगा, वह सुनो। कुत्ते के भव मे अपना आयुष्य पूरा कर यह इसी पुष्यदत्त के घर मे उत्पन्न हुई घोरघटिका नामक गधी के गर्भ मे गधे के रूप मे उत्पन्न होगा। वह पुष्यदत्त के मन को अप्रिय लगने वाला होगा। उसकी शरीर-वृत्ति--जीवन-निर्वाह बडे कष्ट से चलेगा। भारी बोझ ढोते रहने से उसका शरीर परिखिन्न—दुःखी रहेगा। अपने आयुष्य काल तक वहा रहकर, फिर मरकर पुष्यदत्त के मित्र मातृदत्त नामक चाण्डाल की अनधिका नामक पत्नी के गर्भ से नपुंसक के रूप में वह उत्पन्न होगा। वहा जन्मा हुआ वह कुरूपता तथा दुर्भाग्य के कलङ्क से दूषित, विषय--भोग-सुख का अजान कुछ काल तक नपुंसक के रूप मे जीकर एक सिंह द्वारा मारा जायेगा और उस शरीर को छोडकर उसी चाण्डालिनी की कोख से लड़की के रूप मे उत्पन्न होगा। वहा जन्म लेकर बचपन के प्रारम्भ मे ही वह लड़की एक साप द्वारा डसी जायेगी और पुष्यदत्त की दत्तिका नामक गर्भदासी--प्रसूति का कार्य करने वाली नौकरानी के कोख से वह जीव नपुंसक के रूप में उत्पन्न होगा। वह जन्मान्ध, नाटा और कुबडा होगा। सब लोगो द्वारा वह तिरस्कृत होता रहेगा। इस प्रकार कुछ समय वह नपुसक-अवस्था मे बितायेगा। एक दिन नगर मे आग लगेगी, जिसमे जलकर उसका शरीर राख हो जायेगा। वह मरकर उसी गर्भ-दासी की कोख से एक लड़की के रूप मे उत्पन्न होगा। वह लडकी लंगड़ी होगी। इसी नगर मे राजमार्ग मे चलती हुई वह एक बिगडे हुए मस्त हाथी द्वारा मार डाली जायेगी। तब वह इसी पुष्यदत्त की कालाञ्जनिका नामक पत्नी के गर्भ से लड़की के रूप मे उत्पन्न होगी। वह क्रमशः युवती होगी। पुष्यदत्त पुष्यरक्षित नामक एक अत्यन्त दरिद्र व्यक्ति से उसका विवाह कर देगा। वह गर्भवती होगी। प्रसव के समय अत्यधिक वेदना से पीडित होती हुई वह मरकर अपनी मां के गर्भ से पुत्र रूप में उत्पन्न होगी। बचपन मे ही गान्धार नदी के तट पर खेलते हुए उसे पुष्यदत्त का किरात नामक शत्रु "यह मेरे शत्रु का पुत्र है", यों सोच पकड लेगा, उसकी गर्दन मे एक भारी शिला बांधकर उसे एक बडी झील मे फेंक देगा। इस कर्म-बन्ध का यों पर्यवसान-अन्त होगा।

यह भव्य है, मोक्षगामी है। इसे अबतक सम्यक्त्व प्राप्त नही है।

तब मैंने पूछा—भगवन्! जल मे मर जाने के बाद वह कहा

उत्पन्न होगा ? उसे वीज—मुक्ति का मूल कारण सम्यक्त्व कब प्राप्त होगा, मोक्ष कव प्राप्त होगा ? भगवान् ने कहा सुनो, जल मे मर जाने के पश्चात् वह वानव्यन्तर देवो मे उत्पन्न होगा। तब उसी जन्म में वह आनन्द तोर्थंकर के पास सम्यक्त्व प्राप्त करेगा, जो शाश्वत सुख मोक्षसुख रूपी कल्प वृक्ष का एक मात्र वीज है। यो चारो गतियो मे सख्येय जन्म वीतने के पश्चात् इसी गान्धार जनपद मे राजा होगा, अमर तेज विद्याधर नामक श्रमणाधिपति के पास दीक्षित होगा, केवल-ज्ञान प्राप्त करेगा तथा मुक्तिगामी होगा।

यह सुनकर मैं धर्म की ओर विशेप आकृष्ट हुआ। संसार रूपी वन्दीगृह से मेरी वुद्धि हट गई। तव माता-पिता को मनाकर उनसे अनुज्ञा लेकर, जो करणीय करने योग्य था, उसे यथोचित रूप मे करके मैं स्वनामधन्य भगवान् इन्द्रदत्त गणनायक के समीप निष्क्रान्त-दोक्षित हुआ। इस प्रकार मेरे वैराग्य का कारण यह है।

गुणसेन ने कहा—भगवन्। आप कृतार्थ हैं। वैराग्य का यह सुन्दर कारण है। जैसाकि आपने कहा था—

शाश्वत स्थान-मोक्ष तथा उसे निश्चित् रूप मे प्राप्त करने वाले, परम महान् मुनियो द्वारा कहे गये उपाय को साधने मे सत्पुरुषो को प्रयत्न करना उचित है।

(कृपया वतलाए) वह शाश्वत स्थान और उसका साधक उपाय क्या है ? विजयसेन ने कहा—शाश्वत स्थान वह है, जहा आठ प्रकार के कर्मों के कलंक से छूटे हुए, जन्म, वृद्धावस्था, मृत्यु, रोग तथा शोक से रहित, अनुपम ज्ञान, दर्शन व सुख के भागी जीव अत्यन्त विस्तीर्ण तथा दीर्घ अनन्त काल तक रहते हैं। समस्त अतिशयो के समुद्र, तीनो लोको के वन्धु, देवताओ तथा असुरों द्वारा पूजित सर्वज्ञो ने उस परमपद मोक्ष-स्थान को चवदह रज्जु प्रमाण ऊंचे उठे हुए इस क्षेत्र-लोक के चूडामणि भूत-सर्वोच्च भाग पर संस्थित वताया है। उसका साधक-प्राप्त करने वाला उपाय सम्यक्त्व, ज्ञान तथा चारित्र्य मूलक प्रतिपादित किया गया है, वतलाया गया है। उसकी गृहस्थ-धर्म तथा साधु-धर्म के रूप मे व्यवस्था की गई है। वहां गृहस्थ-धर्म वारह प्रकार का है, जैसे पाच अणुव्रत, तीन गुणव्रत तथा चार शिक्षाव्रत। साधु-धर्म दश प्रकार का है—क्षमाशीलता, मृदुता, ऋजुता सरलता, मुक्ति-लौकिक भार से मुक्तता-सन्तोष या निर्लोभता, तप, संयम, सत्य, शौच-

पवित्रता, अकिञ्चनता अपरिग्रह और ब्रह्मचर्य ।

इन दोनो प्रकार के धर्मों की मूल वस्तु-मूल आधार सम्यक्त्व है । अनादि-कर्म परम्परा से वेष्टित घिरे हुए व्यक्ति के लिए वह दुर्लभ है । वह कर्म आठ प्रकार का है ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय, मोहनीय, आयुष्य, नाम, गोत्र तथा अन्तराय, मिथ्यात्व, अज्ञान, अविरति असत् से विरत न होना, प्रमाद, कषाय तथा योग मानसिक, वाचिक कायिक प्रवृत्ति इसके कारण हैं । परिणाम विशेष द्वारा सञ्चित इसकी स्थिति दो प्रकार की कही गई है, जैसे—उत्कृष्ट तथा जघन्य । तीव्र अशुभ परिणामो द्वारा उत्पन्न होने वाले ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, वेदनीय व अन्तराय की तीस-तीस कोड़ाकोड़ सागर, मोहनीय की सत्तर कोड़ाकोड़ सागर, नाम व गोत्र की वीस वीस कोड़ाकोड सागर तथा आयुष्य की तैंतीस सागर उत्कृष्ट स्थिति है । तथा विध उस प्रकार के परिणामो से सचित वेदनीय को वारह मुहूर्त, नाम व गोत्र की आठ-आठ मुहूर्त तथा शेष की अन्तर्मुहूर्त जघन्य स्थिति है ।

यो स्थित कर्म की यथाप्रवृत्तकरण द्वारा घर्षण-घूर्णन से कभी एक कोडाकोड़ सागर को छोड़कर शेप (स्थितिया) क्षपित हो जाती हैं । उनमे से कुछ और क्षपित हो जाती हैं । तव गाढ राग व द्वेपमयं परिणाम से युक्त, ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय एव अन्तराय से संवर्द्धित तथा मोहनीय से निर्वर्तित—निष्पन्न निर्मित अत्यन्त दुर्भेद्य कर्म-ग्रन्थि रह जाती है । कहा है—

जीव के कर्मों से उत्पन्न, गाढ राग व द्वेषपूर्ण परिणामो से युक्त, कर्कश—कठोर, सघन, घुली हुई और गूढ—गहरी गाठ की तरह अत्यन्त दुर्भेद्य कठिनाई से भेदने योग्य कर्म—ग्रन्थि होती है ।

ऐसी स्थिति में कई ऐसे जीव हैं, जो उसका भेदन कर देते हैं, कई ऐसे हैं, जो भेदन नहीं कर पाते । वहा जो भेदन करते हैं, वे अपूर्व करण द्वारा ऐसा करते हैं । उसका भेदन हो जाने पर जीव अनिवृत्तिकरण द्वारा सम्यक्त्व को प्राप्त करता है, जो कर्म—वन के लिए दावाग्नि के एक भाग की तरह है, जो मोक्ष—सुख का निरुपहत—अपहत या वाधित नही होने वाला वीज है, ससार रूपी कारागृह से छुडाने में जो सक्षम है, चिन्तामणि रत्न जिसके सामने फीका है, अनादि संसार-सागर में जो अप्राप्तपूर्व है—पहले प्राप्त नहीं हो सका है, ऐसा है, सम्यक्त्व—मोहनीय कर्म के अनुवेदन, उपशम तथा क्षय से जो उत्पन्न है,

प्रशम, सवेग, निर्वेद तथा अनुकम्पा जिसका चितन (बाह्य अभिव्यक्ति) है, अ त्मा की स्वाभाविक परिणति जिसका रूप है। उस (सम्यक्त्व) के प्राप्त होने के साथ साथ उसे (साधक को) मति और श्रुत ये दो ज्ञान हो जाते है। ऐसा होने पर वह जीव अत्यधिक कर्म-मल से मुक्त आत्म-स्वरूप का सन्निकटवर्ती, प्रशम, शाति सवेग मोक्षाभिलाषा निर्वेद वैराग्य तथा अनुकम्पा दया मे तत्पर और सर्वज्ञो के वचनो मे अभिरुचिशील हो जाता है। कहा है -

वह आत्म-परिणाम रूप सम्यक्त्व उपशम आदि उपायो तथा बाह्य प्रशस्त योगो द्वारा लक्षित होता है।

ऐसी स्थिति मे जीव के शुभ परिणाम बरतते है-यह जानने योग्य है। क्या ससार मे मैल रूपी कलक से उन्मुक्त स्वर्ण कभी काला होगा ?

यह कर्मों की प्रकृति है, अशुभ का परिणाम है, यह जानकर व्यक्ति उपशम-शातभाव के कारण अपराध करने वाले पर भी कभी क्रोध नही करता।

सवेग से व्यक्ति नरेन्द्र और देवेन्द्र के सुख को भी दु:ख रूप मानता हुआ मोक्ष के अतिरिक्त और कुछ नही चाहता।

निर्वेद की अपेक्षा से वह ममत्व रूपी विष का वेग नही होने पर भी नारक, तिर्यंच, मनुष्य और देवयोनि मे दु ख ही है, (ऐसा विचार कर) जीव परलोक का मार्ग नही बनाता-ससार (आवगमन) नही बढाता।

भयानक ससार-सागर मे प्राणियो के समूह को दु ख से पीडित देखकर वह अपने सामर्थ्य के अनुसार विना किसी भेद भाव के दो प्रकार की स्व तथा पर रूप अनुकम्पा करता है।

वह शुभ परिणामो से युक्त तथा काड्क्षा-इच्छा-लालसा आदि विस्रोतिका-विपरीत मार्ग से रहित होता हुआ उसे सत्य एव नि शका-शंका या सन्देहशून्य मानता है, जो वीतरागो (जिनेश्वरो) द्वारा प्रज्ञप्त-प्ररूपित है।

जिनेश्वरों ने सम्यक्दृष्टि को ऐसे परिणामो वाला वतलाया है। वह थोडे ही समय मे ससार-समुद्र को लाघ जाता है।

तव उस स्थिति मे से भी कुछ दो से नौ के वीच पल्योपम के क्षीण होने पर वह परमार्थः शुभतर परिणामयुक्त देश-विरति (आंशिक

त्याग) प्राप्त स्वीकार करता है। जैसे–स्थूल–प्राणातिपात–विरमण, स्थूल-मृपावाद–विरमण, स्थूल-अदत्तादान–विरमण, परस्त्री–गमन–विरमण या स्वदार–सन्तोप तथा अपरिमित–परिग्रह विरमण।

वह इस प्रकार देश–विरति (आंशिक त्याग) के परिणामों से युक्त होकर, अणुव्रतो को स्वीकार कर, भावत अपने परिणामो को स्थिर रखता हुआ इन अतिचारो का आचरण नही करता - जैसें—

किसी को बांधना, पीटना, किसी का अग–छेद करना, अधिक भार लादना, खाद्य–पेय का विच्छेद करना, बिना विचारे झट से बोल देना, किसी की रहस्यभूत–गुप्त बात प्रकट कर देना, अपनी पत्नी की गुप्त बात बता देना, असत्य का उपदेश करना, झूठा लेख लिखना, चोर द्वारा चुराई वस्तु लेना, चोरी करवाना, विरुद्ध–निषिद्ध राज्य का अति-क्रमण करना, कूट तोल–कूट माप करना, तत्प्रतिरूपक–विपरीत व्यवहार-वस्तु मे भेल–सभेल करना या असली के बदले नकली देना, (कुछ समय के लिए) रखैल वेश्या के साथ काम–सेवन करना, जो रखैल न हो, ऐसी वेश्या के साथ काम सेवन करना, अनग–क्रीडा करना, दूसरो के विवाह कराना, काम–भोग की तीव्र अभिलाषा करना, कृषि भूमि व घर के परिमाण का अतिक्रमण, चादी–सोने के परिमाण का अतिक्रमण, धन–धान्य के परिमाण का अतिक्रमण, द्विपद–दो पैरो वाले तथा चतु-ष्पद–चार पैरो वाले प्राणियो के परिमाण का अतिक्रमण, कुप्य–सोने-चादी के अतिरिक्त अन्य धातुओ व मिट्टी आदि के बने गृहोपकरण के परिमाण का अनिक्रमण तथा ससार–समुद्र में परिभ्रमण के हेतुभूत और भी इस तरह के आचरण—(वह धार्मिक व्यक्ति) अपने परिणामो को शुभ रखता हुआ नही करता।

तब (उसके बाद) वह इस प्रकार उत्तर गुण स्वीकार करता है–

ऊर्ध्वदिक्-गुणव्रत, अधोदिक्-गुणव्रत, तिर्यक् दिक्-गुणव्रत, भोगो-पभोग–परिमाणात्मक गुणव्रत, उपभोग परिभोग के हेतुभूत क्रूर कर्म आदि का परिवर्जन, अपध्यानाचरित–अनिष्ट चिन्तन, प्रमादाचरित-प्रमाद-पूर्ण आचरण, हिंसा–प्रदान–हिंसक सामग्री देना या हिंसा का उपदेश देना, पाप-कर्म का उपदेश देना—एतन्मूलक अनर्थ-दण्ड विरति गुणव्रत तथा सावद्य–सपाप योग–प्रवृत्ति का परिवर्जन–परित्याग व निरवद्य-पाप-रहित योग का परिसेवन रूप शिक्षा व्रत, दिक्-व्रत मे गृहीत-स्वीकृत दिशा सम्बन्धी परिमाण का प्रतिदिन (विशेष रूप से) परिमाण करना

एतद्रूप देशावकाशिक शिक्षाव्रत, आहार व शरीर-सत्कार-शारीरिक सज्जा अनुकूलता आदि का त्याग, ब्रह्मचर्य का पालन, अव्यापार प्रवृत्तियो का त्याग-एतद्रूप पौषध शिक्षाव्रत-न्याय से अर्जित, कल्पनीय-लेने योग्य, शुद्ध आहार, जल आदि पदार्थ देश, काल, श्रद्धा एव सत्कारपूर्वक अत्यन्त भक्ति से आत्मानुग्रह का उद्देश्य लिये सयतों को देना-इस प्रकार का अतिथि-सविभाग-शिक्षाव्रत ।

इस तरह शुभ परिणाम वाला गुणव्रत और शिक्षा-व्रत स्वीकार कर भावपूर्वक अपने परिणामो मे स्थिर रहता हुआ इन अतिचारों का सेवन नही करता-जैसे ऊर्ध्व दिशा के परिमाण का अतिक्रम, अधो दिशा के परिमाण का अतिक्रम, तिरछी दिशा के परिमाण का अतिक्रम, क्षेत्र की वृद्धि-स्मृति का अन्तर (भूल जाना)' सचित्त का आहार, सचित्त-प्रतिवद्ध-सचित्त युक्त का आहार, अपक्व (कच्ची) औषधि का भक्षण, दुष्पक्व (यथार्थ रूप मे न पकी हुई) औषधि का भक्षण, तुच्छ नि सार अग्राह्य औषधि का भक्षण, अंगारो का काम (कोयले वनाने का काम) वन का काम, (वन की लकडी आदि कटवाने का व्यापार) गाडी का काम, भाडे का काम, पत्थर आदि फोडने का काम, (हाथी आदि के) दात का व्यापार, केश का व्यापार, रस का व्यापार, विष का व्यापार, यन्त्र से पेरने का काम, अग-छेदने का काम, वन आदि जलाना, कुलटाओ का पोषण, सरोवर, झील व तालाव सुखाना, काम-विकार, कुचेष्टा, वाचालता, अधिकरण-शस्त्र का सयोजन, उपभोग-परिभोग का अतिरेक, मन द्वारा दुश्चिन्तन, वचन का दुष्प्रयोग, शरीर का दुष्प्रयोग, सामायिक की सार-सम्हाल न करना, सामायिक अनवस्थित रूप में (अजागरूकता से) करना, आनयन-प्रयोग-मर्यादित क्षेत्र से वाहर की वस्तु मगवाना प्रेषण-प्रयोग-मर्यादित क्षेत्र से वाहर वस्तु भेजना, शव्द द्वारा अनुपात-भाव-प्रदर्शन, रूप द्वारा अनुपात-आकृति द्वारा भाव-प्रदर्शन, वाह्य पुद्गल प्रक्षेपण किसी वस्तु को फेंक कर भाव प्रदर्शित करना, शय्या व सस्तारक का प्रतिलेखन न कर या दुष्प्रतिलेखन-अयथावत् प्रति लेखन कर सेवन करना, शय्या व सस्तारक का प्रमार्जन न कर या दुष्प्रमार्जन—अयथावत् प्रमार्जन कर सेवन करना, प्रतिलेखन न कर या दुष्प्रतिलेखन कर मल-मूत्र का विसर्जन करना, प्रमार्जन न कर या दुष्प्रमार्जन कर मल-मूत्र का विसर्जन करना, पौपधोपवास का सम्यक्-विधिवत् अनुपालन न करना, सचित्त वस्तु का निक्षेप सचित्त वस्तु अचित्त पर रखना, सचित्त वस्तु द्वारा पिधान-सचित्त वस्तु द्वारा अचित्त

वस्तु को ढकना, काल का अतिक्रम-उल्लंघन करना, पर व्यपदेश-अपनी वस्तु किसी दूसरे को देना या दूसरे की बताना, मत्सर भाव से देना। इस प्रकार के और भी गुणव्रतो एव शिक्षाव्रतो के अतिचारो का (वह) आचरण नही करता। तब वह इसके अनुरूप कल्प-विधिक्रम से आचरण करता हुआ अपनी कर्म-स्थिति के परिणाम के अनुसार उसी जन्म मे या अनेक जन्मो मे सख्येय सागरोपम काल को क्षपित कर सर्व-विरति मूलक, क्षमा-मार्दव-आर्जव-मुक्ति-तप-सयम-सत्य-शौच-आकिञ्चन्य ब्रह्मचर्य रूप यति-धर्म (श्रमण-धर्म) को प्राप्त करता है। कहा है—

सम्यक्त्व प्राप्त होने पर दो से नौ पल्योपम के बीच श्रावक होता है। फिर (सम्पूर्ण) चारित्र्य, उपशम-श्रेणी एव क्षपक श्रेणी प्राप्त करने मे कई सागरोपम लग जाते हैं। इस प्रकार सम्यक्त्व अप्रतिपाति-अपतनशील-स्थिर रहे तो वह (अनेक) देव-मनुष्य जन्मो मे अथवा उपशम-श्रेणी को छोड़ क्षपक-श्रेणी पर आरूढ हो तो एक ही भव मे सब कुछ साध लेता है।

तब क्षपक-श्रेणी के परिसमाप्त होने पर (वह) शाश्वत, अनन्त, श्रेष्ठ केवल ज्ञान तथा केवल-दर्शन प्राप्त करता है। तब क्रमश. शेष रहे भवोपग्राही कर्मांशों को क्षपित कर, सब कर्मों से विप्रमुक्त होकर-सर्वथा छुटकारा पाकर शाश्वत स्थिरता-मोक्ष प्राप्त कर लेता है।

गुरु के वचन सुनने से उत्पन्न शुभ परिणाम रूपी अग्नि से जिसका बहुत सा कर्म रूपी ईंधन जल गया था, उस गुणसेन ने इस बीच भावना से सम्यक्त्व अणुव्रत, गुणव्रत और शिक्षाव्रत रूप गुण स्थान-पञ्चम गुणस्थान प्राप्त कर कहा-भगवन्! मैं धन्य हूँ, मैंने पाप रूपी मैल का प्रक्षालन करने वाला-धोने वाला, राग आदि के विष को मिटाने वाला, प्रशम आदि गुणो को उत्पन्न करने वाला, संसार रूपी कारागृह से निकालने वाला आपका वचन सुना। अब आज्ञा कीजिए, जो मुझे करना चाहिये। अथवा आपने आज्ञा दे ही दी है। अतः मुझे गृहस्थ-धर्म के सारभूत, गुणों के आधारभूत अणुव्रत आदि स्वीकार कराएं। गुरु ने कहा— तुम जैसे भव्य प्राणियो के लिए यह कृत्य-करने योग्य है। यो उन्होने उसे विधिपूर्वक अणुव्रत स्वीकार करवाए तथा बहुत प्रकार से उसे उपदेश दिया। तत्पश्चात् अत्यन्त भक्तिपूर्वक गुरु को वन्दन कर परिवार सहित वह नगर मे प्रविष्ट हुआ। भोजन आदि समाप्त कर, जब दिन लगभग अस्त होने को था, वह वहां से चला।

उसने देव तथा गुरु को वन्दन किया। गुरु ने समयोचित उपदेश दिया। तब कुछ समय उनकी विधिवत् पर्युपासना कर सान्निध्य-लाभ कर वह फिर नगर मे आ गया। इस प्रकार दोनों समय गुरु के दर्शन और उनके वचन-श्रवण का सुख अनुभव करते हुए एक महीना बीत गया। वह धर्म मे परिपक्व हो गया। प्रवास की कल्प-विहित अवधि के समाप्त होने पर भगवान् विजयसेनाचार्य अन्यत्र विहार कर गये।

तब कुछ दिन व्यतीत हुए। राजा गुणसेन महल की छत पर बैठा था। उसने एक मृतक को श्मशान ले जाते समय बजाये जा रहे ढोल की ध्वनि, जिसके साथ 'हाय हाय' की आवाजे मिली हुई थी, सुनी। वह ध्वनि ऐसी थी, मानो यमराज के कूच का ढोल बज रहा हो, संसार रूपी राक्षस का अट्टहास हो, जीव-लोक का प्रमादाचरित-प्रमादपूर्ण आचरण हो। उसने देखा, वह (मृत व्यक्ति) यमराज का वशवर्ती हो गया है, चार पुरुषो ने उसके शरीर को उठा रखा है, बिलपते बन्धुवर्ग ने उसे (शव को) घेर रखा है। राजा गुणसेन के मन मे अत्यन्त विरक्त भाव उत्पन्न हुआ। इस जीव-लोक को इन्द्रजाल के सदृश जानकर वह (गुणसेन), जिसका धर्म-ध्यान रूपी जल से पाप-लेप धुल चुका था, सोचने लगा, हम भी इसी प्रकार मरणधर्मा हैं। अहो ! अन्ततः जिसमे कोई रस (आनन्द) नही है, ऐसे (परिणाम-विरस) जीव-लोक मे वे धन्य हैं, जो तीनो लोको मे बन्धु के समान, अचिन्त्य (कल्पनातीत) जो सोचा तक न जा सके, इतने बहुमूल्य चिन्तामणि रत्न के समान, परम ऋषि-महान् द्रष्टा सर्वज्ञो द्वारा उपदिष्ट धर्म मे अनुरक्त होते हुए गृहवास से मुनि-धर्म मे दीक्षित होते है। तब प्राण-वध हिंसा, मृषावाद, असत्य-भाषण, अदत्तादान-चोरी, मैथुन और परिग्रह से विरत होते हुए, बयालीस एषणा-दोषो से रहित, शुद्ध आहार ग्रहण करते हुए, सयोजन आदि पाच दोष रहित परिमित, यथाकाल भोजन करते हुए, पाच समितियो और तीन गुप्तियो का प्रतिपालन करते हुए, अतिचार रहित व्रत पालने के लिये ईर्या समिति आदि पच्चीस भावनाओ से भावित होते हुए अनशन, ऊनोदरी आदि बाह्य तथा प्रायश्चित्त विनय आदि आभ्यन्तर तपो का आचरण करते हुए, मासिक आदि अनेक प्रतिमाओं को धारण करते हुए, विचित्र प्रकार के पदार्थों के अभिग्रह मे रत होते हुए, अस्नान व लुञ्चन जैसी दुर्धर-कठोर वृत्तियो का निर्वाह करते हुए, शरीर का कोई साज-शृ गार न करते हुए, तृण, मणि, मोती, ढेले और सोने को समान समझते हुए, अधिक क्या कहा

जाए, अठारह हजार शीलांगों को धारण करते हुए, उपमातीत-अनुपम, देवों द्वारा प्रशंसित प्रशम-अध्यात्म शान्ति रूप सुख प्राप्त करते हुए सैकडो ग्राम, आकर, नगर, पत्तन, मडम्ब, द्रोणमुख, सन्निवेश (उस समय के विविध प्रकार के नगर, उपनगर, ग्राम, ग्रामटिका, आवास आदि) स्थानीय इकाइयो से संकुल-व्याप्त पृथ्वी पर विहार करते हुए, मिथ्यात्वरूपी कीचड मे डूबे हुए-फसे हुए, भव्यजन रूपी कमलो को सद्धर्मोपदेश रूपी सूर्योदय द्वारा प्रतिबोधित करते हुए, उग्र तप-आचरण से जिनका शरीर अलंकृत सुशोभित है, (ऐसे साधक) वीतराग द्वारा उपदिष्ट मार्ग-विधि से यथासमय पादोपगमन अनशनपूर्वक देह का परित्याग करते हैं। तब मैं भी इसी विधि से देह का परित्याग करूंगा। मुझे वे भगवान् विजयसेनाचार्य प्राप्त हुए हैं, लाखों जन्मो मे भी जिनका मिलना दुर्लभ है, समग्र-लोक-अलोक के लिए जो सूर्य जैसे हैं, शाश्वत सुख प्रदान करने मे जो कल्पवृक्ष हैं, समस्त त्रैलोक्य मे तीनो लोको मे जो अनुपम चिन्तामणि रत्न के समान हैं, भयानक ससार रूपी समुद्र मे जो जहाज के तुल्य हैं, तथा जो धर्म रूपी रथ के सारथि-हाकने वाले हैं। अतः मैं उनके पास धीर पुरुषो द्वारा सेवित, कर्म रूपी वन के लिए दावानल के समान महाप्रव्रज्या स्वीकार करूगा। यह सोच-कर उसने सुबुद्धि आदि मन्त्रियो को बुलाया और उन्हे अपना अभिप्राय कहा। तब मन्त्री, जो राजा के ससर्ग से वीतराग-उपदेश का सार जानते थे, कहने लगे—देव (आप) ने महापुरुषो के स्वभाव के अनुरूप सोचा है। तीव्र पवन द्वारा विचलित कमल-जल के मध्य मे स्थित चन्द्र के प्रतिबिम्ब की तरह चञ्चल इस जीव-लोक मे भव्य प्राणियों को ऐसा ही करना चाहिए। इसीलिए आप प्रतिबन्ध-रुकावट न मानें, जिस प्रकार आपको सुविधा हो, करे। और भी राजन्! वह कौन होगा, जो किसी का सुहृद-हितैषी मित्र होकर धधकती हुई आग की लपटों से परिव्याप्त घर से निकलते हुए उसे रोके? ससार रूपी घर सर्व-दुःख रूपी अग्नि से प्रदीप्त है। इसलिए आपका यह सकल्प हमारे लिए बहुमान्य है। हम अपने बुद्धि-कौशल से आपका मरण रोकने मे असमर्थ हैं। तब राजा ने यह सुनकर कहा कि (वास्तव मे) ऐसा ही है। आप लोगो को छोडकर मेरा दूसरा कौन हितैषी है, यो कहते हुए उस (राजा) ने उनका बहुत सम्मानपूर्वक अभिनन्दन किया। राजा का मुख-कमल प्रसन्नता से खिल उठा। उसने आघोषणापूर्वक महादान-महत् (अत्यधिक) दान दिलाया, जिन-भवन आदि मे अपनी भक्ति

और वैभव-सम्पत्ति के अनुरूप अष्टाह्निक-आठ दिनो तक चलने वाली महिमा-प्रभावना करवाई, प्रियजनो को सम्मानित किया, नगर व जनपद वासियों को बहुमानित किया, चन्द्रसेन नामक अपने ज्येष्ठ पुत्र को राज्य सौपा और भाव से प्रव्रज्या-दीक्षा स्वीकार करली । "मैं कल ही वहा जाऊगा जहा भगवान् विजयसेनाचार्य हैं," यो सोचकर वह एकान्त स्थान मे सर्वरात्रिक प्रतिमा मे स्थित हुआ ।

इधर अग्निशर्मा तापस उस निदान से प्रतिक्रान्त न होता हुआ मर कर विद्युत्कुमारो मे डेढ पल्योपम स्थिति वाला देव हुआ । उसने उपयोग लगाया—जानने का उपक्रम किया—मैने क्या हवन किया है अथवा यज्ञ किया है अथवा दान दिया है, जिससे मुझे यह दिव्य-श्रेष्ठ दैवी ऋषि-सम्पदा प्राप्त हुई । पूर्व जन्म का वृत्तान्त उसकी स्मृति मे आया, वह गुणसेन पर कुपित हो उठा । विभग-अज्ञान (मिथ्यात्व गर्भित अतएव कुत्सित अवधि-ज्ञान) से जानकर वह उस (गुणसेन) के पास आया । उसने उसे (गुणसेन को) प्रतिमा (एक विशेष साधना-क्रम) मे स्थित देखा ।

उस देव का हृदय क्रोध से मूढ-कर्तव्य-अकर्तव्य के विवेक से शून्य बना था । उसने प्रतिमा मे स्थित गुणसेन पर नारकीय अग्नि की धधकती हुई लपटो से युक्त-अत्यन्त तप्त धूल की भयानक वर्षा की ।

वह (गुणसेन) उससे दग्ध होने लगा पर उसमे आकुलता नही व्यापी । वह अत्यधिक आत्म-बल-धैर्य्य सजोये रहा । उसका मन वीतराग-प्रणीत-जिन-प्रतिपादित धर्म से अनुभावित था । वह सोचने लगा—

यह ससार शारीरिक व मानसिक दु:खो से अभिद्रुत-आक्रान्त है । यहा दु:ख सुलभ है—सहज ही प्राप्त होता है पर सच्चे धर्म की प्राप्ति दुर्लभ है ।

मै धन्य हूँ, जिसने इस अनादि-अनन्त ससार मे लाखो जन्मो मे भी दुर्लभ धर्म रूपी रत्न को उपलब्ध किया ।

इसका सदा प्रयत्नपूर्वक पालन करने से जीव इसके प्रभाव से जन्मान्तर मे दु:ख एव दुर्गति नही पाते ।

इसलिए इस अनादि ससार मे मेरा यह जन्म अनाचरण-असद् आचरण रूप दोष से परिहीन-रहित होने से सफल तथा सद्धर्म के लाभ से गौरवशील है ।

जो मैंने अग्निशर्मा को तिरस्कार द्वारा क्रोध उत्पन्न करवाया, वह मेरे हृदय को कुरेद रहा है। किया हुआ अकार्य वाद मे परितप्त करता ही है।

अव मैं वीतराग के वचन से सभी जीवो के प्रति मैत्री-भाव स्वीकार किये हुए हूँ, विशेपतः अग्निशर्मा के प्रति।

यो वह शुभ परिणाम वाला (गुणसेन) उस पापी (अग्निशर्मा के देव रूप मे उत्पन्न जीव) द्वारा पोडित होकर, मरकर सौधर्म कल्प मे देव रूप मे उत्पन्न हुआ।

वह चन्द्रानन विमान मे एक सागरोपम आयु वाला देव हुआ। यहा (प्रासगिक रूप मे) देवताओ के उत्पन्न होने की विधि का सक्षेप में वर्णन करूंगा (कर रहा हू)।

परम्परा से-प्रवाह रूप मे जैसे वे (देव) उत्पन्न होते है, वैसे ही उनको अपने अनुरूप अप्सराएं आदि परिजन प्राप्त होते हैं। वे (अप्सराएं आदि परिजन) उस उत्पन्न होने वाले देव के लिए करणीय करने योग्य सब निर्वर्तित-निर्मित या सम्पादित करते है।

जैसे वादल, विद्युत्पात (विजली का गिरना), इन्द्रधनुप, बिजली की चमक-ये सव आकाश मे क्षण भर मे उत्पन्न हो जाते हैं, देवो की उत्पत्ति भी उसी प्रकार होती है।

वह (देवयोनि पाने वाला जीव) इस शरीर को छोडकर निर्मल-उज्ज्वल देव शय्या मे अपने दिव्य शरीर का अन्तर्मुहूर्त मे निर्वर्तन-निर्माण कर लेता है।

उस समय देवाङ्गनाए मनोहर गीत गाती हैं और जिन पर भौंरे मडरा रहे हैं, ऐसे फूल उस (उत्पन्न हुए देव) पर वरसाती हैं।

वे विविध प्रकार से सुन्दर रूप मे देव-वीणाएं वजाती हुई तथा दिव्य-मनोहर भाव-भगियों से उस देव के मन में कुतूहल उत्पन्न करती हुई नाचती है।

जो सारे संसार मे कठिनाई से प्राप्त होता है, ऐसे उस (नवागत देव) के जन्म से अवगत हो, (अन्य) देवगण मन मे हर्पित होते हैं और उच्च स्वर से सिंहनाद करते है।

वह दूसरा (नवोत्पन्न) देव भी दिव्य शब्द, स्पर्श, रस, रूप तथा गन्ध का सुखानुभव करता हुआ, प्रसन्न हो, शय्या से एकदम उठता है।

देवताओ के नेत्रो को आनन्द देता हुआ, दिव्य देव-वस्त्र धारण करता हुआ, ज्योतिर्मय व सुन्दर शरीर वाला वह (देव) ऐसा लगता है, मानो शरद् ऋतु का चन्द्र हो ।

वहां सुन्दर तथा प्रसन्न देवागनाए नन्दना "आपकी जय हो ! जय हो ! जय हो !" यो मधुर वचनो से उसकी स्तुति करती हैं ।

जिनके गालो पर कुण्डलो का प्रकाश छिटक रहा है, जिनके कल्पवृक्ष के फूलो के आभूषण हैं, ऐसे देवगण भी अत्यन्त हर्षित होते हुए 'जय शब्द' के निर्घोष के साथ उस (नवोत्पन्न देव) को प्रणाम करते हैं ।

इस प्रकार यह दिव्य परिजन देख उसके नेत्र चकित हो जाते है और वह सोचने-लगता है, मैंने क्या दान दिया, क्या हवन किया, जिनका यह दिव्य फल मुझे प्राप्त हुआ ?

वह दिव्य, विशुद्ध अवधि-ज्ञान से उपयोग लगाता है, अपना वृत्तान्त जानता है और फिर वह, (अपने द्वारा) जो करने योग्य है, उसे करता है ।

वह महिमा या सत्कार योग्य (समादृत) देव शाश्वत जिन[1]-विजयशील देवो की प्रतिमाओ का महान् महिमा-समारोह करता है तथा एक मुहूर्त तक पुस्तक-रत्न का वाचन करता है ।

जिन्होने अपने मुख-चन्द्र द्वारा चन्द्र-बिम्ब को जीत लिया है, मासल (स्थूल), उन्नत, सुसज्ज व श्रेष्ठ स्तनो से जिनका शरीर सुन्दर लग रहा है, (सौन्दर्य सूचक) तीन वलि या सिकुडन रूपी तरगो के कारण वक्र या चञ्चल अपने (देह के) मध्य भाग-उदर पर शोभित हो रहे हार से जो रमणीय लग रही है, जिनके विस्तीर्ण नितम्ब-कूल्हे ध्वनि करती हुई रसना-मेखला (तागडी) से अभिनन्दित-सुशोभित हैं, तपाये हुए स्वर्ण के समान मनोहर स्थूल जघा-युगल से जो सुन्दर लग रही हैं, नखरूपी चन्द्रमा के प्रकाश से युक्त, कछुए की तरह ऊंचे उठे हुए पैरों से जो शोभायमान है, अत्यन्त परितोष के कारण प्रसृत-प्रकटित विलास और शृ गार-भाव से जो रम्य हैं एवं कामदेव के बाण से जिनका मन बिधा हुआ है, ऐसी उत्तम देवाङ्गनाओ तथा गाढ

---

१. मेदिनी कोष मे जिनो...जित्वरो त्रिपु अर्थात् विजयशील देव ऐसा अर्थ किया है ।

अनुराग से युक्त, दिव्य-वैभव-सम्पन्न खूब चमक-दमक वाले, "स्वामी ! देव-भवनो को देखें," ऐसा निवेदन करने वाले लाडले सेवको को वह (देव) देखता है ।

जय शब्द द्वारा जो (नवागत देव का) गौरव ख्यापित कर रही हैं, जो मोहित करने मे विचक्षण-कुशल हैं, ऐसी देवाङ्गनाओ के साथ वह देव-भवनो का अवलोकन करता है ।

बडी बडी मरकत-पन्ने की शिलाओ के समूह से जिनमें सुदृढ पीठिकाए चौकिया बनी है, जिनमें रत्न जड़े है, ऐसी सूर्यकान्त मणियो से निर्मित दीवारो से जो युक्त हैं, जिनमे वैडूर्य-नीलम के खभो पर तरह तरह की सैकड़ो सुन्दर शालभञ्जिकाए-पुतलियां बनी हुई हैं, जिनमे दीवारो के बीच बीच मे भीतर की ओर बने स्थान-विशेषो मे दिव्य तलवारे चवर रखे हुए है, देव की रुचि के अनुरूप बनाये गये तरह-तरह के श्रेष्ठ पलगो से जो युक्त हैं, रग-विरगे वस्त्रो और मोतियों की मालाओ के लटकाने से जो सुशोभित हो रहे हैं, कल्पवृक्ष के फूलो से सजाये हुए जिनके प्रागणो (आगनो) मे भौरे जुटे है, जहा धूप के पात्र रखे हैं, रत्नो की मालाए लटक रही हैं, इस प्रकार के देव-भवनों मे वह, जिसने पूर्व समय मे पुण्य अर्जित किये हैं, सुरसुन्दरियो के समूह के साथ दिव्य तथा श्रेष्ठ भोग भोगता हुआ, मन मे परितोष पाता हुआ रहता है ।

वह (देव रूप मे उत्पन्न गुणसेन का जीव) भी चन्द्रानन-विमान में देवाङ्गनाओ के साथ एक सागर पर्यन्त यथेच्छ दिव्य भोग भोगता रहा ।



दूसरा भव

गुणसेन तथा अग्निशर्मा के सम्बन्ध में जो चर्चा की गई थी, वह (उनका) वर्णन समाप्त हुआ। सिंह और आनन्द के सम्बन्ध मे जो कहा गया, वह (वर्णन) सुनिए।

इसी जम्बूदीप के अन्तर्गत अपरविदेह नामक क्षेत्र मे जयपुर नामक नगर था। वह अपरिमित परिमाण या सख्या रहित गुणो का निधान—खजाना था, देवो के उत्तम नगर का अनुकरण करने वाला था, बाग-बगीचो से विभूषित था तथा समस्त पृथ्वी का मानो तिलक था। वहाँ की महिलाए रूपवती, उज्ज्वल—चमकीली या सुन्दर वेश-भूषण से युक्त, कलाओ मे निपुण एव लज्जाशील-शर्मीली थी। वहां के पुरुष दूसरो की स्त्रियो के सेवन मे नपुसक, दूसरो के छिद्र-दोष देखने मे अन्धे तथा दूसरो के अपवाद—अवर्णवाद या निन्दा करने में मूक थे। दूसरो के धन का अपहरण करने मे उनके हाथ सकुचित होते थे। दूसरो का उपकार करने मे ही उनकी एकमात्र लिप्सा-अभिलाषा थी। वहाँ का पुरुषदत्त नामक राजा था। उस (राजा) ने अपने दृप्त-दर्पयुक्त (अभिमानी) शत्रुओ के हाथियो के मस्तक म्यान से बाहर निकाली हुई अपनी तेज तलवार से काट डाले थे, जिन (मस्तको) से उछलते हुए-बहते हुए बहुत से खून से लाल हुए मोती रूपी फूलो के समूह से युद्ध-स्थल मानो पूजित था। उस राजा के श्रीकान्ता नामक देवी अग्र-महिषी-पटरानी थी, जिसका रनवास मे सर्वाधिक आदरपूर्ण स्थान था। वह (राजा) उसके साथ अनुपम भोग-सासारिक सुख भोगता था।

इस बीच चन्द्रानन विमान का अधिपति—स्वामी वह देव (गुणसेन का जीव) अपने आयुष्य को पूरा कर, वहा से च्युत—उस स्थान से पृथक् हुआ तथा श्रीकान्ता के गर्भ मे आया। उस (रानी) ने उसी रात स्वप्न देखा—एक सिंह-किशोर (सिंह का बच्चा) उसके मुह मे होता हुआ उसके पेट मे प्रवेश कर रहा था, जिस (सिंह-किशोर) के सुनहले अयाल—गर्दन के बाल बिना धुए की आग की लपटों जैसे चमकीले थे, जो स्वच्छ स्फटिक—बिल्लौर, मैनसिल (एक पीला

खनिज पदार्थ), कसौटी, हंस तथा (मोतियो के) हार के समान उज्ज्वल (देह पर सफेद, पीले व काले रग का चमकीला सम्मिश्रण लिये हुए) था, जिसकी ललाई लिये हुए भूरी ग्रांखें गोल एव अत्यन्त शान्त थी, जिसकी (मु ह से वाहर) निकली हुई डाढ़े चन्द्र-लेखा – चन्द्रमा की लकीर—दूज के चाँद जैसी थी, जिसका सीना मांसल और सुन्दर था, जिसका मध्य-भाग पेट अत्यन्त पतला था, जिसका कटितट-कमर का भाग गोल तथा कठिन-सुदृढ था, जिसकी पूछ गोल, मुडी हुई और लम्वी थी, जिसका ऊरु-सस्थान जघा भाग सुगठित था, अधिक क्या कहा जाए, जिसके सभी ग्रग सुन्दर तथा सुहावने थे । वह (स्वप्न) देखकर सुखपूर्वक जगी हुई महारानी ने अपने पति (महाराज) को सब यथावत् कह सुनाया । उन्होने वताया कि तुम्हारे एक ऐसा पुत्र होगा, जिसके दोनो चरणों मे अनेक सामन्त झुके रहेगे तथा जो महाराज शव्द का निवास-स्थान आधार अर्थात् महान् राजा होगा । वैसा सुनकर वह सुखपूर्वक रहने लगी ।

उचित समय आने पर महापुरुष के गर्भ के प्रभाव से उसे (तदनुरूप उत्तम) दोहद (गर्भवती स्त्री की प्रवल रुचि) हुआ, जैसे—मैं सव प्राणियों को ग्रभय दान दूं, दीन, ग्रनाथ व दयनीय (ग्रसहाय अतः दया के पात्र) जनों को ऐश्वर्य ग्रौर सपत्ति—धन-दौलत, यति-जन—श्रमण-वृन्द को आहार तथा ग्रपेक्षित उपकरण प्रदान करूं तथा सभी देव भवनो मे महिमा करूं । उसने अपने पति (राजा) से वह (दोहद) निवेदित किया । राजा इससे वहुत हर्षित हुग्रा ग्रौर उसने वैसा सव सपादित करा दिया । वैसा सपादित होने से लोगो को वडा आनद हुआ । और भी .

(उत्तरोत्तर वृद्धिशील) वाल चन्द्रमा का उदय जिस प्रकार ससार के प्रकाश के लिए होता है, उसी प्रकार धन्य—सौभाग्यशील पुरुषो की सभी अवस्थाएं लोगो के उपकार के लिए होती हैं ।

तव धर्म मे निरत-सलग्न, परोपकार द्वारा ग्रपना जन्म सफल वनाती हुई महारानी के नौ महीने ग्रौर साढे सात दिन सुखपूर्वक व्यतीत हुए । महारानी (श्रीकान्ता) ने प्रशस्त - उत्तम तिथि, करण, मुहूर्त तथा योग मे सुकोमल हाथ पैर वाले, सव लोगो के मनोरथो के ग्रनुरूप पुत्र को जन्म दिया । शुभंकरिका नामक दासी ने महाराज को पुत्र-जन्म की सूचना दी । राजा उस पर प्रसन्न हुग्रा, उसे पारितोषिक

दिया । राजा ने वन्धन से छुटकारा—जेलखाने से कैदियो को छुडवाना आदि जो करणीय—करने योग्य कार्य थे, करवाये । नगर मे महान् आनन्द मनाया जाने लगा । नगर के मार्ग सजाये गये, कु कुम मिश्रित जल (के छिडकाव) से मिट्टी शान्त हो गई (मिट्टी का उडना बन्द हो गया) । ऐसे तरह तरह के फूल विखेरे गये, जिन पर भौरे गु जार कर रहे थे, बाजार तथा मकान सुशोभित किये गये, सडक पर स्थित मकानो पर मंगल-वाद्य वजवाये गये, राजपुरुष और नागरिक जन प्रसन्नता से नाचने लगे । यो प्रतिदिन अत्यन्त आनन्द और सुख का अनुभव करते हुए पहला महीना व्यतीत हो गया ।

सिंह का स्वप्न देखने के कारण बालक का नाम सिंह रखा गया । अपने विशिष्ट पुण्यो का अखण्डित फल भोगते हुए अपने परिजन वृन्द के मनोरथो के अनुरूप प्रजा के सौभाग्य से उस राजकुमार ने (क्रमश विकासोन्मुख कलाओ के कारण) जिसकी ज्योत्स्ना (कान्ति) बढती जा रही है, जो लोगो के मन और नेत्रो के लिए आनन्दप्रद है, उस चन्द्र की तरह क्रमशः यौवन प्राप्त किया, जो (यौवन) अनुपम शोभायुक्त, कलाओं (के शिक्षण) के कारण विशेष आकर्षक तथा जन-जन के मन व नयनो के लिए आनन्ददायी था ।

अस्तु, राजकुमार युवा हो गया । यथासमय वसन्त आया, जो कामदेव के हृदय के अनुकूल और युवा जनो के मन को आनन्द देने वाला था । जहा (वसन्त ऋतु मे) कामदेव अपने फूलो के धनुष पर भ्रमर रूपी वाण चढाकर, लोगो मे रति अनुरक्तता (अनुराग) उत्पन्न कर उनके हृदय वीधने लगा । तत्पश्चात् (वसन्त के आ जाने पर) कोयले कोलाहल करने लगी, मानो वह (कोलाहल) उस (वसन्त) का जय-नाद हो, आम के वृक्षो पर भौंरे झूमने लगे, वे ऐसे लगते थे, मानो विरह की अग्नि से जलते हुए पथिको के समूह से निकलने वाले धुएँ का पर्त-पटल हो, ढाक के फूलो से दिशाए प्रदीप्त हो उठी—चमकने लगी, ऐसा प्रतीत होता था, वह, जिनके पति (विदेश) चले गये है, उन वियोगिनियो के हृदय मे धधकने वाली श्मशान की सी भयानक अग्नि हो । ऐसे वसन्त ऋतु के समय मे सिंहकुमार अनेक युवाजनो से घिरा हुआ अत्यन्त वैभवपूर्वक—वहुत वडे ठाठ-वाठ के साथ क्रीडा के हेतु क्रीडासुन्दर नामक उद्यान मे गया, जो अत्यन्त मोद-आह्लाद युक्त कोयलो की कूक द्वारा युवतियो के चित्त मे विलास की चञ्चलता

उत्पन्न कर रहा था, जहां सुगन्धित मलय पवन द्वारा नचाये गये—जोर से हिलाये गये, (अतएव) फूलो के भार से टूटते हुए से वृक्षो व वेलों का समूह था, मद से प्रमुदित—विशेषत: आह्लादित (आनन्दित) व गू जते हुए भौरे जिसकी अत्यधिक शोभा का सगान कर रहे थे तथा वसन्त-लक्ष्मी का जो मानो निवास-गृह था।

सिंहकुमार वहां अनेक प्रकार की क्रीडाए करने लगा। उसने वहां उद्यान मे पास ही अपने मामा लक्ष्मीकान्त नामक महासामन्त की पुत्री कुसुमावली को अपनी सखियो के साथ वसन्त-क्रीडा का आनन्द लेते हुए देखा। उसके गु थे हुए वाल पुष्पो के पराग—मकरन्द की सुगन्ध से युक्त थे, जो ऐसे प्रतीत होते थे, मानो भौरों की पक्ति हो, उसके हाथ मू गे की शाखा की तरह लाल थे, उसकी भुजा रूपी लताएं कोमल, पतली और चञ्चल थी, उसकी दोनो जघाएं केले के स्तम्भ—तने की तरह मनोहर थी, उसके दोनो पैर स्थल-कमल (पृथ्वी पर होने वाले कमल) के समान लाल और कोमल थे। वह (कुसुमावली) ऋतु (वसन्त) लक्ष्मी द्वारा सेवित उद्यान की देवी जैसी लगती थी। भव-भवान्तर के अनुरागमय सस्कार के कारण वह (राजकुमार सिंह) उत्कण्ठापूर्वक उसकी ओर देखने लगा। कुसुमावली ने भी (पूर्व-जन्म के सस्कार-जन्य अव्यक्त परिचय वश) भ्रम से जल्दी जल्दी पीछे हटते हुए उधर से उसकी ओर देखा। वह सोचने लगी—(इस) क्रीडा सुन्दर उद्यान की रमणीयता के कारण क्या भगवान् कामदेव भी यही क्रीडा का आनन्द ले रहे हैं (क्या ये स्वय भगवान् काम हैं)! इस बीच प्रियकरा नामक दासी ने कहा—स्वामिनी! जाइए मत। ये आपके पिताजी की वहिन—भुआ के गर्भ से उत्पन्न, पुरुषदत्त राजा के पुत्र सिंह नामक राजकुमार हैं। आप यहा पहले से आई हुई हैं, आपको यो वापिस लौटते हुए देख कर ये कहीं अशिष्टता न समझे। इसलिए आप यही ठहरे तथा इन महानुभाव का एक राजकुमारी के व्यक्तित्व के अनुरूप सत्कार करें। तव राजकुमारी के अंग हर्ष से पुलकित हो गये। उसने उल्लास और उत्कण्ठापूर्वक राजकुमार को देख कर उसे कहा—सखि प्रियकरिके! इस कार्य मे तुम ही निपुण हो, वतलाओ—मुझे इनके साथ क्या (स्वागतोपचार) करना चाहिए? उसने कहा-स्वामिनी! हम यहां पहले आई हुई हैं इसलिए आसन ग्रहण करवाकर हम इनके द्वारा इस स्थान को अलकृत करवाएं—इन्हे वैठने को आसन दे—इनका स्वागत करें, जो (स्वागत) सज्जनो के (पारस्परिक) सम्वन्ध रूपी

वृक्ष का बीज (मूल कारण) है, अपने हाथ से इन्हे वासन्ती फूलो के आभूषणो सहित पान दे, जो इस समय उपयुक्त है ।

कुसुमावली ने कहा—सखी ! (लज्जाजनित) अति भय—संकोच या अस्त-व्यस्तता के कारण मुझ से यह नही बन पायेगा, इसलिए तुम्ही, यहां इस समय जो करना उपयुक्त है, करो । इसी बीच राजकुमार उस स्थान पर आ गया । तब आसन सजाकर प्रियकरी ने कहा—रति-विरहित कामदेव का स्वागत है । महानुभाव ! यहा बैठें । "मैं इतने समय तक तो रति-विरहित था पर अब वैसा नही हू," राजकुमार परितोषपूर्वक मन्द मुस्कान के साथ यो कहकर बैठ गया । प्रियंकरिका ने माधवी लता के फूलो से बनी हुई माला के साथ स्वर्ण-पात्र मे रखा पान (राजकुमार को) भेट किया । राजकुमार ने उसे ग्रहण किया । इस बीच कुसुमावली की माता द्वारा उसे (कुसुमावली को) बुलाने के लिए भेजा गया कन्याओ के अन्त पुर का सभराग्रण नामक वृद्ध सेवक (कञ्चुकी) आ गया । उसने आधी आख से (नेत्र के कोर से) कुमार, जो उधर नही देख रहा था, का अवलोकन करती हुई कुसुमावली को देखा । उसने सोचा—यदि भाग्य अनुकूल रहा तो काम का रति से मिलन हो गया । फिर उसने निकट आकर, कुमार का अभिनन्दन कर (कुसुमावली से) कहा—बेटी कुसुमावली ! देवी मुक्तावली की आज्ञा है कि तुम बहुत खेल चुकी हो, तुम्हारा शरीर थक न जाए, इसलिए तुम शीघ्र आ जाओ । "जैसी मा की आज्ञा" यो कह, आदरपूर्वक कुमार को देखती हुई वह उद्यान से चली गई । एक मात्र कुमार का चिन्तन करती हुई वह अपने घर पहुची । अपनी माता को प्रणाम कर वह महल के ऊपरी भाग में स्थित प्रकोष्ठ, जिस पर हाथी दात का पर्त लगा था, मे गई । वहां केवल राजकुमार का ही स्मरण करती हुई, लम्बे सांस छोडती हुई पलग के बिस्तर पर बैठ गई और उसने अपनी सखियो को आदरपूर्वक वहा से विदा कर दिया । निरन्तर नि श्वास—लम्बे सांस छोडती हुई वह सोने का उपक्रम करने लगी । उसका मन कामदेव के बाणो से विंधा था, अतएव उन कार्यो से, जिनमे उसे रुचि थी, हट गया था । न वह चित्र बनाती थी, न वह करने योग्य अगराग– देह पर सुरभित पदार्थों का लेप आदि सज्जा करती थी, न उसे भोजन मे रुचि थी, न अपना महल ही उसे अच्छा लगता था, न वह अपने चिर-परिचित तोता–मैना समूह को ही पढ़ाती थी (मानव वाणी मे बोलना सिखाती थी) न अपने महल के

मनोहर व चन्चल राजहंसों को ही खिलाती थी, न महल की छत पर घूमती थी, न महल मे स्थित बावडी मे वह नहाती थी, न वह वीणा को गतिशील करती थी—बजाती थी, न नक्काशी का काम करती थी, न गेद से खेलती थी, न गहनो मे उसका मन था। वह अपने यूथसमूह या टोले से खोई हुई हरिणी के समान थी। वह एक मात्र राजकुमार का ही स्मरण करती थी। क्षण भर में वह आंखे बन्द कर लेती, क्षण भर मे अधीर हो लम्बे सांस छोडने लगती, क्षण भर मे उसकी शारीरिक चेष्टाएं रुक जाती, क्षण भर मे वह गुन-गुनाने लगती, क्षण भर मे उसका मुह सूख जाता।

इस बीच उसकी धाय ने अपनी मदनलेखा नामक पुत्री को, जो मानो उसका दूसरा हृदय था, आज्ञा दी—कुसुमावली क्रीडासुन्दर उद्यान मे जाने और वहां खेलने से बहुत थकी हुई है, उसने अपनी सखियों को भी शीघ्र ही अपने पास से विदा कर दिया है; इसलिए थोड़े थोड़े जल से सींचा हुआ ताड का पंखा लेकर तथा कपूरयुक्त कुछ एक पान के बीडे बाध कर तुम उसके पास जाओ। आदेश पाते ही मां के वचन के अनुसार व्यवस्था कर मदनलेखा, जिसकी मणियो की पैंजनियां बज रही थी, हर्षपूर्वक कुसुमावली के पास आई। उसने उत्तम विस्तर पर लेटी हुई, अत्यधिक चिन्ता-भार न सह सकने वाली देह को धारण करती हुई कुसुमावली को देखा। (कुसुमावली के) नही बोलने से मदनलेखा ने उसके उदासीन भाव को जान लिया। वह कहने लगी—स्वामिनी! आप इस प्रकार बेचैन क्यो दिखाई देती हैं? क्या आपने गुरुजनो और देवताओ की स्तुति नही की? क्या सखियो का सम्मान नही किया? क्या अतिथियो का सत्कार नही किया? क्या कलाए ग्रहण नही की? क्या आपके गुरुजन परितुष्ट नही हैं? क्या आपका परिवार—परिजनवृन्द-नौकर-चाकर विनीत नही हैं? क्या आपकी सखियां आपमें अनुरक्त नही हैं? क्या आपकी इच्छाएं पूरी नही हो रही हैं? स्वामिनी! यदि नही कहने लायक न हो तो आज्ञा कीजिए।

इस पर कुसुमावली ने शीघ्रता से अपने हाथ से बालों को बांध कर कहा—क्या प्रिय सखी को भी न कहने योग्य कुछ हो सकता है? सुनो, फूल चुनने के श्रम से मुझे कुछ ज्वरांश सा हो गया है। उससे होने वाले परिताप की अग्नि मुझे जला रही है। उसी के कारण

मेरी अगो मे उत्साह-हीनता व्याप रही है । उद्वेग-बेचैनी का और कोई कारण तो दिखाई नही देता । मदनलेखा ने कहा—यदि ऐसा है तो ये कपूर-वासित पान के बीड़े लो, क्रीडा—खेल-कूद से थके हुए आपके शरीर को मैं हवा करती हूँ। कुसुमावली ने कहा—ऐसी दशा मे (स्थित) मुझे कपूर-वासित पान के बीडो से क्या होगा और हवा करने की भी आवश्यकता नही है । आओ, वाल-कदली-गृह—छोटे-छोटे केलो के घर- झुरमुट मे चलें । वहा मेरा विस्तर लगाओ । सभव है, वहां जाने पर (उस विस्तर पर लेटने पर) मेरे परिताप की अग्नि शान्त हो जाए । इस पर मदनलेखा ने कहा—जैसी आपकी आज्ञा । अपने महल मे स्थित उद्यान के तिलक के सदृश वाल-कदली-गृह मे वे (दोनो) गई । मदनलेखा ने कुसुमावली के लिए सुन्दर बिछौना तैयार कर दिया । कुसुमावली उस पर स्थित हुई । मदनलेखा ने उसे कपूर-वासित पान के बीडे दिये । विश्वस्त या घनिष्ठता पूर्ण बातचीत से परितोष उत्पन्न करती हुई मदनलेखा पखे से हवा करने लगी । कुसुमावली अकस्मात् अनमने मन से हुकारा देती हुई, मन्द मन्द सास छोडती हुई मे गडे काटे के समान उसी (कुमार) को याद करती रही ।

तव मदनलेखा सोचने लगी—मन ही मन वितर्कणा करने लगी—इस (कुसुमावली) के इस अन्य प्रकार के विकार-भाव—इस दूसरी तरह की विकृत अवस्था का क्या कारण है ? उसने कुसुमावली से पूछा—स्वामिनी ! युवाजनो के आनन्द-विलास के लहराते समुद्र जैसे इस वसन्त-काल मे क्या आपने आज क्रीडासुन्दर उद्यान की ओर जाते समय या जाने पर वहा कोई आश्चर्य देखा ? कामावस्था के स्वभाव व कामदेव की वक्रता—कुटिलता के कारण कुसुमावली ने, जो वह नही कहना चाहती थी, कहा—सखी ! क्रीडासुन्दर उद्यान मे महाराज के पुत्र कुमार सिह को देखा । लगता था, मानो रति-विर-हित कामदेव हों, रोहिणी वियोजित चन्द्र हो, मदिरा का परित्याग किये हुए वलराम हो, शची इन्द्राणी वियुक्त इन्द्र हो । वे (कुमार) तपाये हुए सोने के समान वर्ण वाले थे । उनके पैर व अंगुलियां नखो से निकलने वाली (दीप्तिमय) किरण रूपी मजरियो से युक्त थी । उनके शरीर की नाडिया (मासलता के कारण) छिपी हुई थी, पिंडलिया गठीली थी, मनोहर जघाएं मयूर (मोर) जैसी थी । उनके घुटनो के जोड (मांसलता के कारण) अन्तर्निगूढ—भीतर छिपे हुए थे, घुटनो के मस्तक (टखनिया) मछली के मुह के आकार के थे । उनके ऊरू-युगल

(साथलें) अत्यन्त सुन्दर एवं सुसंगत थे। उनके कूल्हे का घेरा विस्तीर्ण था, मध्य भाग (उदर भाग) मनोहर और पतला था। उनका वक्षःस्थल—सीना मासल और चौडा था। उनकी दोनो भुजाओ के शिखर—ऊपरी भाग ऊचे उठे हुए और गोलाकार थे, कोहनियां सुसंगत (न वडी न छोटी) थी, कलाइयां पुष्ट थी, हथेलिया घुटनो तक लटकती थी, उत्तम रेखाओ से विशेषतः शोभित थी। उनके नख लाल और पतले थे। उनके होठ सुन्दर रूप मे मिले हुए थे। उनके दात उजले, समान तथा सुसंगत (क्रमवद्ध) थे। उनके नेत्र, जिनके तीन भाग लालिमा लिये हुए थे, दीर्घ और विशाल थे, नासिका उन्नत थी, ललाट चौड़ा था, कान सुसगत या सुरचित (न छोटे, न वडे) थे, केश काले, चिकने व घुंघराले थे, देह पर चन्दन का लेप किया हुआ था। वे निर्मल—स्वच्छ रेशमी वस्त्र धारण किये हुए थे, उनका गला वड़े वडे मोतियों की माला से सुशोभित था, मस्तक उज्ज्वल चूडा-रत्न (मस्तक पर धारण करने के रत्न-विशेप या रत्नमय आभूषण) से अलकृत—सजा हुआ था। अधिक क्या कहूँ, मानो वे रूप के रूप, लावण्य के लावण्य, सौन्दर्य के सौन्दर्य, यौवन के यौवन तथा मनोहरो के मनोहर थे।

मदनलेखा, जो कुसुमावली के चित्त की विकृत—परिवर्तित अवस्था का अन्य कारण समझ चुकी थी, सोचने लगी—स्वामिनी में जो अनुराग उत्पन्न हुआ है, वह उचित स्थान पर ही है (उपयुक्त व्यक्ति के प्रति ही है)। अथवा लक्ष्मी कमलाकर—कमलो से भरे सरोवर को छोड कर अन्यत्र शोभित नही होती। भगवान् कामदेव के लिए रति की तरह (राजकुमार के लिए) कुसुमावली को छोड कर दूसरी कोई स्त्री उपयुक्त नही है। यो चिन्तन कर उसने कहा—स्वामिनी! वह राजकुमार अपने गुणो से सुन्दर—सुशोभित है। देवी (आपकी माता) द्वारा भेजे जाने पर मैंने राजा (आपके पिताजी) के साथ आर्य सुबुद्धि को सलाह करते हुए सुना। यदि वैसा हुआ तो रति-सहित कामदेव की तरह वे (आपसे सयुक्त राजकुमार) सुन्दर स्थिति मे होगे। कुसुमावली ने कहा—तुमने क्या सुना? वह वोली—मैंने इस प्रकार सुना—आर्य सुवुद्धि कहने लगे—राजन्! सिंहकुमार के लिये महाराज पुरुपदत्त का कुसुमावली को प्राप्त करने की ओर विशेप आकर्पण है। इस सम्वन्ध में उन्होंने (महाराज ने) मुझे (सुवुद्धि को) दृढतापूर्वक कहा है कि तुम्हे वैसा ही करना चाहिये, जिससे कुसुमावली का कुमार-सिंह से सम्बन्ध हो जाए (सुवुद्धि ने कहा—) राजन्! उसे (कुमार-

सिंह को) छोड कर कुसुमावली के लिये दूसरा कोई भी (वर) उपयुक्त नही है ।

लज्जा और हर्ष से युक्त कुसुमावली एक वर्णनातीत अवस्था का अनुभव करती हुई, वनावटी क्रोध-प्रदर्शन रूपी कलक से अपने को चन्द्र-सदृश वदन वाली सिद्ध करती हुई बोली—असम्बद्ध-बिना सम्बन्ध या सदर्भ का प्रलाप करने वाली सखी ! क्या वकती हो ? मदनलेखा ने कहा—स्वामिनी ! यहा मेरे कथन मे असम्बद्ध क्या है ? क्या मानसरोवर मे निवास करने वाली राजहसी उत्तम राजहस के लिये अनुचित है ?

अस्तु—उस वार्तालाप के बीच राजा ने कहा—सुबुद्धि ! महाराज तो मेरे प्राणो के भी स्वामी हैं । इस पर सुबुद्धि ने कहा—राजन् ! यह उचित ही है । (कुसुमावली व मदनलेखा) यों गुप्त मत्रणा कर रही थी कि इतने मे उद्यान-पालिका पल्लविका नामक दासी आ गई । उसने कुसुमावली को विज्ञापित-निवेदित किया—स्वामिनी ! रानी की आज्ञा है कि महल के ऊपरी भाग (प्रकोष्ठ) मे चलें । देव (राजा) ने आदेश किया है कि महल के वगीचे को विशेप रूप से सुन्दरतापूर्वक सजाओ । महाराज के पुत्र सिंहकुमार यहा आने वाले हैं । तब यह सुनकर "जैसी देवी-माता जी की आज्ञा" यो कहकर वह प्रसन्नतापूर्वक दन्तवलभिका मे चली गई । इधर महल का उद्यान सजाया गया । तब आदरपूर्वक आमत्रित कर कुसुमावली की दर्शन-उत्कण्ठा से मानो अभिप्रेत-इष्ट-आगमन की तरह कुमार वहा लाये गये । भोजन आदि द्वारा उनका सत्कार किया गया । उसके बाद कुमार महल के बगीचे मे प्रविष्ट हुए । उन्होने पालतू मैनाओ के शब्द से गुंजित अगूर की बेलो का मंडप, नये दूल्हे की तरह लाल-पत्र रूपी वस्त्रो से सुशोभित अशोक-वृक्षो का समूह, चंचल राजहसो द्वारा हिलाये जाते कमलो वाले-महल की वावड़ी मे स्थित कमल-वन-खड, कोयलो के अति मधुर कूजन से शब्दायमान आम के वृक्षो के समूह, फूलो का मकरन्द पीने से प्रसन्न होकर मडराने वाले भौंरो की पंक्ति से छाया हुआ माधवी-लताओ का मडप, पान की वेलो के समूह से आलिङ्गित-घिरे हुए सुपारी के पेडो का समूह, जिसके सुगन्धित मकरन्द से दिशाए सुवासित थी, वैसे केशर के पौधो का समूह तथा सुहावनी हवा द्वारा हिलाया जाता कदली-गृह-केले के पेड़ो का झुरमुट देखा । वे माधवी-लता के मण्डप मे स्थित हुए ।

इस बीच मदनलेखा ने कुसुमावली से कहा—स्वामिनी ! उच्च पुरुषो का सम्बन्ध सुजन-भाव-सज्जनता के कारण पहले से चला आता जैसा होता है। वह उचित वार्तालाप, पुष्प, ताम्बूल की भेट द्वारा व्यक्त होता है। इसलिये उनके शरीर के कुशल-समाचार पूछते हुए, इस समय अपने हाथ से लगाई गई प्रियगुलता की कलियो का कर्ण-भूषण, कोमल नाग-केसर के पत्र से युक्त पान, नये उत्पन्न हुए कक्कोलक फल, अपनी कला-कुशलता की सूचक कोई आश्चर्यजनक वस्तु—इस प्रकार सम्भावना से भी अधिक उपहार भेजे। कुसुमावली ने कहा—प्रिय सखी ! जो तुम्हे उचित लगता है, वह तुम ही सम्पादित करो। तब मदनलेखा रगो की पेटी और चित्रवर्तिका—चित्र के लिये अपेक्षित समेटा हुआ वस्त्र आदि लाकर कुसुमावली से बोली—स्वामिनी ! कुमार को चित्रो का शौक है। अत अपने अनुरूप राजहस से विरहित, उसके दर्शन के लिये उत्कण्ठित राजहसी का चित्र बनाओ। मदनलेखा का अभिप्राय जानकर कुछ मुस्कराते हुए उसने, जैसा बतलाया गया था, राजहसी का चित्र बनाया। मदनलेखा ने उस (कुसुमावली) की अवस्था का सूचक यह द्विपदी छन्द लिखा—

अभिनव प्रेम से अत्यधिक उत्कण्ठित, उदास मुख से युक्त, रसयुक्त कमल तन्तुओ को खाने मे भी रुचि रहित, दक्षिण के वायु से कंपाये गये कमलो के घर—तालाब की ओर भी जो दृष्टि नही डालती, वह राजहसो अपने प्रियतम से मिलने के लिये क्यो नही बेचैन हो ?

तब चित्रवर्तिका तथा पूर्व-वर्णित उपहार सामग्री लेकर मदनलेखा माधवी लता-मंडप मे गई। अपने सेवको से जानकर कि यह कुसुमावली की प्रिय-सखी है, राजकुमार ने उसका आदरपूर्वक सम्मान किया। तब उसने राजकुमार के दोनो चरणो में ससम्मान प्रणाम कर कहा—"महाराज-पुत्र ! आपको चित्र (चित्त) से अनुराग है अत: चित्रानुरागिणी (चित्तानुरागिणी) राजकुमारी कुसुमावली ने मुझे आपके कुशल-समाचार पूछने भेजा है। अपने हाथ से लगाये जाने से विशेष अनुराग-पूर्वक यह नई पैदा हुई प्रियगुलता की कली (प्रियगुलता की कलियो का कर्णभूषण) अपनी नाग वल्ली मे उत्पन्न अतएव महत्त्वपूर्ण ताम्बूल (पान), नये नये उत्पन्न कक्कोलक फल, ये इष्ट विशिष्ट-अपने विशेष स्नेही जनो को भेंट किये जाते हैं, अत. आप ही इन के योग्य हैं—यो कह कर मेरी स्वामिनी ने ये भेजे है, यह राजहसी भी आपके

दर्शन का सुख प्राप्त करे—मदनलेखा ने यों कह वे उपहार भेट कर दिये । राजकुमार ने हर्षपूर्वक उन्हे ग्रहण कर, कुछ-कुछ लज्जा त्यागते हुए प्रियगु की कली कान पर धारण की, ताम्बूल ग्रहण किया, अत्यत हर्षपूर्वक राजहसी को देखा, उस (राजकुमारी) की अवस्था का सूचक द्विपदी छद पढा । तव पान खाने से भरे हुए मुह तथा काम-विकार के कारण लडखडाती, विषम-असमान, मधुर अक्षरयुक्त वाणी मे उसने कहा—उस (राजकुमारी) की चित्र वनाने की कला आश्चर्यकर है । देखने से ही अवस्था का भान हो रहा है, फिर केवल पुनरुक्ति का उपस्थान करने वाले द्विपदी छद से अवस्था के सूचन की क्या आवश्यकता थी ? मदनलेखा ने कहा—महाराज-पुत्र ! स्वामिनी ने यह सूचित नही किया है किन्तु यह चित्र देख कर मैंने यह छद-रचना की है । कुमार ने कहा—पहले चित्राकन देखकर फिर सहृदय जनो की अवस्था का अनुवाद-प्रस्तुतीकरण उचित ही है । उसने पत्तो पर (अक्षर या चित्र आदि) खोदने की कर्तरी (लोहे की कलम) मागी । नागवल्ली के पत्ते पर राजहसी की अवस्था के अनुरूप सुन्दर राजहस का चित्र तथा अपने हृदय के भावो को व्यक्त करने वाली गाथा स्पष्ट अक्षरो मे अकित की—

यह राजहस ऐसा सोचकर कि मर जाने से प्रिया की प्राप्ति नही होगी, किसी तरह कष्ट-पूर्वक अनुकूल निमित्त की आशा से प्राणो को धारण करता है ।

राजकुमार ने अपने गले से तीनो समुद्रो के सारभूत मोतियों की माला निकालकर उसे पुरस्कार के रूप मे प्रदान की तथा नागवल्ली का पत्र समर्पित किया । कुछ हसकर उसने कहा—तुम कुसुमावली से कहना—हमारा दृढ चित्रानुराग (चित्तानुराग) है, यह तुमने जान लिया है और तुम्हारा चित्र-कौशल (चित्त-कौशल) हमने भी जान लिया है । अत फिर इस चित्रानुरागी (चित्तानुरागी) जन को अपने चित्र-कौशल (चित्त-कौशल) की विशेपता से आनन्दित करोगी । तव "जैसी महाराज—पुत्र की आज्ञा"—यो कहकर प्रणामपूर्वक मदनलेखा वहा से चली । कुसुमावली के पास आई, जैसा घटित हुआ, वैसा वृत्तात कह सुनाया । नागवल्ली-पत्र समर्पित किया । कुसुमावली ने सुन्दर राजहंस देखा, गाथा को पढा, उसके हृदय मे परितोप हुआ ।

काम-वाण की लपेट मे पडे हुए लोगो के मन को आनन्दित करने वाले विद्याधरी-चक्रवाक-भ्रमर प्रभृति चित्र प्रयोगो के प्रेपण—

आदान-प्रदान से प्रतिदिन उनका परस्पर अनुराग बढता गया । कुछ दिन व्यतीत हुए । तव महाराज पुस्पदत्त की मांग को महत्त्व देते हुए राजा लक्ष्मीकात ने कुमारसिंह के लिये कुसुमावली को देना स्वीकार किया । प्रियंकरिका ने कुसुमावली को यह निवेदित किया—

"सुन्दरी ! सिंहकुमार को तुम देदी गई हो"—यो कहे जाने पर कुसुमावली अत्यन्त पुलकित हो गई और उसके अगो मे जैसे काम व्याप्त था, उसी तरह परितोष व्याप्त हो गया ।

इसी वीच दोनो राजाओ की ओर से वधाई का समारोह आयोजित किया गया, जिसमे याचको को उनकी इच्छा से भी अधिक द्रव्य दान दिया गया ! वजते हुए मंगल-वाद्यो की ध्वनि दिशा-मंडल मे व्याप्त हो गई, नृत्य करती वेश्याओ का समूह जिसकी शोभा वढ़ा रहा था तथा जो सभी लोगो के मन के लिये आनन्दप्रद था ।

उन दोनो (राजाओ) ने विवाह का शुभ मुहूर्त निकलवाया—पुन: याचको के लिए इच्छानुरूप विपुल (अत्यधिक) दान की घोपणा की । विवाह का शुभ दिन आया । कुसुमावली उवटन के मूहूर्त्त पर पारिवारिक युवतियो के साथ चतुष्कोण रङ्गमडप में उपस्थित हुई । जिस पर मनोहर रेशमी वस्त्र विछाया हुआ था, ऐसे सुन्दर आराम-देह आसन (तकियेदार आराम कुर्सी) पर उसे विठाया गया । मणियों से वने निर्मल-पट्ट पर उसके पैर रखवाये गये, जो (मणि-पट्टक) चरणो के प्रतिविम्वित रंग से सुशोभित था, मानो चरणो के स्पर्श से सुख का अनुभव कर रस मे लीन था । राजकुमारी के नखो की किरणो के कारण जिसे वहां जल के होने की शका हुई, उस नाई ने उसके पैर धोकर पवित्र नख-कर्म किया—उत्तम नख-प्रसाधन किया । राज-कुमारी लाल वस्त्र पहने थी, जिससे उसका मुख-रूपी कमल और अधिक खिल रहा था—सुशोभित हो रहा था । सूर्य के आगमन के निकट होने से (सूर्योदय की वेला मे) जिस प्रकार पूर्व-दिशा रूपी वधू लाल हो जाती है, वह (राजकुमारी) वैसी ही लगती थी । हाथो मे दूव के अंकुर, दही व अक्षत-चावल लिये हुए, लाल वस्त्र पहने हुए सधवा स्त्रियो ने राजकुमारी के यथाविधि उवटन किया (सुगन्धित द्रव्यो की पीठी देह पर मली) । पुप्प एवं फल युक्त सोने के कलशो से उसे भली भांति स्नान कराया । पविश्र वस्त्र से उसके अगो को पोछा । अत्यन्त परितोप के कारण पुलकित गुरुजनो ने उसके सव औषधियो

की सुगन्धि से सुवासित सघन केशों से युक्त मस्तक पर चावल छोडे। तब उस चन्द्रवदनी (राजकुमारी) को उन्होने (सधवा युवतियो ने) सजाना शुरु किया। सबसे पहले लाक्षारस से उसके पैरो को सुन्दर किया—महावर लगाया। उसकी जघो पर यथा मासल-पुष्ट स्तनरूपी दो कलशो पर अपनी कान्ति से दीप्त केसर के रग से चित्राकन किया चित्रण किया। केसर-मिश्रित चन्दन के घोल से उसके मुख रूपी कमल को स्वच्छ किया। काम प्रभावित प्रियतम की तरह उसके होठ को अनुराग (रग, प्रियतम के सन्दर्भ मे प्रेम) युक्त किया—होठो पर लाल रग लगाया। राजकुमारी के दोनो नेत्रो मे जो नई—आती हुई शरद् ऋतु मे खिले हुये कमल के पत्ते की सी आभा और रग लिये हुये थे, चमक रहे थे, काजल डाला। (कुसुमावली) जो वसन्त लक्ष्मी सी प्रतीत होती थी, उसके मुख (ललाट) पर सुन्दर तिलक (कुसुमावली के पक्ष मे तिलक, वसन्त-लक्ष्मी के पक्ष मे तिलक वृक्ष) लगाया, जो ऊपर कढ़े हुए बालो की पक्ति रूपी भौरो की कतार से सेवित—शोभित था। उसके पैरो मे रत्नो से निर्मित सुन्दर नूपुर पहनाये, जिनकी सुन्दर ध्वनि से महल की बावडी के राजहस आकृष्ट थे। जिनके (अंगुलियो के) नख रूपी चन्द्र की किरणो से घिर जाने के कारण रत्नमय नगीनो की शोभा दुगुनी हो गई थी, ऐसी अगुलियो मे अगू-ठिया पहनाई। उसके विशाल नितम्व भाग पर उज्ज्वल मणियो से निर्मित करधनी बाधी—पहनाई, मानो उसके मिष से (उसके) प्रिय-तम का हृदय बाध दिया गया हो। वह करधनी ऐसी लगती थी, मानो कामक्रीडा के उत्सव का सुन्दर वाद्य हो। उसकी भुजा रूपी लताओ के मूल मे बाहु-मालाए (भुजाओ मे धारण करने की मालाए) लगाई गईं, जो लोगो के मन को चुराने वाली थी तथा ऐसी प्रतीत होती थी, मानो कामदेव को बाधे रखने का पाश या फंदा हो।

पुष्ट स्तनो पर मानिक के नगीनो से जडा हुआ प्लवङ्ग-बन्ध (स्तन बाधने व आच्छादित करने का विशेष उपकरण) बाधा गया, जो नितम्व भाग तक सलग्न था—लटकता था। उसे मोतियो का हार पहनाया, जिसमे स्तनो से सम्बद्ध और सस्पृष्ट (छुये हुए) रहने के कारण मानो कामासक्ति उत्पन्न हो गई हो, इसलिए जो मानो गले से लटकता हुआ उसके अधोवस्त्र की गाठ को छूने लगा हो। गले मे स्वच्छ मोतियो का आभरण (कण्ठी रूप अलंकरण) बांधा-पहनाया। कुंकुम से रँगे कानो मे रत्नो के कुण्डल पहनाये। सफेद और तिरछी कढ़ी हुई कपूर

की रेखा, जो प्रदोप-लक्ष्मी-सन्ध्या की शोभा सी लगती थी, से उसका सौभाग्यशाली मुख उद्योतित हो रहा था—चमक रहा था । सघन, काले, घुंघराले, सुन्दर बालों से सुशोभित मस्तक पर चूडा-रत्न लगाया । मुझे छोड कर पहले इस कुसुमावली को देखते हैं, मानो इस ईर्ष्या से रत्नो की आभा उसके सारे अगो मे व्याप्त हो गई (ताकि पहले वह देखी जा सके) ।

इस प्रकार इधर कुसुमावली को विभूषित किया जा रहा था, उधर सजाने मे चतुर वेश्याओ द्वारा सिंह कुमार को सजाया गया । ऐसा होने पर ज्योतिष शास्त्र के रहस्य को जानने वाले ज्योतिषियों ने खूटी गाडकर उसकी छाया से ठीक समय निश्चित कर राजा से निवेदन किया कि हस्तग्रहण-हथलेवे का उत्तम मुहूर्त्त सन्निकट (नजदीक) है । तब राजा द्वारा आज्ञप्त सेवको ने सिंह कुमार को सूचित किया । बजाये जाते मांगलिक वाद्यो के शब्द से दिशाएं भरने लगी । मन को हरने वाले नाच-गान मे प्रवीण रनवास की सुन्दरियो द्वारा राज-मार्ग अवरुद्ध होने लगा । वायु द्वारा नचाई जाती-हिलाई जाती ध्वजाओ से सुन्दर लगने वाले, उत्तम रथो पर चढ़े हुए राजपुरुषो द्वारा घिरा हुआ, सफेद, सुसज्जित उत्तम हाथी पर बैठा हुआ, वसन्त और शरत् से सगत कामदेव की तरह मृगाङ्कसेन और अमरसेन नामक कुमारो द्वारा सेवित, महलो की छतो पर स्थित नगर की सुन्दर नारियों द्वारा उत्कण्ठा-पूर्वक देखा जाता हुआ राजकुमार सिंह उल्लास के साथ विवाहमण्डप मे आया । विशेष उजले वस्त्र पहने हुए, उपहार-सत्कार की सामग्री लिए हुए, अम्बाजन—सम्मान्य भद्र महिलाओ ने उसे रोका और आचारिमक (विवाह के अवसर पर दिया जाने वाला एक विशेष दान या पुरस्कार) मांगा । राजकुमार के नेत्र हर्ष से खिले थे । उसने मांग से भी अधिक दिया । वह श्रेष्ठ हाथी से उतरा । रत्नमेखला युक्त सोने के मूसल से उसकी भृकुटि (भौं) का स्पर्श[१] किया गया । तत्पश्चात् सामने आई हुई सुन्दर स्त्रिया लोगो के समूह को रोक कर वर को मण्डप के नीचे ले गईं, जहा—

वधू, जिसका मुख सफेद, उत्तम रेशम के वस्त्र से ढका था, स्थित थी । वह (वधू) उस रात्रि जैसी लगती थी, जिसके चन्द्र की ज्योत्स्ना (चांदनी) शरद् ऋतु के बादलो से ढकी हुई हो ।

---

१. एक पुरानी लोक-प्रथा

सखियो ने वर के साथ प्रसन्नतापूर्वक अनेक प्रकार की रोक-थाम सहित कौतुक—विनोद-परिहास किये और वधू की मुखाकृति देखने का उनसे (बधाई का) उपहार मागा। राजकुमार धीरे से मुस्कराकर बोला—यह तो मेरा ही अपना कार्य है, यो कहते हुये उन्हे उपहार दिया मुख-छवि उद्घाटित की—मुख का वस्त्र हटाया। उसने राजकुमारी को देखा, जो अशोक-पत्र का कर्ण-भूषण धारण किये हुये थी, जिसका मुख-रूपी कमल कुछ-कुछ खिला था, जो सकोच और हर्ष से भरी थी तथा मनोहर के भी मनोहर—मन को हरने वाले किसी अलौकिक आनन्द-उल्लास का अनुभव कर रही थी।

गीत और मगलोपचारपूर्वक पाणिग्रहण संस्कार का कार्य प्रारंभ हुआ, जो पारस्परिक प्रेमयुक्त बान्धव-जनो के हृदय को आनन्द देने वाला था।

वर और वधू के हाथ, समय का व्यवधान न सह सकते हुए मानो पहले ही अपने निर्मल नख रूपी चन्द्र की किरणो के रूप मे परस्पर मिल चुके थे। उस (राजकुमार) ने उसे (कुसुमावली को) पहले ही अपने कोमल तथा अनुरागपूर्ण हृदय मे धारण कर बाद में उसका हाथ, जो पसीने रूपी जल से युक्त था, ग्रहण किया। हाथ ग्रहण किये हुए उसे वह, जैसे देवागना देव-विमान मे लाई जाती है, उसी तरह दूसरे मण्डप मे ले गया, जो अतीव श्रेष्ठ, विशाल एवं चौकौर था। मण्डप की दण्डिकाए—खभे, जिन पर वह टिका था, सोने के थे, जिनमे दैदीप्यमान उत्तम मानिक जड़े थे। ऊपर रेशमी चादनिया तनी थी, जिनसे मोतियो के झूमके लटक रहे थे। झूमको मे लगे पन्नो की किरणो से सफेद चंवर हरे प्रतीत हो रहे थे। सफेद चवरो के डडो-हत्थो के स्वर्ण की प्रभा से शीशे पीले दिखाई देते थे। वरपक्ष की सुन्दरियो के मुख दर्पणो मे प्रतिविम्बित थे। उन्हे देखकर वधूपक्ष के लोग परितुष्ट हो रहे थे। परितोषवश जो रोमाञ्चित थे, ऐसे वन्दी-जन (मागध, चारण आदि स्तुतिगायक) द्वारा किया गया स्तुति-गान वहा मण्डप मे सर्वत्र व्याप्त था। मण्डप मे लगी विविध प्रकार की उज्ज्वल मणिया मानो तारो का समूह था। सिह द्वार के मुख पर मानो तारो के समूह से सुशोभित निर्मल चन्द्रकला स्थित थी। वह विस्तृत श्वेत मण्डप रूपी आकाश चन्द्रकला से विद्योतित-प्रकाशित था।

रत्ननिर्मित गहनो की किरणो से जिसका शरीर दैदीप्यमान

था, वह राजकुमार दिवसनाथ-सूर्य दिवस-लक्ष्मी के साथ जिस प्रकार उदयगिरि पर अवतीर्ण होता है—उदित होता है, उसी प्रकार कुसुमावली के साथ, जो शोभामय, उज्ज्वल, सफेद रेशमी वस्त्र धारण किये हुए थी तथा जिसका मुख रूपी कमल विशेष रूप से विकसित था, चौकी पर अवस्थित हुआ। (हवन-अग्नि) के धुए के कारण वधू के (नेत्रो से निकली) आसुओ की बूदे मानो झुके हुए मुखवाली वधू को यो कहती हुई उसके चरणो मे गिरी कि वर का मुख देखो।

इस बीच लोगो का उपचार—सम्मान-सत्कार का कार्य चालू हुआ। जिनसे सुगन्ध की लपटे निकल रही थी, ऐसे विलेपन—केसर, चन्दन आदि अत्यन्त सुगन्धित पदार्थ, जिन पर भौरे गू जते थे, ऐसी पुष्प-मालाएं, अत्यन्त सुगन्धमय पदार्थो से सुगन्धित की हुई पोशाकें, कपूरयुक्त पान के बीडे, दुकूल, देवागपट्ट, चीनाशुक, अर्द्धचीनाशुक आदि श्रेष्ठ वस्त्र, बाजूबन्द, हार, कुण्डल, त्रुटित (आभरण-विशेष) आदि गहने, तुरुष्क, बाह्लीक, काम्बोज, वज्जर आदि जातियों के घोडे, भद्र, मन्द आदि विशिष्ट वशो के हाथी भेट किये गये। जिसमें घी, मधु, लाजा से आहुतिया दी जा रही थी, उस अग्नि के चारो ओर वर-वधू को घुमाना-फेरे दिलाना प्रारभ किया गया। पहले मण्डल-फेरे के उपलक्ष्य मे वधू के पिता ने प्रसन्न होते हुए बिना घडे हुए एक लाख स्वर्ण भार (एक पुराना माप, तदनुसार १६माशे=१ पल, २००० पल=१ भार), दूसरे फेरे मे हार, कुण्डल, कटिसूत्र (करधनी), त्रुटित आदि आभूषण, तीसरे मे थाल, प्याले, आदि चादी के बर्तन तथा चौथे मे (वधू के पिता ने, जो परितोष से पुलकित था) सुन्दर, बहुमूल्य नाना प्रकार के वस्त्र दिये।

राजा पुरुषदत्त ने भी अपने वैभव (धन-सम्पदा) के अनुरूप अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक लोगो का आदर सत्कार किया और अपनी पुत्र-वधू को उज्ज्वल मणि, रत्न, हीरे और मोतियो से युक्त, अमूल्य—जिनका कोई मूल्य कू ता न जा सके, आभूषण उपहार मे दिए।

यो विवाह-महोत्सव सम्पन्न हो गया। काल-क्रम से—बीतते जाते समय के साथ साथ सिंह और कुसुमावली का अनुराग उत्तरोत्तर बढता गया। लोगों द्वारा इच्छित विषय-सुख का अनुभव करते हुए उनके अनेक लाख वर्ष व्यतीत हो गये। एक दिन घोडे की सवारी पर निकलते हुए कुमार सिंह ने नागदेवोद्यान मे अत्यन्त प्रासुक-निर्जीव-

शुद्ध स्थान मे अनेक साधुओ से घिरे हुए, क्षमा, मृदुता, ऋजुता, मुक्ति, तप, सयम, सत्य, शौच, अकिञ्चनता, ब्रह्मचर्यरूप गुणो के निधान, प्रथम यौवन (चढती जवानी) मे स्थित, रूप आदि विशेषताओ से युक्त, सम्पूर्ण बारह अंगो के धारक, अपने शिष्यो को सूत्र का अर्थ कहते हुए धर्मघोष नामक आचार्य के दर्शन किये । उन्हे देखते ही उनके प्रति उसके मन मे वहुत आदर उत्पन्न हुआ । वह सोचने लगा—सचमुच ये धन्य हैं, जो ससार से विरक्त है, सब प्रकार के सग-आसक्तियो को त्यागने वाले है तथा महान् परोपकार (जन-जन के उद्धार के कार्य) मे लगे हैं । अत. इनके पास जाकर पूछूं कि आप काम-भोग की सुन्दर वेला-यौवन मे स्थित है—युवा हैं, फिर वैराग्य का क्या कारण है तथा दु खपूर्ण ससार का वास्तविक स्वरूप क्या है ? अत. वह राजकुमार दूर से ही अपने उच्च जाति के वोल्लाह देशोत्पन्न बछेरे से उतर कर उनके पास गया । धर्मघोष को प्रणाम किया । भगवान् (धर्मघोष) ने धर्म-अहिंसा-दया का लाभ देकर उसका अभिनन्दन किया । तदन्तर वह बाकी के साधुओ को भक्ति-पूर्वक वन्दन करके गुरु के चरणो में, जो स्वभावत सुन्दर थे, बैठ गया । मुमुक्षुभाव से अनुप्राणित होते हुए उसने भगवान् धर्मघोष से पूछा—सर्वगुणसम्पन्न तथा सव प्रकार की सम्पत्ति के आश्रय-सम्पत्तिशाली-आपको ऐसा वैराग्य कैसे हुआ ? जिससे आपने असमय मे ही श्रमण-जीवन स्वीकार कर लिया । तव भगवान ने कहा—हे महाश्रावक ! श्रामण्य-श्रमण-जीवन स्वीकार करने का यह असमय नही है । सुरो और असुरो को जीतने वाला, समस्त मनोरथ रूपी पर्वत के लिए (इन्द्र के) वज्र तुल्य, प्रियजनों के वियोग का मुख्य हेतु, ज्ञानीजनो मे मोक्षाभिलाषा वढाने वाला मरण क्या असमय मे ही अपना प्रभाव नही दिखलाता-मार नही डालता ? हे महाश्रावक ! दूसरी वात यह है—यदि शुभ भाव से अन्तिम समय-वृद्धावस्था मे धर्म का आचरण किया जाता है तो प्रथम काल मे—युवावस्था मे भी उसका सेवन करना क्या अनुचित नही है ? राजा ने कहा—भगवन् ! अनुचित तो नही है, परन्तु वैराग्य विना कारण के नही होता । अतः उसका कारण पूछना चाहता हूँ। भगवान् ने कहा—वैसे तो यह ससार ही वैराग्य का कारण है । पर अवधि-ज्ञानी द्वारा अपने चरित—जीवन-वृत्तान्त का कहा जाना इसका विशेष रूप से कारण है। राजा ने कहा—भगवन् ! अवधि-ज्ञानी द्वारा किस प्रकार अपना चरित कहा गया ? भगवान् ने कहा—सुनो—इसी देश मे राजपुर नामक नगर

है। मैं वहां का निवासी था। ससार के स्वरूप से (ससार-स्वरूप के भान से) ही उस ओर मेरे चित्त मे विरक्ति थी। संयोग ऐसा बना—अनेक साधुओ के स्वामी—अधिपति, थोडे ही दिन हुए जिन्हे अवधिज्ञान प्राप्त हुआ था, अत जो पुण्य और पाप को यथावत् रूप मे जान चुके थे, अमरगुप्त नामक आचार्य वहा आये। लोगो मे यह बात फैली—अहो! ये महान् तपस्वी हैं। इन्होने (मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कपाय एव अशुभ योग-रूप) आस्रव-द्वार का क्षय कर दिया है, इनके अवधिज्ञानरूपी नेत्र उत्पन्न हो गया है। धर्म का सच्चा स्वरूप उपदिष्ट करने की लब्धि-विशेप क्षमता इन्हे प्राप्त है। तव उस नगर का अधिपति अरिमर्दन नामक राजा और वहा के नागरिक उनके दर्शन के लिए रवाना हुए। उनके चरणो मे उपस्थित हुए। राजा और नागरिको ने भगवान् की वन्दना की। भगवान् ने धर्म-अहिंसा-दया के लाभ द्वारा राजा और नागरिको का अभिनन्दन किया। गुरु के वचन का अत्यधिक आदर करते हुए (उसे वहुमूल्य समझते हुए) राजा और नागरिक प्रासुक-जीव रहित, शुद्ध भूमि पर वैठ गये। राजा ने आचार्य से उनके विहार के सम्वन्ध मे पूछा (आपका विहार सुखपूर्वक हुआ) आचार्य ने उन्हे अनुशासित किया—उत्तर दिया। राजा ने कहा—भगवन्! आपको भूत, भविष्य एव वर्तमान वस्तु स्थिति को ग्रहण कराने वाला—जानने वाला अवधि-ज्ञान प्राप्त है। इसलिये मेरे पर कृपा कर अपने चरित का आख्यान कथन करें। कव और कैसे आपने शाश्वत सुख-मोक्ष रूपी वृक्ष का एक मात्र वीज सम्यक्त्व, देश-विरति (आंशिक त्याग-श्रावक धर्म) व इस जन्म मे या अन्य जन्मो मे श्रमण-धर्म प्राप्त किया। भगवान् ने कहा—सुनो इसी देश मे चम्पावास नामक नगर है। वहा भूतकाल मे सुधन्वा नामक धनाढ्य गृहस्थ था। उसके धनश्री नामक पत्नी थी। मैं उनकी सोमा नामक पुत्री थी। युवती होने पर उस नगर मे रहने वाले नन्द सार्थवाह (भ्रमणशील व्यापारियो के समूह या काफिले के मुखिया) के पुत्र रुद्रदेव को मैं दी गई (मेरा वाग्दान-सगाई की गई) फिर उसके साथ मेरा विवाह हुआ। अपने (वैभव-सम्पत्ति के) अनुरूप हम सांसारिक सुख भोगते रहे। एक समय अपने कल्प—मर्यादा के अनुसार विहार करती हुई वालचन्द्रिका नामक गणिनी, अनेक प्रकार की तपस्याओ के कारण जिनका शरीर दुवला था, जो शास्त्र-ज्ञान रूपी रत्न से विभूपित थीं, मानो धर्म शासन की साक्षात् देवी थी, वहा आई। ससुराल मे पीहर जाते समय मैंने उन्हे विहार

करते हुए देखा। उनके दर्शन कर मैं प्रमुदित हुई, मेरे नेत्र विकसित हो उठे, पाप नष्ट हो गया, अग पुलकित हो गए, मेरा धर्मानुशासी चित्त खिल उठा। तव मैंने अतिदूर न होते हुए—पास जाकर विनयपूर्वक हाथ जोड़कर अत्यन्त आदर के साथ भगवती बालचन्द्रिका को वन्दन किया। उन्होने मुझे सब सुखो का वीजभूत--मूलकारण धर्म-अहिंसा दया का लाभ दिया। मुझमे उनके प्रति अत्यन्त भक्ति और प्रीति का भाव उत्पन्न हुआ। मैंने उनके ठहरने का स्थान पूछा। साध्वियो ने वतलाया। तव मैं यथोचित विधि से उनकी पर्युपासना—सान्निध्य-लाभ करने लगो। उन्होने मुझे कर्मरूपी वन के लिए दवाग्नि, दु खरूपी पर्वत के लिए वज्र, मोक्ष-सुख के लिए कल्प-वृक्ष के समान, वीतराग प्रतिपादित धर्म का उपदेश दिया। तव कर्मो के क्षयोपशम-भाव से मैंने सम्यक्त्व प्राप्त किया, जिन-प्ररूपित धर्म से अनुभावित हुआ तथा संसार रूपी कारागृह से मेरा चित्त विरक्त हो गया। इस पर वह रुद्रदेव कर्म-दोष से मुझ से प्रद्वेष-अत्यधिक द्वेष करने लगा। उसने कहा—सासारिक सुखो मे विघ्न करने वाले इस धर्म का परित्याग कर दो। तव मैंने कहा सांसारिक भोग वृथा है। जीव-लोक की स्थिति अत्यन्त चञ्चल है। भोगो मे प्रमत्त रहने का—अधाधु ध फसे रहने का परिणाम भयकर है। उसने कहा—तुम्हे धोखा हुआ है (तुम्हे वहकाया गया है)। दृष्ट प्रत्यक्ष का परित्याग कर अदृष्ट-अप्रत्यक्ष-परोक्ष मे अनुरक्त मत वनो। मैंने कहा—यहा इसमे (सासारिक भोगो मे) दृष्ट (यथार्थत.) प्रत्यक्ष क्या है ? ये सांसारिक भोग वैसे ही हैं, जैसे पशुओ के। धर्म का (यथार्थ) सुखात्मक फल प्रत्यक्ष उपलभ्यमान—प्राप्त है, वह अदृष्ट कैसे है ? उसे इस प्रकार वहुत कहे जाने से अत्यधिक द्वेप हो गया। उसने मेरे साथ विपय-सेवन छोड दिया। उसने नागदेव सार्थवाह की नागश्री नामक की कन्या की (अपने साथ-विवाह के लिए) माग की। मेरे पिता का विशेप आदर करने वाले नागदेव सार्थवाह ने उसे स्वीकार नही किया। रुद्रदेव सोचने लगा—इसके (मेरे) जीवित रहते मैं इस (नागश्री नामक) लडकी को नही पा सकता, इसलिये इसकी हत्या करूं। तव उस छली ने किसी प्रकार एक विषैले साप को घडे मे डाल कर, घडा एक ओर रख दिया। सन्ध्या का समय वीत जाने पर तथा कामिनियो के सहवास-समय के आने पर उसने मुझे कहा—इस नये घड़े मे से मेरे पास पुष्प-माला लाओ। मै उसके कपट को न जानता हुआ घडे के पास गया।

मैंने उसका ढक्कन हटाया, जब भीतर हाथ डाला तो उसमें साप आ गया। उसने मुझे डस लिया। तब शीघ्र मैंने उसे फेका। मेरा शरीर डर से कापने लगा। मैं उस (रुद्रदेव) के पास आया, मैंने उसे कहा कि मुझे साप ने काट लिया है। वह कपटी (यह सुनकर) बनावटी रूप मे आकुल हो गया, वह वृथा शोर करने लगा। इतने मे मेरे अग सुन्न होने लगे, शरीर की सधिया (जोड) शिथिल होने लगी। हृदय उखडने लगा। मुझे ऐसा लगने लगा, मानो महल घूम रहा है पृथ्वी उलट रही है। मैं विवश-निश्चेष्ट होकर गिर पडा। इसके बाद न कहे जा सकने योग्य अवस्था को प्राप्त कर देह त्याग कर पहले (अधिगत) सम्यक्त्व के प्रभाव से मैं सौधर्मकल्प के अन्तर्गत लीलावतस नामक श्रेष्ठ विमान मे एक पल्योपम स्थिति वाला देव हुआ। वहां श्रेष्ठ अप्सराओ से युक्त मैं दिव्य भोग भोगने लगा। इधर रुद्रदेव नागदत्त सार्थवाह की कन्या के साथ विवाह कर उसके साथ अनुरूप विषय-सुख भोग कर तथासमय मृत्यु प्राप्त कर रत्नप्रभा नामक (नारकीय) पृथ्वी मे खट्टक्खड नामक नरक मे एक पल्योपम आयुवाले नारक के रूप मे उत्पन्न हुआ। तब मैं (देवलोक मे) अपना आयुष्य समाप्त कर वहां से च्युत हुआ-पृथक् हुआ, इसी देश मे सुंसुमार नामक वन के अन्तर्गत सुंसुमार नामक पर्वत पर हाथी के रूप मे उत्पन्न हुआ, कलभ-शिशु रूप मे बढने लगा। इसी बीच दूसरा भी नरकवास पूरा कर उसी पर्वत पर एक तोते के रूप मे उत्पन्न हुआ। मेरा बचपन व्यतीत हुआ। उस (तोते) ने मुझे उसी पर्वत पर स्वभावतः सुन्दर नलिनी—वनों मे हथनियो सहित प्रसन्नतापूर्वक घूमते हुए देखा। मुझे देखकर पूर्व-जन्म के उत्कट तीव्र कर्मोदय के कारण उसका मुझ पर वैर-भाव उत्पन्न हुआ। वह सोचने लगा—इस हाथी को कैसे इन भोग-सुखो से वचित किया जाए ? वह उपाय खोजने लगा।

इसी बीच एक दिन लीलारति नामक विद्याधर, मृगांकसेन नामक विद्याधर की चन्द्रलेखा नामक बहिन का अपहरण कर, उस (मृगाकसेन) के भय से उस स्थान पर आया। उसने उस तोते से कहा—मैं इस पर्वत के लतासमूह मे रुकता हूँ। यहा एक विद्याधर आयेगा, तब तुम उसे मेरे बाबत मत कहना। वह चला जाए, तब मुझे बतला देना। मैं भी तुम्हारा उसके बदले मे कुछ उपकार करूंगा। तोते द्वारा ऐसा स्वीकार किये जाने पर वह विद्याधर "तुम मेरे अच्छे उपकारी हो"—ऐसा कहकर एक भयानक ढालू स्थान मे स्थित पर्वत के लता—

समूह मे चला गया ।

जव तक मृगांकसेन आकर चला गया, वह तोता भी उसी जगह नारगी के पेड की डाली पर अपने घोसले मे रुका रहा । इसी वीच हथनियो से घिरा मै उस जगह आया । तव तोते ने मुझे देखकर सोचा यह मेरे इच्छित कार्य की पूर्ति का समय है । उस मायावी ने अपनी स्त्री के साथ सलाहकर मुझे सुनाते हुए कहा—सुन्दरी ! मैंने भगवान् वशिष्ठ महर्षि से सुना है—इस सुंसुमार पर्वत से (एक स्थान विशेष से) गिरने से सव कामनाए पूरी होती है । जो कोई जैसी अभिलाषा करके गिरता है, वह उसी क्षण वैसा प्राप्त कर लेता है । तव मैंने पूछा—भगवन् ! वह स्थान कौनसा है ? उन्होने वताया कि इस शाल के वृक्ष के वाई ओर । इसलिये यह तिर्यक्-भाव-पक्षी का जीवन व्यर्थ है । आओ, विद्याधर वनने का ध्यान करके वहां से गिरे। उसकी पत्नी ने यह स्वीकार किया । वे दोनो उस स्थान पर गये, ध्यान किया, पर्वत के उस स्थान से गिरे । लीलारति को कहा हुआ था ही । इसलिए वह (लीलारति) चन्द्रलेखा के साथ आकाश को सुशोभित करता हुआ उडकर आया । हमने उसे देखा । मैं सोचने लगा-अरे ! यह सर्व-कामप्रद-सव इच्छाओ को पूरा करने वाले पतन का प्रभाव है । जिससे यह शुक-दम्पति, जिन्होने विद्याधर वनने की कामना की, यहा से गिरकर उसी क्षण विद्याधर दम्पति के रूप मे परिवर्तित हो गये । इसलिये हम भी पशु के रूप मे क्यो रहे । देव होने का ध्यान कर हम भी यहा से गिरे । यो निश्चय कर, वैसी (देवरूप मे परिवर्तित होने की) भावना (ध्यान) कर हम दोनो वहा से गिरे ।

इस वीच वह तोतो का जोडा उड़ गया । हमने नही देखा। (गिरने से) मेरे अग और उपांग चूर-चूर हो गये । मै क्लेश का अनुभव करते हुआ अकाम-निर्जरा से कर्मक्षय कर कुसुमुशेखर नामक व्यन्तर-भूमि के नगर मे कुछ कम पल्योपम आयुवाले व्यन्तर देव के रूप मे उत्पन्न हुआ । वहां मैं प्रचुर भोग भोगता था । उस वीच वह दूसरा भी तोते के रूप मे मरकर रत्नप्रभा नामक पृथ्वी मे लोहितमुख नामक नरक मे कुछ कम पल्योपम आयु वाले नरक के रूप मे, उत्पन्न हुआ । मैं अपना आयुष्य पूरा कर वहा से च्युत हुआ । यही विदेह मे दूसरे विजय (देश) मे चक्रवालपुर नामक नगर मे अप्रतिहत चक्र नामक सार्थवाह की सुमगला नामक पत्नी की कोख मे पुत्र रूप मे आया,

उचित समय पर उत्पन्न हुआ। मेरा नाम चक्रदेव रखा गया। मैंने शैशव प्राप्त किया।

उसी बीच वह नरक मे स्थित तोता (तोते का जीव) नरक से निकल कर उसी नगर मे सोमशर्मा नामक राजपुरोहित की नन्दिवर्द्धना नामक पत्नी की कोख मे पुत्र रूप मे आया, यथासमय उत्पन्न हुआ। उसका नाम यज्ञदेव रखा गया। मैं युवा हुआ। उस मायावी के साथ मेरा सद्भावपूर्ण प्रेम हो गया तथा उसका मेरे साथ छल पूर्ण। पूर्वजन्म के कर्मो के दोष से मुझ सरल के प्रति भी कुटिलता रखने वाला तथा मेरी सम्पत्ति से ईर्ष्या करने वाला यज्ञदेव मुझे धोखा देने के लिए मेरे छिद्र-दोष देखने लगा। (दोष) न पा सकने के कारण वह सोचने लगा—इसे इस प्रकार छला नही जा सकता। इसलिये इसका यह (एक) उपाय है—चन्दन सार्थवाह के यहा चोरी कर चुराया हुआ धन इसके यहा रख दू। उसके बाद किसी उपाय से राजा को यह कह कर उसे सम्पत्ति से भ्रष्ट कर दूं (उसकी सम्पत्ति जब्त करवा दूं)। उसने जैसा सोचा था, किया। मेरे घर मे धन लाकर उसने कहा—मित्र! प्रयत्न-पूर्वक इसे छिपा कर रखो। असमय मे लाये जाने से मेरे मन मे शका हुई और मैं ऐसा करना नही चाहता था, पर उसकी चतुराई के कारण मुझे वह (धन) छिपाना पडा। शहर मे शोर मचा—चन्दन सार्थवाह के घर मे चोरी हो गई। तब मेरे हृदय मे आशका हुई—निश्चय ही ऐसा हो सकता है, यह धन चन्दन सार्थवाह का हो। मैं यज्ञदेव के पास गया, मैंने उसे पूछा—यह कैसी बात है? उसने कहा—और तरह से मत सोचो। पिता के डर से मैंने यह आपके यहा रखा है। इसमे और कोई बात नही है। इससे मेरा सन्देह मिट गया। इस बीच चन्दन सार्थवाह ने राजा को निवेदित किया—राजन्! मेरे घर में चोरी हो गई है। राजा ने पूछा, क्या-क्या चुराया गया है? चन्दन ने बतलाया, राजा ने लिखवा लिया और आदेश दिया—डोडी पिटवाओ, चन्दन सार्थवाह के घर चोरी हो गई है, उसका धन चुरा लिया गया है। इसलिए किसी के घर मे किसी भी व्यवहार-योग से किसी भी तरह के लेन-देन के रूप मे वह धन या उसका कुछ भाग आ गया हो तो राजा चण्डशासन से निवेदित करे। यदि निवेदित नहीं किया गया और धन मिल गया तो राजा उसकी सारी सम्पत्ति जब्त कर लेंगे और उसे शारीरिक दण्ड भी देंगे, क्षमा नही करेंगे। यों मुनादी हो गई।

वैसा होने के पाच दिन बाद यज्ञदेव ने राजा को बतलाया—राजन् ! यद्यपि मित्र का दोष प्रकट करना उचित नही है तथापि परलोक और इहलोक के विरुद्ध काम करने वाले, अहितकर आचरण द्वारा जो अपने आपका भी अमित्र-शत्रु है, ऐसे मित्र से मुझे क्या ।. जानते हुए राजा और प्रजा के प्रतिकूल कार्य की उपेक्षा नही करनी चाहिये । इसलिये आपको निवेदित कर रहा हूँ । राजा ने कहा– आप कहे । यज्ञदेव ने कहा—राजन् ! सुने, मैंने चक्रदेव के पास रहने वाले उसके सेवको से सुना है कि चन्दन सार्थवाह का धन चक्रदेव ने चुराया है और उसे अपने घर मे छिपा लिया है । यह सुनकर, जैसा महाराज उचित समझे, करे । राजा ने कहा—आर्य ! यह सम्भव नही लगता । वह उच्च कुल मे उत्पन्न (कुलीन) है, इस अत्यन्त विरुद्ध–अत्यन्त अनुचित कार्य को कैसे कर सकता है ? यज्ञदेव ने कहा—महाराज ! जो अज्ञान और लोभ के वश मे हैं, उनके लिये कुछ भी असम्भव नही है । इसमे कुल का क्या दोष ? क्या सुगन्धित फूलो मे कीड़े नही होते ? अत किसी तरह से उसके घर की तलाशी करवाईये । यह उपयुक्त है–यो कहकर राजा चण्डशासन ने वैसा ही किये जाने की आज्ञा दी । उसने कर्मचारियो को कहा कि नगर के विशिष्ट लोगो के साथ चन्दन सार्थवाह के खजाची को लेकर चक्रदेव के घर मे चुराये गये धन की तलाश करो । जिसकी कोई सम्भावना नही, उसके लिये ऐसा करने से क्या लाभ ? अथवा हम लोग तो राजा के आज्ञापालक हैं, हमे क्या—यो सलाह कर राजकर्मचारी नगर के प्रतिष्ठित व्यक्तियो तथा चन्दन सार्थवाह के खजाची को लेकर एक पहर दिन चढे मेरे घर पर आये । उन्होने मुझे पूछा—सार्थवाह-पुत्र ! आपके यहा इस प्रकार का धन किसी लेन-देन के प्रसग मे आया तो नही है ? तब मैंने विना किसी शका के कहा—नही, ऐसा नही हुआ है । उन्होने कहा—आप क्रोध मत करना । राजा की आज्ञा है कि आप के घर की तलाशी ली जाए । मैंने कहा—इसमे क्रोध करने की क्या बात है । महाराज का प्रयत्न प्रजा की रक्षा के हेतु है ।

तब नगर के प्रतिष्ठित लोगो के साथ राज-कर्मचारी मेरे घर मे प्रविष्ट हुए । उन्होने नाना प्रकार के द्रव्य का निरीक्षण किया, प्रयत्नपूर्वक रखा हुआ चन्दन सार्थवाह का नाम लिखा हुआ सोने का वर्तन उन्हे दिखाई दिया । उसे वे बाहर लाये । चन्दन के खजाची को दिखाया । उसने उसे देख कर दुःख के साथ कहा –उस जैसा ही प्रतीत

होता है, पर निश्चित रूप से नही जानता। जाच करने वाले अधिकारियो ने कहा—चुराये गये धन की फेहरिस्त का कागज पढो। वहां यह (वर्तन) इस प्रकार (जैसा यह है) लिखा है या नही? कागज पढा गया, लेख देखा गया। नागरिकगण और जाच करने वाले अधिकारी पढकर स्तब्ध रह गये। उन्होने कहा—सार्थवाह-पुत्र! यह आपके पास कहा से आया? तव मैंने सोचा—सद्भावपूर्वक रखी हुई मित्र की धरोहर को कैसे प्रकाशित करू? कही, उसके यहा भी तो इसी प्रकार से (न्यास-लेन-देन आदि के सन्दर्भ मे) यह नही आ गया हो? इसलिये अपने प्राणो के लोभ से मित्र के प्राण सकट मे कैसे डालू! ऐसा सोचकर मैंने कहा—यह मेरा अपना है। उन्होने पूछा—इस पर चन्दन का नाम कैसे लिखा है? मैंने कहा—मैं नही जानता, कही वर्तन की अदला-वदली हो गई हो। यह कितने मूल्य के सोने का है? मैंने कहा—मुझे भली-भाति याद नही है, स्वय ही देख ले। जांच अधिकारियो ने कहा- पत्र पढो। चन्दन सार्थवाह का पात्र कितने मूल्य का है। पत्र पढा गया और पाया गया कि वह पात्र दस हजार मोहरो के मूल्य का है।

उन्होने पात्र को कब्जे मे लिया। पत्र मे लिखी हुई वाते उससे मिलती थी। नागरिक और जाच-अधिकारी चकित हो गये। वे सोचने लगे—अप्रतिहतचक्र सार्थवाह के पुत्र चक्रदेव द्वारा यह कैसे सम्भव हो सकता है? उन्होने मुझको फिर पूछा—सार्थवाह-पुत्र! यह राजा की आज्ञा है। आप साफ-२ कहे, यह आपको कहा से मिला? तव मैंने पूर्ववत् सोच कर वैसा ही कहा। दैव-भाग्य (सयोग) को धिक्कार है—यो कह कर वे मंत्रणा करने लगे। उन्होने कहा—और भी कोई दूसरे की वस्तु आपके घर मे नही है? मैंने कहा—कुछ भी नही है।

तव पत्र को पढकर उन्होने मेरे घर की विशेष रूप से तलाशी ली। जैसा पत्र मे लिखा था, उसके अनुसार वहा पर सारे के सारे द्रव्य-उपकरण (धन, वहुमूल्य वस्तुएँ) प्राप्त हुए। इस पर पुलिस—अधिकारी (जो जाच मे लगे थे) मुझ पर क्रुद्ध हो गये। वे मुझे राजा के पास ले गये। चण्डशासन राजा को उन्होने सारा वृत्तात कह सुनाया। राजा ने कहा - सार्थवाह-पुत्र। तुमने दोनो लोक-इस लोक व परलोक का मार्ग समझा है। इसलिए ऐसा न करने योग्य अनुचित

कार्य तुमने किया है, मुझे यह सम्भव नही लगता, इसलिये बतलाओ—इसमे वास्तविकता क्या है ? मेरी आखे आसुओ से भर गई, मैंने पहले की तरह सोचते हुए, राजा के आगे कुछ भी नही कहा। राजा को यद्यपि मुझ पर सन्देह हो गया था पर वह मेरे पिता का बहुत आदर करता था, इसलिए मुझे अनुचित बचन न कहते हुए, कष्ट न देते हुए देश-निकाले की आज्ञा देदी। राज-पुरुष मुझे नगर से बाहर ले गये, नगर देवता की वन-भूमि के पास मुझे छोड दिया। राज-पुरुष लौट आये। मै विचार करने लगा—अब इस जीवन को जो एक-मात्र तिरस्कार का पात्र है, रखने से क्या ? इसलिए नगर-देवता के वन के समीपवर्ती बरगद के पेड से लटक जाऊँ—लटककर-फासी लगा कर प्राण त्याग दूँ। यो सोच कर बरगद के पास आया। इसी बीच वन-देवता ने अवधि-ज्ञान से मेरा वृत्तान्त जान लिया। मेरे पर उनमे करुणा-भाव उत्पन्न हुआ। राज-माता मे आविष्ट—प्रविष्ट होकर उन्होने राजा को यथार्थ स्थिति से परिचित कराया, राजा को कहा कि खिन्नता के कारण चक्रदेव नगरोद्यान के पास स्थित अमुक बरगद के पेड से फासी लगाकर प्राण त्यागने के लिए यत्न-शील है। इसलिये उसे शीघ्र रोको तथा उसका सम्मान कर नगर मे प्रवेश कराओ। तब राजा क्रोध और स्नेह से मिला हुआ (यज्ञदेव के प्रति क्रोध व चक्रदेव के प्रति स्नेह) रस—आनन्द अनुभव करता हुआ "अरे! दुराचारी यज्ञदेव को गिरफ्तार करो," ऐसा आदेश देकर प्रधान हथिनी पर आरूढ होकर, पास मे जो सेवक थे, उन्हे साथ लिये जल्दी २ नगर से रवाना हुआ और नगर के उद्यान मे पहुचा।

राजा ने बरगद की शाखा में लगाये गये (बांधे गये) दुपट्टे से बनाये, फन्दे मे गर्दन डाले अपने को मारने के लिये तत्पर मुझे देखा। उतावलेपन के कारण अत्यन्त शीघ्रता करता हुआ राजा दूर से ही—"अरे चक्रदेव ! ऐसा दुःसाहस मत करो," यो कहता हुआ फौरन रोकी गई हथिनी से बरगद के वृक्ष के पास नीचे उतरा। राजा ने स्वय फासी को हटाया और मेरा हाथ पकड कर मुझे हथिनी पर बिठाया। बहुत आदर पूर्वक उन्होने मुझे कहा—हे सार्थवाह-पुत्र ! मेरे पूछने पर भी आपने सद्भाव—यथार्थ स्थिति का कथन नही किया, क्या यह उचित था ? तब मैं सोचने लगा—यह क्या ? मेरे मित्र का गुप्त भेद शायद किसी ने प्रकाशित कर दिया है। इस बीच राजा ने कहा—

सार्थवाह-पुत्र ! मेरी माता मे प्रविष्ट होकर नगरदेवता ने यह सारा वृत्तांत मुझे कहा है। तुम निर्दोष हो । दुष्ट यज्ञदेव इस कार्य मे दोषी है । इसलिये तुम माफ करना, वास्तविकता न जानने के कारण मेरी ओर से तुम्हे कुछ कष्ट हुआ । तब मैंने यह सोचकर कि यज्ञदेव कष्ट मे पड जायेगा, राजा से कहा—देव ! यह राजधर्म है। आप प्रजा की रक्षा मे तत्पर हैं, इसलिए आपको कोई दोष नही है । राजन् ! यज्ञदेव की भी यथार्थ स्थिति की छानबीन करे । उस महात्मा द्वारा ऐसा अनुचित कार्य किया जाना सम्भव नही है । राजा ने कहा—उसकी भली-भाति छान-वीन करली गई है । भगवती वन-देवताने यह स्पष्ट कर दिया है कि यह सब उसी दुष्ट ने किया है । देवता ने जो कहा था, वह सब राजा ने बतलाया । (राजा ने कहा) मुझे मन मे लगा था—तुम्हे दोषी ठहराने के अभिप्राय से यज्ञदेव ने यह सब किया है । यज्ञदेव ने जो कहा था, वह सब राजा ने कह सुनाया । मैं सोचने लगा—अफसोस ! जिसकी कोई सम्भावना नही थी, वह कैसे सम्भव हो गया ? इसी बीच राजपुरुष यज्ञदेव को बांधकर वहा लाये और राजा के सामने हाजिर किया । राजा ने कहा—अरे ! इसकी जीभ काटकर नेत्र निकाल लिये जायं । यज्ञदेव दुःखी हो गया । तब मैंने राजा के चरणो मे पडकर उनसे निवेदन किया देव ! यह मेरा ही अपराध है, क्षमा करे, यज्ञदेव को छोड़ दे । राजा ने कहा सार्थवाह-पुत्र ! यह उचित नही है । यह दुराचारी है । इसलिये और कुछ निवेदन करो । मैंने कहा—राजन् ! और कुछ नही निवेदन करना है । यदि आपका मेरे प्रति विशेष आदर है तो मेरी यही माग पूरी करें । राजा ने कहा—तुम्हारा वचन अलघनीय है—न टालने योग्य है—तुम यह जानते ही हो । तब मैं "यह महाराज की कृपा है"—यह कहकर उनके चरणों मे गिर पड़ा और यज्ञदेव को छुडवा दिया ।

राजा ने मुझे अपने महल मे भिजवाया । वहां सम्मानित होकर अत्यन्त वैभव के साथ मैं अपने घर लौटा । लोग कहने लगे—अरे ! यज्ञदेव की कितनी नीचता है ! मेरे मन मे वैराग्य उत्पन्न हुआ । देखो, ऐसे मित्रो का भी ऐसा नतीजा होता है । अहो ! यह ससार असार है, कर्मों की परिणति—परिणाम विचित्र है, प्राणियो की चित्त-वृत्तियो को समझना बहुत कठिन है । इसलिये नही जाना जा सकता, यहां क्या उचित है ?

इसी बीच स्वनामधन्य अग्निभूति नामक गणधर वहा आये। वे नगर के उद्यान मे रुके। मैं बाहर आया हुआ था, मैंने उन्हे देखा, मेरा उनके प्रति अत्यधिक आदर भाव हुआ। मैंने उन्हे प्रणाम किया। उन्होने मुझे धर्म–अहिसा–दया का लाभ दिया। मैं उनके चरणो बैठा। मैंने उनसे सब दु:खो का विनाश करने वाले धर्म के सम्बन्ध मे पूछा। उन्होने क्षमा आदि साधु–धर्म के बारे मे बताया। वह सुनकर मेरे मन मे देश–विरति—आंशिक त्याग (श्रावक–धर्म) उत्पन्न हुआ। मेरा धर्मानुराग बढता गया और मुझे ससार से वैराग्य उत्पन्न हो गया। मैंने सोचा मात्र संसार—आवागमन (जन्म-मरण) बढाने वाले इस परिक्लेश से क्या लाभ है, अतः मैं प्रव्रज्या स्वीकार करूँ। इसी बीच मेरा कर्म–समूह नष्ट होने लगा, (कर्मों के) बन्धन की स्थिति चलित होने लगी, मेरा आत्म–वीर्य—आत्मबल जागा। मुझ मे सर्व–विरति का परिणाम उत्पन्न हुआ। प्रवचन के समाप्त होने पर मैंने गुरुवर से निवेदन किया—आपने मुझ पर अनुग्रह किया है, ससार के प्रपंच—जजाल से मेरा मन विरक्त हो गया है, इसलिये भगवन्! आप आज्ञा दे, मुझे क्या करना चाहिए? वे शास्त्रो का रहस्य जानने वाले थे। उन्होने मेरा भाव जानकर कहा—महापुरुषो द्वारा सेवित श्रमण–धर्म को स्वीकार करना आपके लिये उपयुक्त है। तब मैंने उनके पास ही श्रमण-दीक्षा स्वीकार की। विधिपूर्वक उसका पालन किया। आयु पर्यन्त पालन करते हुए मैं समय आने पर देह-त्याग कर ब्रह्मलोक मे नौ सागरोपम आयु वाले वैमानिक देव के रूप मे उत्पन्न हुआ।

दूसरा—यज्ञदेव शर्कराप्रभा नामक नरक मे तीन सागरोपम आयु वाले नारक के रूप मे उत्पन्न हुआ। अपने आयुष्य का पालन कर भोगकर मैं देवलोक से च्युत होकर यही विदेह क्षेत्र मे स्थित गन्धिलावती विजय (देश) मे रत्नपुर नामक नगर मे रत्नसागर नामक सार्थवाह की श्रीमती नामक पत्नी की कोख मे पुत्र रूप मे आया। दूसरा (यज्ञदेव का जीव) उस नरक से निकल कर शिकारी का कुत्ता होकर, मरकर वही (उसी पहले वाले नरक मे) तीन सागरोपम आयु-वाले नारक के रूप मे उत्पन्न होकर (अपना काल पूरा कर), वहा से निकलकर अनेक पशु–पक्षियों की योनियो मे भटक कर वही रत्नपुर में मेरे पिता की नर्मदा नामक घर की नौकरानी की कोख मे पुत्र रूप मे आया। उचित समय पर हमारा (हम दोनो का) जन्म हुआ।

वचपन आया । नाम रखे गये मेरा चन्द्रसार व उसका अनहक । (दोनो) जवान हुए । मेरा विवाह हुआ । हम सासारिक सुख मे आसक्त रहने लगे । पूर्वजन्म के सस्कार से उसका मेरे प्रति वन्चना-भाव—छल करने की प्रवृत्ति नही मिटी ।

एक समय वहा मास-कल्प से विहार करने वाले भगवान् विजयवर्द्धनाचार्य आये । मैंने उनके चरणो मे श्रावक-धर्म स्वीकार किया ।

एक समय जव (हमारा) राजा लम्वी विजय-यात्रा पर गया हुआ था, हम लोग दूसरे गाव गये हुए थे, विंध्यकेतु नामक भीलो के सेनापति ने उस (हमारे) नगर को क्षत-विक्षत कर किसी एक का अपहरण कर लिया- हमने यह सुना । हम नगर मे आये, श्मशान का अनुकरण करते हुए—श्मशान जैसे नगर को देखा, (अपने) लोगो की खोज की । सव मिल गये, पर मेरी पत्नी चन्द्रकान्ता नही मिली । उसका अपहरण कर लिया गया था । तव मेरे मन मे शोक उत्पन्न हुआ । मैं चिन्ता करने लगा—वह तपस्विनी (पति भक्ति निष्ठ, असहाय), जो मुझ से कभी विरहित नहीं हुई, कैसे प्राण धारण करेगी ? इसी वीच देवशर्मा नामक वृद्ध ब्राह्मण ने मुझे कहा—हे सार्थवाह-पुत्र ! शोक मत करो । पहले भी इसी प्रदेश की श्रीस्थल नामक वस्ती से भील एक व्यक्ति (स्त्री) को अपहृत कर ले गये थे । उसे सम्पूणत: अखडित चरित्र रखते हुए वहुत सा धन लेकर छोड़ दिया गया ।

ऐसा सुनकर मैं कुछ दिन व्यतीत होने पर, जव भील अपने स्थान पर पहुच चुके, अनहक को साथ लिए वहुत सा धन तथा घृत से वने खाद्य पदार्थो का पाथेय (मार्ग मे खाने के लिये भोज्य पदार्थ) लेकर चन्द्रकाता को छुड़ाने के लिये रवाना हुआ ।

इधर मेरे वियोग से दु खित, चरित्र-खण्डन की आशका से युक्त चन्द्रकान्ता ने किसी सूने गाव के कुएँ के किनारे पर टिकी हुई भील सेना मे रात्रि के अन्तिम समय रवानगी के वक्त जव कोलाहल मचा था, भीलो के समूह अपने घेरे की निगरानी में लगे थे, जीवन की जरा भी अपेक्षा—चाह न करते हुए उसी पुराने कुंएँ मे अपने आपको गिरा दिया । वह पानी में गिर पड़ी, पानी के प्रभाव से मरी नही । उस कुंएं मे स्थित एक खोखले मे वह रहने लगी । जीवित-आयुष्य शेष था, इसी हेतु मानो वह वड़े कष्ट मे प्राण धारण किये हुए थी ।

हम उस स्थान पर पहुचे । पूर्व-जन्म के सस्कार तथा उस (चन्द्रकाता को छुडाने के हेतु साथ मे लिए हुए) धन को देखने से उसके मन मे मुझे धोखा देने का भाव जागा । वह सोचने लगा—मैं इसे कैसे ठगू-धोखा दूं ? यो उसका हृदय अनेक प्रकार के विकल्पो से आकुल था और मेरा भाव शुद्ध था । हम दोनो चले जा रहे थे । मार्ग का भोजन और धन वारी-वारी से हम मे से प्रत्येक हाथ मे लेता रहता था ।

एक वार मेरे हाथ मे पाथेय था और उसके हाथ मे धन की गठरी । यो चलते हुए हम उस स्थान पर पहुचे, जहा (वह) चन्द्रकाता रहती थी । वह कुंआ दिखाई दिया, इसी वीच सूर्य अस्त हो गया, सध्या आ गई । तव अनहक ने सोचा—'मेरे हाथ मे धन की गठरी है, यह निर्जन वन है, यह पाताल तक गहरा कुआ है और अपराध के विल को ढकने वाला अवकार भी फैल रहा है । इसको इस (कुंएँ) मे धकेल कर मैं यहा से चला जाऊँ । यो सोचकर उसने मुझे कहा - सार्थवाह-पुत्र ! मुझे वडी प्यास लगी है । इसलिये इस पुराने कुंएँ को देखो, इसमे पानी है या नही ? तव मैं पाथेय की गठरी लिये हुए कुएँ को देखने लगा । (जीवन के प्रति) अत्यन्त विश्वस्त व्यक्ति के पास जैसे मौत आती है, उसी प्रकार अनहक मेरे पास आया, सहसा मुझे कुएँ मे धकेल दिया, मैं जल के वीच गिर पडा । वह उस स्थान से चला गया । मैं भी हडवडाता हुआ खोखले के एक भाग मे सट गया ।

स्त्री स्वभाव के कारण चन्द्रकाता भयभीत हो गई । उसके अंग-अग मे घवराहट व्याप्त हो गई । उसने "अर्हतो को नमस्कार हो"—इस प्रकार कहा । मैंने उसका शब्द पहचान लिया । मेरा हृदय धडकने लगा । मैंने उसे कहा - जिनका जिनशासन मे अनुराग है, उन्हे कोई भय नही । उसने भी मेरा शब्द पहिचान लिया । वह रोने लगी । मैंने उसे ढाढस वन्धाया और उसका हाल पूछा । उसने मुझे वताया तथा मैंने भी अपना हाल उसे कहा । वह वोली - अनहक ने वडा वुरा किया । मैंने कहा—सुन्दरी ! वुरा नही किया, उस महानुभाव ने तो वडा उपकार किया है कि तुम से मिला दिया । हमे वहुत कम नीद आई । रात वीत गई । सूर्य उगा । तव मैंने चन्द्रकांता को पाथेय दिया । उसने कहा - आपके लिये विना मैं कैसे लूँ ?

तव मैंने उसके स्नेह-विह्वल हृदय के भाव जान कर असमय मे ही पाथेय ग्रहण किया । हम दोनो ने खाया । फिर मैं सोचने

लगा—संसार-सागर की तरह इस कुंएँ से हम किस प्रकार निकल पायेंगे ? यो सोचते-सोचते कुछ दिनो मे पाथेय समाप्त हो गया, जीवन की आशा मिट गई । मै चिन्ता करने लगा—जैन धर्म प्राप्त कर श्रमण-दीक्षा स्वीकार किये विना ही क्या मैं अकृतार्थ-अपने जीवन का कार्य साधे विना ही मर जाऊँगा ? इस बीच चन्द्रकाता का वाया और मेरा दाहिना नेत्र फुरका । वह वोली—आर्यपुत्र ! मेरा वाया नेत्र फुरक रहा है । तव मैंने अपने हृदय का सकल्प व दायें नेत्र का फुरकना वतलाया । मैंने उसे आश्वासन दिया—सुन्दरी ! इन निमित्तो – (शुभ) शकुनो से प्रतीत होता है कि हमारा सकट वहुत समय तक नही रहेगा । इसलिये तुम सन्ताप मत करो । उसने यह ध्यानपूर्वक सुना । इस प्रकार हमारा यो एक दिन-रात और वीता कि शवर राजधानी से रत्नपुर निवासी नन्दिवर्द्धन नामक सार्थवाह का रत्नपुर की ओर जाता हुआ काफिला वहा आया । पानी के लिए रस्सी लेकर लोग वहां कुएँ पर पहुचे । उन्होने हमे देखा । अपने सार्थवाह को वतलाया । खटिया को कुंएँ के भीतर डालकर हमे वाहर निकलवाया और पहचान लिया, हमारा हाल पूछा, हमने विस्तारपूर्वक वतलाया । उसे (सार्थवाह को) अचरज हुआ । हम लोग रत्नपुर की ओर चले । (शवर) राजधानी से पाच मन्जिल आगे वढने पर समीप ही अनहक का मृत शरीर, जिसकी हड्डियो का ढांचा मात्र वचा था, जिसके वाई तरफ धन की गठरी पड़ी थी, जो एक सिंह द्वारा चिर-निद्रा मे पहुचा दिया गया था, दिखाई दिया । धन देखकर हमने उसे पहचान लिया । तव वैसा कर्म-फल देखकर मेरा विवेक जागा, चारित्र-मोहनीय कर्म का क्षयो-पशम हुआ, चारित्र्य का भाव उदित हुआ, जो समग्र जीव-लोक मे कठिन है ।

तव मैं वैसे चढते परिणामो के साथ अपने नगर मे आया, विजयवर्द्धनाचार्य के पास विधिपूर्वक दीक्षा ग्रहण की, अपना आयुष्य पूरा कर, विधि-वत् देह-त्याग कर महाशुक्र-कल्प मे सोलह सागरोपम आयुवाले वैमानिक देव के रूप मे उत्पन्न हुआ । इधर अनहक, सिंह ने जिसे मार डाला था, वालुकाप्रभा मे सात सागरोपम स्थिति वाले नारक के रूप मे उत्पन्न हुआ ।

मैं अपना आयुष्य पूरा कर, देवलोक से च्युत होकर (देवलोक को छोड़कर) इसी जम्बू द्वीप के अन्तर्गत भारतवर्ष मे रथवीरपुर नामक

नगर मे नन्दिवर्द्धन नामक गाथापति की सुरसुन्दरी नामक पत्नी की कोख मे पुत्र रूप मे आया। दूसरा भी उस नरक से निकल कर विन्ध्यगिरि नामक पर्वत पर सिंह के रूप मे उत्पन्न हुआ, जो अनेक प्राणियो को मारने मे तत्पर रहा। सिंह के रूप मे उत्पन्न होकर फिर मरकर सात सागरोपम आयु वाले नारक के रूप मे वही (उसी वालुकाप्रभा मे) उत्पन्न हुआ। वहा से निकलकर तरह-तरह के पशु-पक्षियो की योनि मे भटककर उसी नगर मे सोम सार्थवाह की नन्दिमती नामक पत्नी की कोख मे पुत्र रूप मे आया। ठीक समय पर हम दोनो का जन्म हुआ। हमने बालभाव-शैशव प्राप्त किया। हमारे नाम रखे गये—मेरा अनगदेव तथा उसका धनदेव। वचपन से ही मेरे मन मे उसके प्रति सद्भावना प्रेम था, उसके मन मे मेरे प्रति छल (धोखा)।

बाल्यावस्था मे ही मैंने देवसेन गुरु के पास सर्वज्ञ-भाषित धर्म प्राप्त-ग्रहण किया। हम दोनो युवा हुए। पूर्व-पुरुषो (पुरखो) द्वारा कमाये हुए काफी धन के होते हुए भी अभिमान से "पूर्व-पुरुषो द्वारा अर्जित धन से हमे क्या"—यो सोचते हुए धन प्राप्त करने के लिये हम रत्नद्वीप गये। हमने रत्न प्राप्त किये, उन्हे सजोया, अपने देश को रवाना हुए।

इस बीच पूर्व-जन्म मे किये हुए कर्मों के दोष से धनदेव सोचने लगा—मैं इस अनगदेव को किस प्रकार धोखा दू ? उसने अनेक प्रकार के झूठे विकल्प सोचे। सिद्धान्त स्थापित किया—मन मे दृढ निश्चय किया—मारे बिना मैं इसे धोखा नही दे सकता, इसलिए मैं इसकी हत्या करूं। उसने उपाय सोचा—इसे भोजन मे जहर दे दू।

आगे हम स्वस्तिमती नामक गाव मे पहुचे। धनदेव भोजन लाने बाजार गया। उसने भोजन तैयार करवाया। एक लड्डू मे उसने जहर डाल दिया। उसने सोचा—यह उसे (अनगदेव को) दे दूगा। आते समय उसके चित्त मे तरह-तरह के विकल्प उठ रहे थे। उसे विपर्यय—उल्टी धारणा हो गई। भोजन के समय उसने जहरवाला लड्डू खुद ले लिया और मुझे दूसरा दे दिया। हमने ज्योही खाना खाया, थोडी देर मे ही धनदेव बिछ गया—ढेर हो गया। तब यह कैसे हुआ—यो आकुल होता हुआ मैं किंकर्त्तव्यविमूढ होकर थोड़ी देर ठहरा, इतने में विष की अत्यन्त उग्रता से कर्म-फल की विचित्रता से धनदेव समाप्त हो गया। मैं सोचने लगा—हाय ! यह किसने किया ? सही

वृत्तान्त मुझे मालूम नही हो सका ।

शोक से मेरा मन अत्यन्त दु खित हो गया । मैं नगर मे आया । उसके आदमियो–पारिवारिक जनो को उसका हाल बताया । अधिकतर रत्न उन्हे दे दिये । बाकी के रत्नो को यथोचित रूप मे पुण्य कार्य मे लगा कर, उस पूर्वोक्त घटना से उत्पन्न वैराग्य के कारण, मेने, जिसे तव तक विपयासक्ति का अनुभव नही था, देवसेनाचार्य के पास श्रमण–दीक्षा स्वीकार की । यावज्जीवन उसका परिपालन कर (अन्त समय मे) विधिपूर्वक (पण्डित–मरण पूर्वक) देह त्याग कर प्राणत–कल्प मे उन्नीस सागरोपम आयुयुक्त देव के रूप मे उत्पन्न हुआ। दूसरा – कनकदेव भी विप से मरने के वाद पंकप्रभा नामक नरक भूमि मे नौ सागरोपम आयुवाले नारक के रूप मे उत्पन्न हुआ । तव मैं आयु पर्यन्त देव-योनि को भोग कर वहा से च्युत हुआ और इसी जम्बू द्वीप मे ऐरावत क्षेत्र मे हस्तिनापुर नामक नगर मे हरिनन्दि नामक गाथापति की लक्ष्मीमती नामक पत्नी की कोख मे आया । दूसरा भी उस नरक से निकल कर साप की योनि प्राप्त कर अनेक प्राणियो को मारता हुआ–दवाग्नि से जलकर, मरकर उसी पकप्रभा नामक नरक मे दश सागरोपम से कुछ कम आयु वाले नारक के रूप मे उत्पन्न हुआ । वहा से निकल कर पशु-पक्षियो की योनियो मे भटक कर उसी हस्तिनापुर नामक नगर मे इन्द्र नामक वूढे सेठ की नन्दिमती नामक पत्नी की कोख मे पुत्र-रूप मे आया । ठीक समय पर हम दोनो का जन्म हुआ। हमारा नामकरण-सस्कार हुआ । मेरा नाम वीरदेव तथा उसका नाम द्रोणक रखा गया ।

हमने वालभाव—शैशव प्राप्त किया । हमे शिक्षक के यहा भेजा गया । हमारे मे पूर्व वर्णन के अनुरूप प्रीति-भाव उत्पन्न हुआ । कलाओं की शिक्षा प्राप्त कर मैंने मानभंग गुरु के पास जिन-प्रतिपादित धर्म स्वीकार किया । वाह्य रूप मे द्रोणक ने भी, जो प्रदर्शन या चाल-वाजी मे मुझे धोखा देना चाहता था, वैसा किया (जिन-धर्म स्वीकार किया) । धर्म के प्रति अपने अनुराग-भाव के कारण तवसे उसके साथ मेरा प्रेम और दृढ हो गया । मैंने उसे वहुत सा धन दिया और कहा कि अनिन्दित—प्रशस्त (ईमानदारी पूर्ण) मार्ग से व्यापार करो । तव वह व्यापार करने लगा । उसने खूव धन पैदा किया । इस वीच पूर्व-वद्ध कर्मो के दोप से उसके मन मे मुझे ठगने (धोखा देने) का तीव्र

भाव उत्पन्न हुआ। वह सोचने लगा—मैंने अत्यधिक धन उपार्जित किया है। वीरदेव उसका हिस्सेदार है। इसलिए किस उपाय से उसे वञ्चित करूं—धोखा दूं ? हमारे आपसी लेनदेन के सम्बन्ध मे किसी को जानकारी नही है। इसलिए किस मार्ग का अवलम्वन करू—सहारा लूं ? इस शत्रु के प्रति मेरा असत्य वचन नही निभ सकेगा इसलिए मुझे इसकी हत्या कर देनी चाहिए। फिर मैं जैसा कहूँगा, मान लिया जायेगा। यो निश्चय करके उसने अपना प्रयत्न प्रारम्भ किया। विशाल भवन वनवाया। उसके ऊपर के हिस्से मे झरोखा, जिसके कीले यथा-वत् रूप मे फिट नही करवाये गये थे, तैयार करवाया। उसने सोचा—वीरदेव को महल मे आने को निमन्त्रित करके यह झरोखा दिखलाऊं। तव वह उस (झरोखे) की सुन्दरता के कारण उसे देखने ऊपर चढेगा। वह वहां से गिर कर फिर वचेगा नही। ऐसा होने से लोक-निन्दा भी नही होगी। यो उसने जैसा सोचा था, किया। भोजन करने के बाद हम दोनो सपरिवार महल पर चढे। इस वीच उसकी वुद्धि नष्ट हो गई। मुझे दिखाने के लिए वही अकेला उस झरोखे पर चढा। जव तक मैं चढ नही पाया था, वह गिर पडा। मैंने हाहाकार करते हुए नीचे उतर कर ज्योही देखा, वह (द्रोणक) मर चुका था। मेरे मन मे वैराग्य उत्पन्न हुआ। मैं सोचने लगा—इस प्राणि-लोक को धिक्कार है। सासारिक कर्मों का ऐसा ही अन्त होता है। तव उसके मृतको-चित कर्म सम्पादित कर, मैंने वैराग्यपूर्वक मानभग गुरु के पास श्रमण-दीक्षा स्वीकार की। आयु-पर्यन्त श्रमण-जीवन का परिपालन कर मैं अधस्तन-उपरितन (तीसरे) ग्रैवेयक में पच्चीस सागरोपम से कुछ कम आयुष्यवाले देव के रूप मे उत्पन्न हुआ। द्रोणक भी उस प्रकार के रौद्र-ध्यान से युक्त होता हुआ (मरकर) धूमप्रभा नामक नरक-भूमि मे वारह सागरोपम आयु-वाला नारक हुआ। मैं वहां (ग्रैवेयक मे) देवायु का अनुभोग कर वहां से च्युत होकर इसी जम्बूद्वीप मे इसी विजय मे चम्पावर्ष नामक नगर मे मणिभद्र नामक सेठ की धारिणी नामक पत्नी के गर्भ मे पुत्र रूप मे आया। ठीक समय पर उत्पन्न हुआ। मेरा नाम पूर्णभद्र रखा गया। पहले पहल ध्वनि (शव्द) का उच्चारण करते समय मेरे मुंह से 'अमर' (शव्द) निकला। इसलिए मेरा दूसरा नाम अमरगुप्त भी रख दिया गया। एक श्रावक के घर मे उत्पन्न होने के कारण वचपन से ही मैंने जिनोपदिष्ट धर्म स्वीकार कर लिया। इस वीच दूसरा—द्रोणक भी उस नरक से निकल कर स्वयंभूरमण समुद्र में वड़ा मत्स्य हुआ। वह

अत्यन्त पाप-दृष्टि—पापी था । मरकर वह उसी धूमप्रभा नामक नरक-भूमि मे बारह सागरोपम आयुवाला नारक हुआ । वहा से निकल कर अनेक पशु-पक्षियो की योनियो मे भटकता हुआ उसी नगर मे नन्दावर्त नामक सेठ की श्रीनन्दा नामक पत्नी की कोख मे पुत्री-रूप मे आया। उचित समय पर उसका जन्म हुआ। उसका नाम नन्दयन्ती रखा गया। वह युवती हुई । मुझे दी गई—मेरे साथ उसका वाग्दान—सगाई हुई। पाणिग्रहण—विवाह सम्पन्न हुआ । मेरा उसके प्रति प्रेम हुआ और उसका मेरे प्रति । विषय-सुख का अनुभव करते हुए हमारा कुछ समय व्यतीत हुआ । पूर्व-कृत कर्मों के दोष से उसका मुझे धोखा देने का भाव गया नही, जिससे, यद्यपि सारे घर का अधिकार उसे सौपा हुआ था, फिर भी वह छलपूर्वक व्यवहार करती थी । मेरे सेवको ने मुझे यह कहा पर मैंने विश्वास नही किया । एक दिन उस (मेरी-पत्नी) ने मुझ से कहा—मेरा बहुमूल्य कुण्डलो का जोड़ा खो गया है । वह स्वयं ही उसे अपहृत कर छिपा कर (झूठी) आकुलता दिखाने लगी । मैंने उसे कहा—सुन्दरी ! यह छोटी सी बात है । इसके लिए इतनी क्षुब्ध (दु खित, उदास) क्यो होती हो ? मैं तुम्हारे लिए दूसरा कुण्डलो का जोडा बनवा दूंगा । मैंने कुण्डलो का जोडा बनवा दिया । कुछ दिन व्यतीत हुए । एक बार मैंने तेल-मालिश या उवटन के समय अपने नाम से अकित रत्न-जटित मुद्रिका उसे दी । उसने उसे अपने गहनो की पिटारी मे छिपा दिया । स्नान एव भोजन का समय समाप्त हो जाने पर अगराग—देह पर चन्दन आदि का लेप कर, पान ग्रहण कर बिना आशका के उसकी पिटारी से मैंने स्वय ही अपनी रत्न-जटित मुद्रिका लेली । मैंने उस (पिटारी) मे पहले खोया हुआ बहु-मूल्य कुण्डलो का जोडा भी देखा । मैं सोचने लगा—क्या वह फिर मिल गया ? इस बीच भयभीत सी नन्दयन्ती आई । उसने मेरे हाथ मे मुद्रा-रत्न देखा। वह लज्जित हो गई । मैंने उसका वह भाव जान-लिया । तब मैं शीघ्र ही घर मे बाहर चला गया । वह सोचने लगी, उसने कुण्डलो का जोडा देख लिया है । इसलिए अब क्या करना चाहिए ? इससे मेरा हलकापन (ओछापन) प्रकट हुआ है। वह (मेरा पति) भी चला गया है । इसलिए जब तक पारिवारिक लोगो मे मेरा हलकापन प्रकट न हो, तब तक मुझे उसकी हत्या कर देनी चाहिए । अब बस यही उपाय है । तत्काल मार देने वाले (मन्त्र, औषधि आदि द्वारा सम्पादित) कार्मण योग—जादू या अभिचार का प्रयोग करूं ।

उसने अनेक प्रकार के मारक द्रव्यों के संयोग से योग तैयार किया। उसे एक स्थान पर रखती हुई वह एक सांप द्वारा डस ली गई। पुरोहित रुद्रदेव ने यह मुझे बताया। मैं शीघ्रता से घर गया। नन्दयन्ती का शरीर विष के प्रभाव से बने काले चकत्तो से व्याप्त था। वह जीवित मात्र थी।

उसे उस स्थिति मे देख कर मैं सोचने लगा—मायापूर्ण इन्द्रजाल के समान इस जीवलोक को धिक्कार है। मेरी आखे आसुओ से भरी थी। मैंने गद्‌गद् शब्दो मे पूछा—सुन्दरी! तुम्हे क्या पीडा है? वह नही बोली। तब मै विषण्ण—विषादयुक्त—दु खित हो गया। उसके जीवन की आशा मिट गई। अब गारुडिक—मन्त्र जानने वाले ही कुछ कर सकते है क्योकि मन्त्रो की शक्ति अद्‌भुत है। यह सोचकर गारुडिक बुलाये गये। उन्होने (गारुडिको ने) उसे देखा, वे विषादयुक्त हो गये। उन्होने कहा—सार्थवाह-पुत्र! यह मृत्यु द्वारा डसी जा चुकी है। अब यह मन्त्र-साध्य नही है। इसलिए आप नाराज मत होना। यो कहकर वे चले गये। तब मेरे नौकर-चाकरो के रोते-चिल्लाते उसने प्राण छोड दिये। मैंने उसकी और्ध्वदेहिक—दाह-सस्कार आदि अन्त्येष्टि-क्रियाएं की। उस (घटना) से मुझे वैराग्य हुआ, मेरा धर्मानुराग बढा। "इस जीव लोक को धिक्कार है", यो ससार की असारता सोच कर कष्ट और खेद-जनक आसक्ति-भाव का त्याग कर मैंने प्रव्रज्या स्वीकार की। वह दु खिया (मेरी पत्नी) उस प्रकार मर कर तम प्रधाना नामक नरक-भूमि मे उत्पन्न हुई। वहा उसकी आयु इक्कीस सागर की थी। यह मेरा वृत्तान्त है। इसे सुनकर राजा और नागरिको को वैराग्य हुआ। राजा ने पूछा—भगवन्! उस (आपकी पत्नी) की तथा आपकी आगे क्या परिणति होगी? भगवान् ने कहा—अनन्त ससार के पश्चात् उसकी मुक्ति होगी और मेरी यही इसी जन्म मे।

तब मैंने यह सुन कर इन्ही आचार्य भगवान् के पास अनेक नागरिको के साथ दीक्षा ग्रहण की। यह मेरे वैराग्य का विशेष कारण है। सिंहकुमार ने कहा—आपके वैराग्य का यह सुन्दर कारण है। भगवन्! इस संसार मे कितनी गतिया हैं? इसमे प्राणी किस किस प्रकार के शारीरिक तथा मानसिक दु ख अनुभव करते हैं? संसार रूपी कारावास से छुडाने मे समर्थ कौनसा धर्म है? धर्मघोष ने कहा—वत्स! जो तुमने पूछा, उस सम्बन्ध मे सुनो—

यह संसार चार गतियो से युक्त है । नरक-गति, तिर्यक्-गति, मनुष्य-गति और देव-गति - ये चार गतियां है । सुख-दुःख के सम्बन्ध मे सोचे तो स्पष्ट है ससार मे आये हुए प्राणियो को जो जन्म, बुढापा व मृत्यु से पीडित, राग आदि दोषो से ग्रस्त तथा भोग रूपी विप से क्षीण चेतना वाले हैं, सुख कहां है ? सुख जरा भी नही है, दु'ख वहुत है । इस सम्वन्ध मे एक उदाहरण सुनो—जैसे कोई पुरुष अत्यन्त दरिद्रता के दु.ख से सन्तप्त होता हुआ अपने देश को छोड कर परदेश को रवाना हुआ । ग्राम, आकर, नगर, पत्तन युक्त अपने देश को लाघकर पारकर कुछ दिन वाद रास्ता भूल गया । वह एक ऐसे वहुत वडे जगल मे पहुचा, जो शाल सरल, तमाल, ताल (ताड)–समूह, वकुल, तिलक, निचुल, अकोल, कदम्ब, वञ्जुल (वेत), पलाश (ढाक), सल्लकि, तिनिश, निम्ब (नीम), कुटज, वरगद, खैर, सर्ज (एक प्रकार का चूने वाला शाल-वृक्ष), अर्जुन, आम, जामुन—इन वृक्षों के समूह से निविड—घना—आच्छन्न था, (जहा) गर्वोन्नत सिहो के तेज नखो के अग्र भाग के प्रहार से चीर डाले गये मदोन्मत्त हाथियो के मस्तको से गिरे हुए, गहरे खून से लाल हुए मोती रूपी फूलो के समूह से मानो जिसका विशाल भू–भाग पूजित था, जो जंगली सूअर, शरभ (कथा-साहित्य मे वर्णित आठ पैरो वाला पशु, जो सिह से भी वलवान् माना जाता है), वैल, पसय-मृग विशेप, वाघ, लकडवग्घा, सफेद भालू, गीदड, हाथी गवय—गाय के सदृश पशु-विशेप, सिह तथा गैंडे आदि रुष्ट—कुपित और दुष्ट—घातक पशुओ से जो भयावह था, गर्विले, जगली भैंसो के समूह द्वारा मथे गये (समग्र) तालावो के पानी के उछलने से भयभीत जलचरो (जल के जीवो) के चिघाड़ से जहा दिशाए मानो वहरी हो रही थीं, उस विशाल वन मे उसने, जो प्यास और भूख से पीड़ित था, गर्वोन्नत, दुष्ट पशुओ का शब्द सुनने से जिसकी आखें भय से पथरा गई थी, लम्वे रास्ते की थकान के कारण निकले पसीने से जिसका सारा शरीर धुल गया था, दिशाओं का भ्रम हो जाने से ऊबड़-खावड रास्ते मे जिसके पैर लडखडा रहे थे, घूमते-घूमते एक जगली हाथी को देखा, जो प्रलय-काल के वादल जैसा (भयावह) था, अनेक राहगीरों का वढता हुआ उत्साह जिसके कारण मिट गया था, गधे की गर्जना (भौंकने) की तरह जिसकी (अप्रिय—भद्दी) चिघाड से विशाल वन मानो भर गया था, जो (हाथी) मार्ग से जल्दी-जल्दी दौडता हुआ, दण्ड की तरह अपनी सूड को ऊपर किये आ रहा था ।

सामने हाथ में तेज तलवार लिये हुए, भयानक मुह तथा शरीर वाली, भीषरण अट्टहास करती हुई, काले वस्त्र पहने हुए दुष्ट राक्षसी थी। उसे देख मौत के भय से उसका शरीर कांपने लगा। उसने सब दिशाओं की ओर देखा। उसे पूर्व दिशा मे उदयाचल की चोटी के समान महान् वरगद का पेड, जो (उदयाचल की तरह ऊचाई और सघनता के कारण) सिद्धो—विद्या, मन्त्र आदि मे सिद्धि प्राप्त विशिष्ट पुरुषों तथा गन्धर्वो (देवयोनि-विशेष) के जोड़ो के आकाश मे विचरने का मार्ग रोके हुए था, दिखाई दिया। उसे देखकर वह सोचने लगा, क्या करूं—

यदि मैं किसी तरह इस वरगद के पेड पर, जिसके सघन पत्ते सूर्य के घोडो के खुरो के अग्र भाग से छिन्न-भिन्न हो गये है, चढ जाऊं तो इस गजराज से मेरा छुटकारा हो जाए, यो सोचकर वह भयभीत पुरुष, जिसकी पगथलिया डाभ के सूई जैसे (तीखे) सिरो से बिंध गई थी, शीघ्रता से दौडता-दौडता उस विशाल वरगद के पेड के पास आया। आकाश मे विचरने वाले प्राणियो द्वारा भी वडी कठिनाई से लाघे जाने योग्य, अत्यन्त ऊचे तने वाले उस वरगद को देखकर उस पर चढ़ने मे अपने को असमर्थ पाकर वह दुखी हो गया।

इतने मे उसने उस जगली दुष्ट हाथी को, जिसकी विशाल कनपटी भौंरो के समूह से मुक्त थी तथा जो शीघ्रता से वरगद के समीपवर्ती स्थान की ओर वढा आ रहा था, देखा।

अत्यधिक भय से उसके सारे अग कापने लगे, उसके मुख पर त्रास—घवराहट छा गई, आखे अस्थिर हो गई। इधर-उधर निकलते हुए तिनको से ढका एक कुआ दिखाई दिया।

मृत्यु से भयभीत उस पुरुप ने वरगद के समीप स्थित पुराने कुंए मे क्षरण भर के जीवन के लोभ से विना किसी सहारे के अपने को गिरा दिया।

उस कुंए की ऊची दीवार मे उगा हुआ एक सरकडा था, जिसमे (जिसे पकड कर) वह (पुरुप) लटक गया। उसे वहां भयानक सर्प दिखाई दिये, जो उसके गिरने के धड़के से क्रुद्ध थे। वे सर्प कुए के चारो ओर की दीवारो पर लगे थे। उनकी आखो से विपाग्नि की लपटे निकल रही थी। उनके फण विशाल और भयावह थे। उनके शरीर हिल रहे थे। वे डसने को उतारू थे।

नीचे एक काला और अपनी लाल-लाल आखो से भयानक लगने वाला, जो अपने फुकार से मानो अपना होना सूचित कर रहा था, अजगर था। उसने अपना मुह फाड रखा था। दिग्गज—दिशाओ की रक्षा करने वाले हाथियों की सूंड की तरह उसका शरीर मोटा था।

जव तक यह सरकडा है, तव तक मेरा जीवन है, यो सोचता हुआ जव वह (पुरुष) ऊपर मुह किये देखता है तो उसे एक सफेद और एक काला—दो चूहे दिखाई देते है, जिनकी दाढे वडी तीखी थी, जो वडे-वडे शरीर वाले थे, जो निरन्तर मुह खोले जल्दी जल्दी उस सरकडे की जडो को कुतर रहे थे।

उस मनुष्य को न पाने से उस जगली हाथी ने क्रुद्ध होकर उस वरगद के पेड को जोर-जोर से धकेला—हिलाया।

कुए पर स्थित उस वरगद के पेड के हिलने पर उसकी विशाल शाखा पर उत्पन्न (शहद के छाते के टूट जाने से) शहद की धारा (वूदे) उस पुराने कुए मे गिरने लगी।

तव क्रुद्ध, दुष्ट वहुत सी भौरिया उस मनुष्य के सारे शरीर को काटने लगी। सयोगवश उसके सिर पर कुछ शहद की वूंदे गिरी।

सिर से नीचे उतर कर—टपक कर शहद की कुछ वूदे उसके मुंह मे प्रविष्ट हो गई। वह क्षण भर के लिए उनका तथा वाद मे गिरने वाली वूदो का स्वाद लेना चाहने लगा।

अजगर, साप, हाथी और चूहो द्वारा किये जाते ध्वस तथा मधुकरियो (द्वारा काटे जाते रहने) का भय—इनको न गिनता हुआ वह शहद की वूदो का रस चखने के लोभ से हर्पित हो गया।

सांसारिक जनो के मोह को मिटाने के लिए प्रर्याप्त (यथेप्ट) यह उदाहरण कल्पित किया गया है। इसका सारांश सुने।

(यहा वर्णित) पुरुप जीव है। वन मे भटकना चार गतियो मे भटकना है। जगली हाथी मृत्यु है। राक्षसी वृद्धावस्था है (राक्षसी वृद्धावस्था जाने)। वरगद का वृक्ष मृत्यु रूपी हाथी के भय मे रहित मोक्ष है। जो पुरुप सांसारिक भोगो मे लोलुप हैं, वे उस पर नही चढ सकते। कुंआ मनुष्य-भव है। सांप (क्रोध, मान, माया व लोभ रूप कपाय है, जिनसे खाया जाता—ग्रसा जाता मनुष्य कार्य (करने योग्य)

तथा अकार्य (न करने योग्य) नही जान पाता । सरकडा जीवन या आयु है, जिससे जीव जीता है । काले और सफेद चूहो के समान कृष्ण तथा शुक्ल पक्ष दृढता से आयु की जडें खोद रहे हैं । जो मधुकरिया काट रही हैं, वे शरीर मे होने वाले तरह तरह के रोग है, जिनसे पीडित होता हुआ मनुष्य पल भर भी सुख नही पाता । अजगर घोर नरक है । सांसारिक भागो मे जिसका मन मोहित है, ऐसा पुरुष उसमे गिरकर हजारो तरह के कष्ट पाता है । सासारिक भोग शहद की बू दो के समान है, जो तुच्छ (नि सार) हैं तथा परिणाम मे अत्यन्त भयावह हैं । इसलिए विवेकशील मनुष्य आसक्ति के दु ख मे फस कर क्यो उन्हे भोगना चाहे ? इसलिए हे श्रावक ! मेरा तुम्हे कहना है, सासारिक भोगो के सुख को भयावह जानते हुए मनुष्य-जीवन को चचल विजली की चमक की तरह क्षण भर मे नष्ट होने वाला समझो । स्वजनो—पारिवारिक जनो के समागम (मिलन) का सुख चचल है—निरन्तर नही रहता । यौवन असार है । धर्म सुख का निधान है । उसमे अपनी बुद्धि को सदा दृढ वनाये रखो ।

सिंहकुमार ने कहा—वह धर्म किस प्रकार का है ? आचार्य भगवान् ने वताया—सुनो, वह क्षमा आदि है । कहा गया है—

शान्ति, मृदुता, ऋजुता, मुक्ति, तप, संयम, सत्य, शौच, अकिञ्चनता तथा ब्रह्मचर्य—यह श्रमण-धर्म है ।

सम्यक् ज्ञानपूर्वक वस्तु-स्वभाव के चिन्तन से क्रोध का अनुदय उदय न होना और उदय मे आये हुए (क्रोध) को निष्फल करना शान्ति है ।

मान (अभिमान) का उदय न होना तथा उदय मे आये हुए (मान) को विफल करना मृदुता है ।

माया का उदय न होना और उदय-प्राप्त (माया) को विफल करना ऋजुता है ।

लोभ का उदय न होना व उदय में आये हुए (लोभ) को निष्फल करना मुक्ति है ।

तप दो प्रकार का है—वाह्य (वाहरी) और आन्तरिक (भीतरी) । कहा गया है—

अनशन (आहार का त्याग), ऊनोदरिका (अल्प-आहार), वृत्ति-सक्षेप (अभिग्रह आदि द्वारा आहार की सीमावद्धता), रस त्याग, (दूध, दही, मक्खन आदि स्निग्ध पदार्थो का सेवन न करना), काय-क्लेश (आत्मशुद्धि की भावना से शीत, ताप आदि सहना) प्रतिसंलीनता (अशुभ योग—पापपूर्ण प्रवृत्ति से देह सकोच करना—हटाना)—ये वाह्य तप हैं ।

प्रायश्चित्त आदि आभ्यन्तर (भीतरी) तप है । जैसे—

प्रायश्चित्त—किये हुए पाप-कर्मो के लिए पछतावा तथा पुन' न करने का सकल्प ।

विनय—देव, गुरु, धर्म एव माता-पिता आदि पूज्यजनो के प्रति विनीत भाव ।

वैयावृत्त—आध्यात्मिक देव, गुरु एव धर्म की सेवा ।

स्वाध्याय—आध्यात्मिक दृष्टि से स्व—आत्मा, पर—पुद्गल का चिन्तन, पर से ममत्व का विसर्जन ।

ध्यान—मन, वचन, काया की एकाग्रतापूर्वक देव, गुरु, धर्म का चिन्तन, मनन ।

उत्सर्ग—(दैहिक प्रवृत्ति - हलन-चलन आदि का समय - विशेष के लिये त्याग)—ये आभ्यन्तर तप हैं ।

सयम सतरह प्रकार का है । कहा गया है—पाच (मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कषाय एव योग—अशुभ योग रूप) आस्रवो से विरति, पाच—श्रोत्रेन्द्रिय, चक्षुरिन्द्रिय, घ्राणेन्द्रिय, रसनेन्द्रिय तथा स्पर्शनेन्द्रिय) इन्द्रियो का नियन्त्रण, चार—(क्रोध, मान, माया व लोभ रूप) कषायो का विजय एवं तीन—(मन, वचन व शरीर के अशुभ व्यापार रूप) दण्डो मे विरति । (ये संयम के सतरह प्रकार है।)

निरवद्य—निष्पाप—निर्दोष भाषण सत्य है ।

संयम के प्रति निरुपलेपता अतिचार शून्यता (निरतिचार संयम-पालन) शौच है ।

धर्मोपकरण—धार्मिक जीवन के लिए अपेक्षित सामग्री के सिवाय

किसी पदार्थ का अग्रहण (ग्रहण न करना) अकिञ्चनता है।

अठारह प्रकार के अब्रह्मचर्य का त्याग ब्रह्मचर्य है।

यह इस प्रकार का श्रमण-धर्म है।

यह सुन कर सिंहकुमार ने, जिसे सम्यक्त्व परिणाम (भाव) उत्पन्न हो गया था, जिसने भावात्मक रूप मे श्रावक-धर्म स्वीकार कर लिया था, कहा—भगवन्! यह श्रमण-धर्म सुन्दर है। जो ऐसा करने (श्रमण-धर्म पालने) मे असमर्थ है, उसे क्या करना चाहिए? धर्मघोष ने कहा—श्रावकत्व (का पालन करना चाहिए)। वह कैसा है? सम्यक्त्व आदि के रूप मे उससे कहा ही गया है।

द्रव्य रूप मे (बाहरी रूप मे) भी सिंहकुमार ने उसे (श्रावक-धर्म को) स्वीकार किया। यो अपने आपको कृतकृत्य मानता हुआ, कुछ समय धर्मघोष की पर्युपासना—सान्निध्य लाभ कर, उन्हे विनय-पूर्वक वन्दन कर वह नगर मे प्रविष्ट हुआ।

उसने कुसुमावली को यह वृत्तान्त कहा। कर्मों के कुछ क्षयोपशम से उस (कुसुमावली) ने भी श्रावक-धर्म स्वीकार किया। प्रतिदिन धर्मघोष आचार्य की पर्युपासना—सान्निध्य लाभ लेते हुए उनको एक महीना व्यतीत हो गया। वे दोनो जिन-धर्म से अनुभावित होते रहे।

फिर राजा पुरुषदत्त ने अमिततेजस नामक गुरु के पास धर्म सुनकर, सिंहकुमार का राज्याभिषेक कर वैराग्यपूर्वक महारानी श्रीकान्ता के साथ मोक्ष-मार्ग का अवलम्बन किया। सिंहकुमार भी धर्म और अधर्म की व्यवस्था (धर्म के प्रश्रय और अधर्म के परिहार) पूर्वक प्रजा का पालन करने मे सलग्न हुआ। वह सब लोगो के मन को आनन्दित करने वाला था (सब उससे प्रसन्न थे)। सामन्त—माण्डलिक—कर देने वाले राजा उसमे अनुरक्त थे। गरीब असहाय तथा दुःखी जनो का उपकार करने मे उसे अनुराग था। जो जो उचित हैं, वैसे गुणों से युक्त होता हुआ वह राजर्षि (उत्तम या पवित्र राजा) के रूप मे प्रतिष्ठित हो गया। अत्यन्त अनुरागशीला प्रेयसी की तरह पृथ्वी का भोग करते हुए उसका कुछ समय व्यतीत हुआ।

इस बीच वह अग्निशर्मा तापस विद्युत्कुमार देव के देह से च्युत होकर, संसार मे भटक कर, पिछले भव मे कुछ अज्ञान-तप सपादित

कर, उस शरीर को छोड़ कर पूर्वकृत कर्मों की वासना के विपाक (फल) मे दोप से वह कुसुमावली की कोख मे आया। कुसुमावली ने सपना देखा—जैसे मेरे पेट मे साप प्रवेश कर रहा है, उस साप ने निकल कर (पेट से बाहर आकर) राजा को डस लिया, राजा सिंहासन से गिर पडा। राजा को (उस अवस्था मे) देख कर कुसुमावली भयभीत होती हुई जग गई। इसे अशुभ मान कर उसने अपने प्रियतम (राजा) को नही बताया। उसका गर्भ बढता गया। उसके दोप से उसने राजा का बहुमान—विशेप आदर करना छोड़ दिया। राजा का उसके प्रति बहुत स्नेह था। नौकर-चाकरो ने महारानी से कहा—स्वामिनी ! यह (राजा के प्रति आपका यह बहुमान-रहित व्यवहार) उचित नही है। उस (कुसुमावली) ने कहा—मैं ऐसा क्या करती हूँ ? परिजन वर्ग ने कहा—आप राजा का विशेष आदर-सत्कार नही करती हैं। उसने कहा—यह मेरे गर्भ का दोप मालूम होता है। अन्यथा मै आर्यपुत्र (पतिदेव) का बहुमान कैसे नही करू ?

तदनन्तर एक बार रानी को दोहद (गर्भवती की प्रबल रुचि) हुआ कि मैं इस (अपने पति) राजा की आते खाऊ। वह सोचने लगी—मेरा यह गर्भ पापी है। इसलिए इसकी आवश्यकता नही। स्त्री-स्वभाववश पति-प्रेम से उसका ऐसा विचार हुआ कि इस गर्भ को गिरा दूं। उसने अपनी मुख्य सेविकाओ से विचार विमर्श किया। (दोहद के भयावह रूप के कारण) उन्होने इसका अनुमोदन किया। वह (महारानी) गर्भ गिराने का प्रयत्न करने लगी। निकाचित (फल भोगे विना नही मिटने वाले) कर्म के दोप के कारण गर्भ नही गिरा। तब वह (रानी) अनेक प्रकार की औपधियां पीने से तथा दोहद की प्राप्ति-पूर्ति न होने से बहुत कमजोर होने लगी। राजा ने उसे पूछा-सुन्दरी ! तुम्हारा क्या कार्य नही हो रहा है, अथवा किसने तुम्हारी आज्ञा का उल्लघन किया है, जिससे तुम थोड़े जल मे स्थित कुमुदिनी की तरह शोक से क्षीण होती जा रही हो ? तब हृदय मे स्नेह लिये कुसुमावली ने कहा—आर्यपुत्र ! मुझे इतना विपाद (दुःख) है, जिससे सोचती हूँ, अपने आपको मार डालूं। राजा ने कहा—सुन्दरी इसका क्या कारण है ? कुसुमावली ने कहा—आर्यपुत्र ! मेरे भाग्य से पूछें। यो कहते हुए उसकी आंखो मे आंसू आ गये और वह गद्गद् हो गई। तब राजा यह विचार करने लगा कि इसे भारी शोक है, इस विपय मे

चर्चा नही करनी चाहिए । इसलिए मैं यह चर्चा वन्द कर दूं । यों सोचकर उसने वह चर्चा वन्द करदी और दूसरा प्रसग चालू किया ।

राजा ने फिर मदनलेखा आदि परिजन-वृन्द को बुलाया और वहुत आदरपूर्वक उन्हे कहा–कारण सुनने पर भी, जानते हुए भी कृष्ण-पक्ष के चन्द्रमा की तरह क्षीण होती जाती महारानी की इस प्रकार उपेक्षा करना क्या तुम लोगो के लिए उचित है ? (महारानी के) शोक को मिटाने वाली वह वस्तु असाध्य नही हो सकती, क्योकि महा-रानी मेरे लिए इस ससार मे सारभूत-सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है । वैसो क्या वस्तु है, जो मेरे जीते जी महारानी के लिए न जुटाई जा सके । मदनलेखा ने कहा—महाराज ! ठीक कहते हैं । स्त्रियो मे स्वभावत· होने वाला विवेक का अभाव ही यहा अपराध है । आप सुने, महाराज ! अव भी वह कहने का साहस नही होता पर (कहे विना) कोई चारा नही है, यो सोचकर कह रही हूँ । राजा ने कहा, तुम्हारी घवराहट ठीक ही है । जो उपाय से सध सकता है, उसे स्वय कर लिया जाता है पर जो दूसरा–उससे भिन्न (उपाय से न सध सकने योग्य) है, उसे (दूसरे को) वतलाना होता है । इसलिए वतलाओ, वस्तु–स्थिति क्या है ? तव मदनलेखा ने डरते–डरते गर्भ के उत्पन्न होने से लेकर दोहद दोष-दूषित दोहद का होना गर्भ के नाश के उपाय तक का सारा वृत्तान्त कह सुनाया । राजा सोचने लगा—अहो ! महारानी का मेरे प्रति असाधारण प्रेम है, जिससे वच्चे के जन्म का भी उसके लिए महत्त्व नही है । दोहद की पूर्ति न होने से कही उसका गर्भ सकट–ग्रस्त न हो जाए, अत. मुझे (दोहद–पूर्ति का) कोई उपाय सोचना चाहिए । "मैं समयोचित जो कहूँ, तुम लोग वैसा करना," कहकर राजा ने महा-रानी के परिजन वृन्द को वहा से भेज दिया । मतिसागर नामक महा मन्त्री को बुलाया । उसे वह वृत्तान्त कहा । वह (मतिसागर) सोचने लगा—महारानी ने ठीक किया । अथवा उसके इस उपाय से उसकी देह को तो कष्ट होगा ही, जो नही होना चाहिए । इसलिए एक और उपाय सोचता हूँ, जो इस प्रकार है—भोजन न किये हुए राजा के पेट के वाहर वनावटी आते लगाकर, उन पर महीन वस्त्र सटाकर महारानी के देखते वे निकाल कर दी जाए । फिर गर्भ का प्रसव हो जाने (वच्चे का जन्म हो जाने) के पश्चात् आगे विचार करेंगे । यो चिन्तन कर राजा को अपना अभिप्राय वतलाया । राजा ने उसे वहुमान दिया (आदर

पूर्वक माना) मतिसागर ने महारानी से कहा—स्वामिनी ! महाराज की आते इस प्रकार निकाल लेंगे, जिससे उन्हें कष्ट नही होगा। गर्भ-जनित स्वभाव गत निर्दयता के कारण उस (रानी) ने वैसा स्वीकार कर लिया। (तदनुसार) वह उपाय किया गया। दोहद पूरा हो गया। बाद मे दुखित हुई रानी को राजा के दर्शन करा दिये गये। वह आश्वस्त हो गई (उसे तसल्ली हो गई)। मन्त्री ने कहा स्वामिनी ! प्रसव होते ही राजा को शिशु के जन्म के सम्बन्ध मे निवेदन मत कीजियेगा। मुझे सूचित कीजियेगा। उसके बाद जैसा उचित होगा, करूगा। रानी ने यह स्वीकार कर लिया। फिर उचित समय मे दिन के लगभग अस्त होने के वक्त महारानी के प्रसव हुआ। उसने मतिसागर को बुलाया। मतिसागर ने कहा - स्वामिनी ! यह गर्भ—शिशु राजा के लिए अमगलकारी दिखाई देता है। इसलिए इसे अपने पास नही रखें, और कही इसका पालन-पोषण कराएं। शिशु मरा हुआ था, राजा को ऐसा निवेदन कर दे। रानी ने कहा -यह उचित है। मन्त्री ने मेरे ही मन की (जैसी मेरे मन मे आई) मन्त्रणा—सलाह दी है। तब माधविका नामक दासी के हाथ बच्चे को (अन्यत्र) भिजवाया गया। वह थोड़ी ही दूर गई थी कि इस बीच राजा ने उसे देख लिया और पूछा—यह क्या है ? तब भय से कापती हुई माधविका ने कहा—देव ! कुछ भी नही है। इस बीच बच्चा रोने लगा। तब बच्चे को देख कर राजा ने क्रुद्ध होकर कहा—अरी पापिन ! क्या करने जा रही हो ? इस पर नारी-सुलभ भीरुता के कारण माधविका ने सारा हाल कह सुनाया। तब राजा ने बच्चे को लिया। उसने सोचा—यह इनके हाथो मे जीवित नही रह पायेगा। इसलिए दूसरी धायो (दाइयो) को सौंपकर उन्हे हिदायत कर दी कि बच्चे के लालन-पालन मे जरा भी असावधानी हुई तो मेरे हाथ से तुम मार डाली जाओगी। राजा ने महारानी और मतिसागर को फटकारा। फिर महारानी और मन्त्री के विचार (भावना) के अनुसार साधारण सा, अप्रकट सा बधाई का समारोह करवाया। इस प्रकार कुछ समय व्यतीत हो गया। बच्चे का नाम आनन्द रखा गया। वह (उत्तरोत्तर) बढने लगा। उसे कलाओ की शिक्षा दिलाई गई। पहले के कर्मो के दोष के कारण राजा के प्रति उसके चित्त मे प्रतिकूलता थी। राजा ने उसे युवराज पद दिया।

एक बार समीपवर्ती जगली प्रदेश के दुर्मति नामक सामन्त (कर देने वाले, अधीनस्थ) राजा ने अपने किले, भूमि और सेना के घमण्ड से सिह राजा की राज्य-सीमा को पार कर दिया (सीमा पर अपना अधिकार जमा लिया)। राजा को यह निवेदित किया गया। राजा ने अपनी सेना भेजी। अपनी भूमि और सेना की विशेपता के कारण दुर्मति द्वारा वह (राजा सिह की) सेना हरा दी गई। राजा यह निवेदित किये जाने पर क्रुद्ध हो उठा। कोपाविष्ट हो, उसने स्वय प्रस्थान किया। तीन मजिलें पार की। सिन्धु नदी के रेतीले किनारे पर से यह प्रस्थान चल ही रहा था कि इस बीच श्रेष्ठ हाथी पर बैठे हुए राजा ने जल से अधिक दूर नही, समीप ही "अहो! कष्ट है" यो कहते हुए मनुष्यो का समूह देखा। राजा उस स्थान की ओर गया और उसने एक विशालकाय, अत्यन्त काले, बूढे साप को देखा, जो अपनी आँखो से निकलती हुई विप की ज्वाला से उद्दीप्त (दैदीप्यमान) था, जिसने चिल्लाते हुए मेढक को अपने मुह मे दबोच रखा था, खुले हुए भयानक मुंह के कारण जिसकी ओर देखना तक कठिन था। उस साँप के अग बडी तेजी से काप रहे थे। एक बडा समुद्री उकाब (गिद्ध) उस (साप) को निगलता जा रहा था। वह (गिद्ध) दिग्गजो-दिशाओ की रक्षा करने वाले हाथियो की सूड के समान मोटी देह वाले, अपनी लाल-लाल आँखो से भयावह लगने वाले अजगर द्वारा निगला जा रहा था। जैसे-जैसे अजगर गिद्ध को निगलता जा रहा था, वैसे-वैसे वह गिद्ध भी उस बूडे साप को निगलता जाता था और वह बूढा साप भी उस चीखते हुए मेढक को निगलता जाता था। प्राणि-लोक-ससार के स्वभाव की लीला, जो मूर्ख लोगो के हृदय को आनन्द देने वाली तथा सत्पुरुषो के वैराग्य का कारण है, यो जिसमे अनेक (परस्पर-प्रतिकूल) वातो का सम्मिश्रण है, को देख कर राजा विपादयुक्त हो गया। वह सोचने लगा—ऐसी स्थिति मे फिर क्या उपाय है? अजगर द्वारा कुरर पक्षी (गिद्ध) प्राय. निगला जा चुका है, कुरर द्वारा साप और साप द्वारा मेढक। इन सवके प्राण कण्ठो मे आ गये हैं, फिर भी एक दूसरे को छोडते नही हैं प्रत्युत ग्रस लेने का और अधिक प्रयत्न करते हैं। उन जीवो को वैसी स्थिति मे देख, राजा किसी भी तरह उन्हे वचा सकने में अपने आपको असमर्थ महसूस करता हुआ अफसोस के साथ वहा से चला गया।

अस्तु—मदोन्मत्त हाथी का (वहा से) हाँका। राजा (सेना

के) ठहरने के स्थान पर गया । सेना के साथ ठहरा । जो करना उचित था, किया । आधी रात वीतने पर सोया हुआ राजा जगा । अजगर आदि की घटना को याद कर सोचने लगा—यह कैसी स्थिति है—

सासारिक भोग विप के तुल्य हैं । प्राप्त होते ही वे मधुर लगते हैं पर परिणाम मे (वे) नीरस हैं । अज्ञानी लोग उन्हे वहुत मानते हैं । ज्ञानीजन उन्हे पापमय समझ कर उनका वर्जन करते हैं । लौकिक सुख मे अभिरत व्यक्ति उनके लिए शाश्वत धर्म को छोड़ कर उसी प्रकार पाप सेवन करते हैं, जिस प्रकार जीवन चाहने वाला कोई (व्यक्ति) विप का सेवन करे ।

दु ख पाप का फल है । धर्म पाप का नाशक है । दु खी या सुखी—जैसा भी व्यक्ति हो, धर्म के फल को जानता हुआ उसका आचरण करे ।

मेढक के समान तुच्छ व्यक्ति सांप के समान किसी दूसरे व्यक्ति के द्वारा और वह भी कुरर (समुद्री गिद्ध) जैसे किसी दूसरे के द्वारा निगला जा रहा है और वह (कुरर) भी स्वाधीन नही है वह अजगर रूपी यमराज के अधीन है । इस तरह के इस लोक मे सासारिक भोगों के विपय मे वहुत वडा मोह—आसक्त भाव दिखाई देता है । इसलिए अनेक प्रकार के दु ख रूपी वृक्ष के वीज-स्वरूप, अत्यधिक अहम यता—अभिमान के दोप से परिपूरित राज्य से मुझे क्या ? राज्य की पूर्ति पाताल को भरने की तरह कठिन है । पुराने मकान मे जिस प्रकार अनेक विल-छेद होते हैं, उसी प्रकार राज्य छिद्रपूर्ण (विघ्न-वाधा रूपी छिद्रो से भरा हुआ) है, दुप्टो की सगति की तरह इसका अन्त विरस—दुःखद है, वेश्या के हृदय की तरह धन की लिप्सा से युक्त है, वांवी जिस प्रकार वहुत से सापों से युक्त होती है, उसी प्रकार यह वहुत से लम्पट (राज) मित्रों से युक्त है, प्राणि-लोक की तरह इसके कार्य अस्थिर-नश्वर हैं, साप की पिटारी की तरह यह सावधानी से पालने योग्य है, विश्वस्तता से उत्पन्न होने वाले सुखो का यह अनजान है । (यहां विश्वास के लिए अवकाश नहीं है) । वेश्या की जवानी की तरह वहुत लोग इनकी (इसे पाने की) अभिलापा करते हैं, शुद्ध परलोक के मार्ग का—धर्मसाधना का यह वाधक है । इसलिए इसका परित्याग

कर हम धैर्यशील पुरुषो द्वारा सेवित, इह (इस) लोक और परलोक-दोनो मे सुख देने वाले श्रमण-धर्म मे प्रव्रजित हो । क्या इससे मेरे जीवन के चालू क्रम (वर्तमान स्थिति) में हलकापन नही दीखेगा ? अथवा यदि हलकापन है भी तो थोडा-सा है और केवल एक जन्म से जुडा हुआ है। यो सोचते हुए रात बीत गई। राजा ने प्रात:कालीन कृत्य (करने योग्य कर्म) किये । वह मन्त्रिमण्डल मे आया ।

इस बीच विजयवती नामक पहरेदारिन ने निवेदन किया कि महाराज ! यह (सामन्तराज) दुर्मति आपको स्वय प्रस्थान कर आये हुए जान कर आपके कठोर शासन से अवगत होकर अपनी गर्दन मे कुल्हाडा बाधे हुए, आपके शासन का उल्लघन करने का पश्चात्ताप करता हुआ, कई पुरुषो से घिरा हुआ आपके दर्शन की अभिलाषा से यहा आया है, द्वार के बाहर ठहरा है ।

अत देव ही प्रमाण हैं (जैसी आप आज्ञा करे) । यह सुन कर राजा ने मतिसागर की ओर देखा । वह (मन्त्री मतिसागर), जो सकेत और आकार को देख कर वस्तुस्थिति समझने मे प्रवीण था, बोला—वह प्रवेश करे, इसमे क्या दोष है ? राजा शरण मे आये हुओ पर दयालु होते ही है । तब राजा द्वारा आज्ञा दिये जाने पर दुर्मति ने प्रवेश किया । "राजन् ! यह मेरी गर्दन है और यह कुल्हाडा है" यो कह कर वह राजा के पैरो पर गिर पडा । राजा ने उसे अभय दिया और उसका बहुमान किया (उसका सम्मान बढाया) । (इधर के कार्य से) निवृत्त होकर राजा जयपुर गया। राजा ने अपने मन्त्रियो को अपना मनोभाव बतलाया । मन्त्रियो ने कहा, इस वश मे उत्पन्न होने वाले और भी सब राजाओ का ऐसा कृत्य-करणीय (करने योग्य) रहा है, जिनेश्वर वाणी से अनुभावित बुद्धि वाले आपका तो कहना ही क्या ? महाराज का जीवन इहलोक और परलोक दोनो की दृष्टि से एक-सा सफल है । वासना और भोग (सासारिक विषय-भोग) वन की आग के समान हैं । वे इन्धन की तरह जलाते है । उनका परि-पाक-परिणाम किंपाकफल (देखने व चखने मे सुन्दर पर परिणाम मे मारक) के समान है । सुरो और असुरो को जीतने वाली मृत्यु सहसा मन की इच्छाओ को भग्न कर डालने मे सक्षम है, यह देख कर-सोच कर आपने इस ओर विशेष गौर किया है (जो सर्वथा उचित है) ।

राजा ने ज्योतिषियो को बुलाया, उन्हे कहा आनन्दकुमार के

राज्याभिषेक का दिन वतलाए। वे वोले-जैसी महाराज की आज्ञा। उन्होने देख कर-गवेषणा कर (तव से) पाचवा दिन वतलाया। तव राज्याभिषेक के लिए माङ्गलिक वस्तुए लाई गई। जैसे- मछलियो का जोडा, पूर्ण कलश, सफेद फूल, सफेद कमल, मिठाई, मिट्टी का पिण्ड, वैल, दही से भरा हुआ वडा पात्र, वडे (वहुमूल्य) रत्न, गोरोचन, सिह का चमडा, सफेद छत्र, राजसिहासन, चवर, दूव, स्वच्छ मदिरा, वडी ध्वजा, हाथी का मद, धान्य, रेशमी वस्त्र (आदि और भी शुभ वस्तुए लाई गई)। इस वीच राजा सोचने लगा— आनन्दकुमार का राजतिलक करने के पश्चात् धर्मघोष गुरु के पास जाऊगा। यो विचार करता हुआ वह राज्याभिषेक के दिन की प्रतीक्षा करने लगा।

इधर पहले किये कर्मो के दोष से राजा के मनोभावो को नही जानता हुआ आनन्दकुमार दुर्मति से मिल गया। दोनो ने सलाह की- किसी प्रकार धोखा करके राजा को मार डाले। उन्होने राज्याभिषेक का हाल सुना। झूठी आसक्ति और अपने चित्त की दुष्ट-वृत्ति के कारण आनन्द को वह विपरीत प्रतीत हुआ (उल्टा लगा)। उसने सोचा - निश्चय ही इस वहाने से यह मुझे मारने का प्रयत्न है। तव क्यो मैं इस प्रकार छला जाऊं? यदि यह वृत्तान्त सत्य भी है तो भी मुझे (इस प्रकार) राज्य नही चाहिए। यह तो मेरे लिए दिया हुआ राज्य होगा। प्रशसा योग्य तो वह है, जो मै इसे (राजा को) मार कर वलपूर्वक प्राप्त करू।

इस वीच राजा ने आनन्द को वुलाया। जव आनन्द ने नही आना चाहा तो पहरेदार को साथ लिये राजा कुमार के महल मे गया। उसने भी "इससे अधिक सुन्दर अवसर नही होगा" यो विचार कर पहले के सस्कार-दोष से "मारो-मारो" यो कहते हुए नगी तलवार से पहरेदार को मार कर, राजा को, जिसने अपनी सुरक्षा की कोई व्यवस्था नही कर रखी थी, जो मन मे (पुत्र के प्रति) भली-भाति विश्वस्त था, वुरी तरह घायल कर दिया। इस वीच कोलाहल हुआ, नगर की सेना क्षुब्ध-उत्तेजित हो उठी। राज-सेना ने आनन्द को चारों ओर से घेर लिया। युद्ध शुरु हो गया। तव राजा ने सेना को अपने शरीर की सौगन्ध दिलाते हुए कहा— अव तुम्हारे युद्ध करने से क्या लाभ है? मुझे तो मारा हुआ जानो। इसे मत मारो, इसका राजतिलक कर दो, यही तुम्हारा राजा है। इस वीच आनन्दकुमार ने दुर्मति को

आज्ञा दी इसे (राजा को) कस कर बाध लो । "जैसी कुमार की आज्ञा" यो कह कर दुर्मति समीप आया । उसने कुलपुत्रो (उच्चकुलीन सरदारो के पुत्रो) को गिरा दिया—मार डाला, नागरिको को धन-काया । राजा को वधवा कर अपने विश्वासी आदमियो की निगरानी मे दे दिया । यो आनन्द ने राज्य पर अधिकार किया, व्यवस्था जमाई, सामन्तो को अनुकूल वनाया । तव अपने (कलुषित) सस्कार के कारण उसने राजा को नगर के कारागृह मे डलवा दिया । वह अत्यधिक मथी जाती विष्ठा, कीचड और मैल की वदवू से भरा था, जहा फूटी हुई भीतो मे साप सोये पडे थे, जहा मच्छरो और मक्खियो का समूह भिन भिना रहा था, गुफाओ—काल-कोठरियो के विलो मे से जहां झुण्ड के झुण्ड चूहे निकल रहे थे, जहां ऊपर की ओर सांपो के कैंचुल लटक रहे थे, मकडियो के जालो की जहा मानो चादनी तनी हुई थी, दु षमा (आरक) का मानो जो निवास-गृह था, अधर्म का मानो क्रीड़ास्थल था, सीमन्तक (प्रथम नरकभूमि के एक नरकावास) का वह मानो सगा भाई था, सारे दु ख-समुदाय का मानो वह मित्र था, समग्र पोडाओ का मानो वह कुल-परम्परागत घर था, मानो मृत्यु का विश्वास योग्य स्थान था तथा यमराज का मानो वह सिद्धिक्षेत्र था। तव सहसा यह सुन कर कि "महाराज महाकारागृह मे डाल दिये गये है" महारानी कुसुमावली आदि सारा रनवास रनवास की महिलाए क्रन्दन-रुदन करने से जो भयानक लग रही थी जिनकी आँखो से निरन्तर गिरती हुई वडे-वडे मोतियो के समान, कज्जल रहित— उज्ज्वल आसुओ को वून्दो से मानो मोतियो के हार की सी शोभा घटित हो रही थी, राजा के दु ख से जिनके शरीर परिम्लान-खिन्न हो रहे थे, (मानो राजा का दु ख उनमे समाविष्ट हो गया हो), नियुक्त राजपुरुष जिन्हे रोक रहे थे, पर जिनके (भुजाओ के) मङ्गलमय मणियो के कङ्कणो से झनझनाहट भरी तेज ध्वनि निकल रही थी, अपनी उन भुजाओ से उन्हे वलपूर्वक हटा कर अपनी छाती और पेट कूटती हुई जो आगे वढ रही थी, अनुचित ऊवड़-खावड भूमि पर चलने से जिनके मुंह मे सास फूल रहा था, जिनके लम्वे वालो ने अपनी कुटिलता—टेढापन छोडते हुए (मुह पर सीधे लटकते हुए), मानो यह सूचना करते हुए कि महाराज की दशा देखने योग्य नही है, उनके नयन-प्रसर दृष्टि-प्रसार को रोक रखा था, कारावास मे आईं । उन्होने काल के समान लोह की बेड़ियो से राजा को जकड़ा हुआ देखा । तव

वे नारिया अशोक के पत्तो के समान अपने हाथो से अपना वक्ष.स्थल, जो मानो हाररूपी लता को धारण किये रहने से श्रान्त था, पीटती हुई मानो यह दिखलाती हुई कि यह ससार अनुचित कार्य से भरा है, और अधिक रुदन करने लगी। तब राजा ने तथा पुलिस-अधिकारियो ने किसी प्रकार उन्हे रोका। राजा ने कहा—इस शोक से क्या लाभ जिसका फल केवल परिश्रान्ति या कष्ट है तथा जो पाप का बन्धन करता है। इस ससार का रूप अत्यन्त विचित्र है। सारे प्राणी इस ससार के खिलौने हैं। पहले किये हुए कर्मो के फल को रोकना बहुत कठिन है। लक्ष्मी बादलो के बीच से चमकती बिजली के वलय—घेरे के समान चचल है। मिलन सपने जैसा है। रागपूर्ण क्रीड़ाओ—रगरेलियो का इसी प्रकार का अन्त होता है। अज्ञानी लोगो के समान यो विलाप करने से क्या लाभ है? ससार मे सारभूत जिन-वचन तुम्हे प्राप्त है ही। इसलिए उसी का अनुष्ठान-अनुसरण करो। उसे छोड कर दुःख-नाश का और कोई उपाय नही है। तब यह सुन कर 'यह ऐसा ही है अन्यथा नही।" इस प्रकार राजा की बात का अनुमोदन करती हुई तथा जीवन से अनासक्त होकर आनन्द की आज्ञा के बिना ही उन्होने गन्धवदत्ता नामक विद्याधर-श्रमणी के पास दीक्षा स्वीकार करली।

इधर हर रोज पीडा दिये जाते रहने पर भी क्रोध के अधीन न होते हुए, "मेरा जीवन इतना ही है, अब अनशन— आहार त्याग करना समयोचित है," यो चिन्तन करते हुए राजा ने (आमरण) अनशन स्वीकार कर लिया। पुलिस अधिकारियो ने राजा (आनन्द) को यह निवेदित किया। वह क्रुद्ध हो गया। उसने देवशर्मा नामक अपने एक बडे-वृद्ध या विशिष्ट व्यक्ति को भेजा, कहा—जाओ, राजा को भोजन कराओ। उसे कहो—यदि वह भोजन नही करेगा तो निश्चय ही मैं उसे मार डालूगा। देवशर्मा गया। उसने राजा को देखा और कहा—देव! भाग्य के वशीभूत प्राणियो के कर्मो की गति बड़ी विचित्र होती है। वह देव—भाग्य ऐसा है, जो विनय से प्रसन्न नही किया जा सकता, गुणियो के भी यह अवगुण ग्रहण करता है, अभिलपित का समय नही जानता (उसे पूरा होने का समय ही नही देता), मनुष्यो के लिए वह केवल अनर्थ-रूप है, मदोन्मत्त हाथी की तरह वह स्वच्छन्दतापूर्वक विचरण करता है, गङ्गा के प्रवाह की तरह वह सरल और कुटिल है, महायुद्ध की तरह वह मारने मे निपुण है, विप-ग्रन्थि की तरह वह

रसो के विपरीत है, जिनकी अभिलाषा की जाती है, उनके वह प्रतिकूल है (उन्हें प्राप्त नहीं होने देता) तथा जिनकी अभिलाषा नहीं की जाती; उनके वह अनुकूल है (उन्हे प्राप्त कराता है) । यद्यपि वह (भाग्य) ऐसा है, तो भी पुरुष को क्षण-भर के लिए भी पुरुषार्थ नही छोड़ना चाहिए । महाराज ! पहले उपार्जित किये हुए कर्मों का नाम ही भाग्य है और वह पुरुपार्थ द्वारा जीते जा सकने योग्य है । इसलिये महाराज ! आप पुरुषार्थ का अवलम्बन करें (सहारा ले) तथा भोजन ग्रहण करें । जीता हुआ मनुष्य आपत्ति को लांघ कर अवश्य संपत्ति प्राप्त करता है । राजा ने कहा—देवशर्मा ! जब जैसा अनुरूप-उपयुक्त था, वैसा पुरुषार्थ मैंने नही छोड़ा। अब मैंने भावात्मक दृष्टि से प्रव्रज्या स्वीकार करली है । इसलिए मेरे चित्त मे संपत्ति की अभिलाषा नहीं है । मैंने उचित समय जान कह अनशन स्वीकार किया है । इसलिए आहार ग्रहण नही कर सकता । उसने कहा - यदि आप आहार ग्रहण नही करेंगे तो आपका पुत्र आप पर क्रोध करेगा । राजा ने कहा—उसके क्रोध करने का कोई कारण नही है । तपस्वी सत्य-प्रतिज्ञ होते हैं । उसने कहा—राजन् ! कुमार के चरित्र-आचरण (व्यवहार) का हाल आप जानते ही है; इसलिए आप इस ओर प्रमाद-लापरवाही न करें ।

इस बीच देवशर्मा के वापिस आने में विलम्ब होने पर आनन्द अत्यन्त क्रुद्ध होता हुआ तलवार लिए वहा आया । उसने राजा से कहा—यदि तुम भोजन ग्रहण नही करोगे, तो यमराज की जीभ का अनुसरण करने वाली (यमजिह्वा के सदृश) इस तलवार से तुम्हारा शिर काट डालूंगा । राजा ने कहा—

आत्मा का देह मे आवास (निवास) केवल मरण तक है, अत वह अनित्य है, असार है । यह जानते हुए हे नरश्रेष्ठ ! जो अवश्य गन्तव्य (जाने योग्य है) हैं, वहां जाते हुए मृत्यु से कौन डरे ?

जिस प्रकार प्रत्येक लहर के साथ जल के घटते-घटते तालाव सूखता जाता है, उसी प्रकार प्रति समय प्राणी गर्भ से लेकर आगे मरता जाता है (आयु भोग करता हुआ मृत्यु की ओर वढता जाता है) उसे, वह जी रहा है, ऐसा कैसे कहा जाए ?

एक साथ परलोक की ओर रवाना हुए साथियो मे यदि कोई यहां पहले चला जाता है तो इसमे डरने की क्या वात है ?

जीवन अनित्य है, मरना अवश्य है, जिसके मन मे ऐसा निश्चय है बूचडखाने के पशु की तरह वह जीवन की क्या आशा करे ?

दु ख की बात है, प्रात काल-रूपी शिकारी वृद्धावस्था-रूपी धनुष को हाथ मे लिये सैकडों रोग-रूपी वाणो का प्रहार कर मनुष्य-रूपी मृग-समूह का वध करता हुआ आ रहा है ।

मृगो मे सिंह की तरह मृत्यु मनुष्यो के समूह मे स्वच्छन्दभाव से सुखपूर्वक विचरण करती है । न वह किसी का अवरोध गिनती है और न विरोध ही तथा न चिर अनुकूलता से ही वह प्रसन्न होती है ।

कई ऐसे मनुष्य हैं, जो वार-वार जन्मने और मरने का दु ख पाते जाते हैं, इस पर कुछ गौर नही करते, पर जो जन्म और मृत्यु से सन्तप्त हैं (उन्हे झेलने मे सन्ताप अनुभव करते हैं), वे ससार—जन्म-मरण रूपी रोग को मिटाने वाले (जिन-वचन) का अनुसरण करते हैं ।

वृद्धावस्था, मृत्यु और रोग को मिटाने वाले, अमृतमय, परिणाम मे सुखप्रद जिन-वचन रूपी रसायन— दिव्य औषध को प्राप्त कर मैं मृत्यु से भयभीत नही हूँ ।

जिन्होने पापरूपी मल त्याग दिया है जिन्होने लोभ की साकलों के वन्धन तोड़ दिये हैं, मृत्यु, जिसका इस प्रकार (सहज ही स्वय) प्रतिकार हो गया है, उन मनुष्यो का क्या विगाड सकती है ?

जिन्होने तप रूपी धन का अर्जन किया है, शरीर रूपी घर मे भी जिनकी पिपासा— आकाक्षा या लालसा मिट गई है, जिन्होने तपश्चर्या से शरीर को सुखा दिया है, ऐसे सत्कर्म-निरत जनो का मरण भी उत्तम है ।

जिन्होने तपरूपी पाथेय (पथ का भोजन, सम्वल) भलीभाति ग्रहण कर लिया है, नियमपूर्वक आत्मा को स्थिर-शात वना लिया है, ऐसे धीर एवं आत्मवली पुरुष स्वय मृत्यु से भय-भ्रात नही होते ।

जिसको मरने पर स्वर्ग या मोक्ष— इन दोनो मे एक अवश्य ही मिलता है, हे नरश्रेष्ठ ! उस मनुष्य का मरण भी उत्सव रूप है ।

जिसकी डाढें निरन्तर पीडा देने वाले रोगों से उद्दीप्त हैं तथा जो (डाढें) विपत्ति रूपी विष मे परिपूर्ण हैं, ऐसे यमराज रूपी काले

साप के बच्चे से कोई मनुष्य कहा जाकर छूट सकता है ?

यमराज रूपी हाथी के समक्ष न युद्ध का, न पलायन (भागने का और न भय का ही कोई मूल्य है, उसका हाथ दिखाई नही दे है पर इतनी मजबूती से पकड़ता है कि उससे छुटकारा नही हो सकता

जिस प्रकार किसान पक जाने पर समय पर धान्य काट ले है, उसी प्रकार यमराज उत्पन्न होने वाले प्राणियों को काटता जा है— समाप्त करता जाता है ।

जिन्हे न बुढापा आता है और न कोई रोग या व्याधि होती है, उन देवताओ मे भी यदि मौत के फन्दे स्वतन्त्रता और सु पूर्वक घूमते हैं तो फिर यदि व्याधि, वृद्धावस्था, रोग और शोक नित्य पीडित मनुष्य क्षण भर भी जीता है तो यह मृत्यु का प्रम (लापरवाही) ही है ।

इसलिए धैर्य-हीन लोगो द्वारा सेवित प्राप्त अपयश को मौ मत दो (मुझे मार कर अपयश-भागी मत बनो) । मौत की डाढ़ पहुचे हुए प्राणी को इन्द्र भी वहा से निकाल नही सकता ।

बेटा ! मरे हुए को मार कर अपने कुल को कलकित म करो । ओह ! स्वय अपनी वाणी द्वारा त्याग किये गये आहार क कैसे ग्रहण करू ?

यह वचन सुन कर राजकुमार ने, जिसकी आंखे क्रोध क आग से जल रही थी, "आज भी यह ऐसा बोलता है", यो कहते हु राजा के शिर पर तलवार का प्रहार किया ।

तत्त्वज्ञ राजा जिनेश्वर देवो को नमस्कार कर विशुद्ध भाव यो चिन्तन करने लगा—पहले किये हुए कर्मों का यह दोप है ।

सभी पहले किये हुऐ कर्मो का फल प्राप्त करते हैं । अपरा मे— बुरा करने मे, गुणो मे - भला करने मे दूसरा तो केवल निमि होता है ।

वह कालुष्य-रहित - शुद्ध चित्त वाला सत्पुरुष (सिह राजा यों चिन्तन कर ही रहा था कि उस कलुषित एव पापकारी (आनन्द ने पुन प्रहार कर उसे मार गिराया ।

सिंह मर कर सनत्कुमार—तीसरे देवलोक मे लीलाराम विमान मे पाच सागरोपम आयु वाले कान्तिमान् देव के रूप में उत्पन्न हुआ।

दूसरा—आनन्द भी राज्य करके मरने पर रत्नप्रभा नामक नरकभूमि मे उत्कृष्ट आयुवाले, अत्यन्त घोर नारक के रूप में उत्पन्न हुआ।

(दूसरा भव समाप्त हुआ)



शुद्धि-पत्र

(मूलपाठ एवं संस्कृत रूपान्तर)

पृष्ठ	पक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
४	११	धाउवायइ	धाउवायाइ
६	८	भाविमई	भावियमई
७	१०	सप्राप्त्यैं	सप्राप्त्या:
९	६	समरा	समरा
१०	१	पडढपलिय	सड्ढपलिय
१०	४	कहज्जइ	कहिज्जइ
१२	४	कोईल	कोइल
१३	१७	बिलमात्रकणसंज्ञ	बिलमात्रकर्णसज्ञ
१४	१	हुतहुयवह	हुयवह
१४	१२	एणिहं	एण्हिं
१५	२२	मूहूर्तें	मुहूर्तं
१६	३	पमाणसगय	पमाणसगय
१७	२	नासाया	नासाया
१८	२१	रुण्ढन्त	रुण्टन्त
२१	२४	गत	गत:
२२	१७	सकज्ज	अकज्ज
२३	६	शणु	शृणु
२३	८	मध्यमप्रकृतव	मध्यमप्रकृतय
२३	१२	त्रलोक्य	त्रैलोक्य
२७	४	कृत	कृत
२७	२८	भणितम	भणितम्

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
३०	७	कचिवेल	कचिवेल
३०	१६	विसमकुरिया	विसमफुरिया
३१	६	तपस्विजन	तपस्विजनं
३२	३	मुहुत्त	मुहुत्त
३२	२८	सतप्पुसु	संतप्पसु
३३	३	मुहूतम	मुहूर्तम्
३३	१२	अहमभिप्रेयेऽपि	अहमभिप्रेतेऽपि
३४	२७	सविसेसपसाहिस	सविसेसपसाहियस
३६	३१	येयस्स	एयस्स
३८	४	चिन्तिउभारद्धो	चिन्तिउमारद्धो
४०	१८	समुरियं	सुमरिय
४३	२६	गिरिणदी	गिरिनदी
४६	१५	विविहकयट्ट .	विविहकयहट्ट..
४७	१४	उच्छितवि	उच्छ्रितवि
४८	१८	तुमज्जाण	तमुज्जाण
४९	१६	फल	फलं
५४	२३	समीत्र	समीव
५७	२५	दोर्भाग्य	दौर्भाग्य
५८	३	परिवालीऊण	परिवालिऊण
५९	११	उसत्स्यत्	उत्पत्स्यत
५९	१६	उत्पत्स्यत ?	उत्पत्स्यत ?
६०	५	विप्पुमुक्का	विप्पमुक्का
६०	१७	वरणिज्ज	वरणिज्जं
६१	८	च्छितस्य	च्छितस्य
६२	१२	सवेय	सवेय
६५	६	दाना .	दान.

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
६७	१४	र्प्य	र्प्यं
६७	१८	हृण	हृण
६९	७	दशन	दर्शन
६९	१०	भणित	भणित
६९	१२	तत	तत्
६९	२२	सस्थि	संस्थि
७१	२०	रुपाम	रूपाम्
७२	२४	चिच्च	च्चिय
७[illegible]	२	जण ...	जिण ..
७५	१३	मनोहरणि	मनोहराणि
७५	२०	शीघ्रन्	शीघ्र
७६	७	भङ्ग	भड्गु
७६	२२	झणिय	जणिय
७७	४	मूहूर्त	मुहूर्त
७७	१९	वैंदूर्य	वैडूर्य
७८	१	गुणसेण	गुणसेन
७८	१०	मुत्ताहहल	मुत्ताहल
८०	१९	पणाइण	पणाईण
८२	१३	दट्ठण	दट्ठूण
८३	८	सस्थिता	संस्थिता
८३	१९	स्वमिनी	स्वामिनी
८४	१२	कलिय	कीलिय
८४	१६	समाणिउ	समाणिउं
८५	२०	चाङ्गराग	चाङ्गरागं
८६	२	जपिरवाय	जपिरवाय
८६	९	वरसणीय	वरसयणीय

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
८६	२२	चिन्तित	चिन्तित
९०	१२	यणाण	याणाण
९०	१६	सोहारसपा	सोहासपा
९१	२५	प्रकार	प्रकर
९२	५	वयस	वयस
९३	२५	ततस्त्मेव	व्रतस्त्वमेव
९४	८	कय	कय
९४	१२	कालिऊण	कलिऊण
९७	४	वेश्रा	वेश्या
१०३	२	प्राविजृ	प्रविजृ
१०४	६	माइय	माइय
१०४	६	भण्ड	भण्ड
१०४	१३	हवन्ताण	हवन्ताण
१०५	१०	दत्त	दत्त
१०५	१३	श्लाघनीय	श्लाघनीय
१०६	३	सवेगड्डणो	सवेगवड्डणो
१०६	५	पडमं	पढम
१०७	२	कि	कि
१०७	६	सनार	ससार
१०८	५	उनमियम	ऊससियम
१०८	२४	सठविओ	सठविओ
१०९	५	मज्झै	मज्झै
११२	१२	अम्हाण	अम्हाणं
११२	१३	नपहारिऊण	नपहारिऊण
११२	२६	पड्डा	पड्डा
११३	६	लङ्कुर्वन	लंकुर्वन्

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
११४	२	छलिउ	छलिउ
११४	३	रित्थ	रित्थ
११४	१३	निवेइय	निवेइय
११५	३	गृह	गृह
११५	३	रिक्थ	रिक्थं
११६	१४	नीणिय	नीणिय
११७	१६	क्तः	कुतः
११७	२८	तः	तै
११७	२८	पत्रकार्थ	पत्रकार्थं
१२०	१६	अणिओ	आणिओ
१२२	१०	वन्धणाट्ठिई	वन्धणाट्ठिई
१२३	१	कित्रम	किमत्र
१२३	१४	शेवित	सेवित
१२३	२४	प्रतिण्ठाविते	प्रतिष्ठापिते
१२४	६	नवर	नवर
१२५	६	नवर	नवरं
१२८	१	सतप्पियव	सतप्पियंव
१२९	१०	ततस्त	ततस्त
१३०	१७	कुसुलपक्खे	कुसलपक्खे
१३३	२२	र्णोऽह	णोऽह
१३५	११	मह्यम	मह्यम्
१३८	९	नवर	नवर
१३९	४	सुखम	सुखम्
१३९	९	नवर	नवर
१३९	१७	महाटवीम	महाटवीम्
१४२	२२	भङ्गुर	भङ्गुर

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
१४३	२१	भवन्त	भवन्त
१४५	५	पुनर्दिविधम्	पुनर्द्विविधम्
१४५	५	न्तरञ्च	न्तरश्च
१४६	१	अभितेय	अमितेय
१४८	१६	असपाय	असंपाय
१४८	२०	युक्त	युक्त
१५०	६	किमेय	किमेय
१५२	५	त चेव एव विह	त चेव एवविह
१५२	१३	जमिणीए	जामिणीए
१५३	२३	वसगौ	वसगो
१५४	६	मेवमेयं	थेवमेय
१५४	१६	उभ लोय	उभय लोय
१५५	२३	राज्याभिपक	राज्याभिपेक
१५६	१४	भवण	भवण
१५६	३	सहोदरव	सहोदरमिव
१५६	६	कन्दभेरव	क्रन्दभेरव
१६१	८	नानूकूलो	नानुकूलो
१६३	२०	उत्सवभू त	उत्सवभूत

**